

# मनु का दण्ड-विधान

लेखक :

डॉ० हर्षवर्धन सिंह तोमर

(एम०ए०, एलएल० बी०, पीएच० डी०)

संपादक :

अभिषेक कुमार मिश्र

(बी० एससी०, एलएल० एम०, जे०आर०एफ०)



प्रकाशन-विभाग

अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना

नयी दिल्ली-110 055

This research work  
'MANU KĀ DANḌA VIDHĀNA'  
(by Dr. Harshvardhan Singh Tomar),  
is submitted to Barkatulla University, Bhopal in 2011;  
with assistance of fellowship by Madhav Sanskriti Nyas, Delhi

*Published by:*

**PUBLICATIONS DEPARTMENT**

**Akhila Bhāratiya Itihāsa Saṅkalana Yojanā**

Baba Sahib Apte Smriti Bhawan, 'Keshav Kunj',

Jhandewalan, New Delhi-110 055

**Ph.:** 011-23675667

**e-mail:** abisy84@gmail.com

**Visit us at :** www.itihassankalan.org

© Copyright : Publisher

**First Edition :** Kaliyugābda 5115, i.e. 2014 CE

**Laser Typesetting & Cover Design by:**

Gunjan Aggrawala

**Printed at:** Graphic World, 1659 Dakhnisarai Street,

Dariyaganj, New Delhi-110055

**ISBN : 978-93-82424-09-3**

**Price:** ₹ 700/- (Hardcover)

₹ 300/- (Paperback)

वर्ष 2011 में बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल के अधीन पूरा किया गया  
शोध-कार्य; शोध-वृत्ति के रूप में सहयोग : माधव संस्कृति न्यास, दिल्ली

**प्रकाशक :**

**प्रकाशन-विभाग**

**अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना**

बाबा साहेब आपटे-स्मृति भवन, 'केशव कुव',

झण्डेवालान, नयी दिल्ली-110 055

**दूरभाष :** 011-23675667

**ई-मेल :** abisy84@gmail.com

**वेबसाइट :** www.itihassankalan.org

© सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

**प्रथम संस्करण :** कलियुगाब्द 5115, सन् 2014 ईउ

**लेज़र टाईपसेटिंग एवं आवरण-सज्जा :** गुंजन अग्रवाल

**मुद्रक :** ग्राफ़िक वर्ल्ड, 1659, दखनीराय स्ट्रीट, दरियागंज,

नयी दिल्ली-110 002

# भूमिका

# वे

द सनातन हिंदू-धर्म के मूल और विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं जिन्हें 'अपौरुषेय' (ईश्वर की वाणी) समझा जाता है। ये वे ग्रंथ हैं जिनके मंत्र आज भी इस्तेमाल किए जाते हैं। तैत्तिरीयब्राह्मण में वेद को अनन्त ज्ञान का भण्डार कहा गया है— 'अनन्ताः वै वेदाः' तो मनुस्मृति में समस्त ज्ञान का भण्डार कहा गया है— 'सर्वज्ञानमयो हि सः'<sup>1</sup>।

वेद के 4 विभाग हैं— 1. ऋग्वेद, 2. यजुर्वेद, 3. सामवेद और 4. अथर्ववेद। पुनः, इनमें प्रत्येक की मंत्रसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् में वेद की अक्षरराशि विभक्त है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की 109 शाखाएँ थीं, जिनमें मात्र 12 और 14 उपशाखाएँ ही उपलब्ध हैं। महर्षि पतञ्जलि ने अपने व्याकरणमहाभाष्य में यजुर्वेद की 101 शाखाओं का उल्लेख किया है— 'एकशतमध्वर्युशाखाः'<sup>2</sup>। महर्षि कात्यायन ने ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी वेद माना

है। उपनिषद् भी वेदांत होने से स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। जिस प्रकार भगवद्गीता, महाभारत का एक भाग है, उसी प्रकार उपनिषद् भी वेद, वेद की शाखाओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों या आरण्यकों के विशेष भाग ही हैं। ऋषियों ने आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं स्थापत्यवेद— इन उपवेदों; 1. शिक्षा, 2. कल्प (धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र और शुल्बसूत्र), 3. व्याकरण, 4. ज्योतिष एवं गणित, 5. छंद और 6. निरुक्त— इन षड्वेदांगों एवं 1. धर्मशास्त्र (अष्टादश स्मृतियाँ एवं अष्टादश उपस्मृतियाँ), 2. पुराणेतिहास (18 महापुराण, 18 उपपुराण, 18 औपपुराण, 18 पुराण, वाल्मीकीयरामायण, योगवासिष्ठ, अध्यात्मरामायण, महाभारत आदि) एवं 3. षड्दर्शन— इन उपांगों द्वारा वेद-वाङ्मय को अलंकृत किया है।<sup>3</sup> सनातन हिंदू-धर्म की या भारतवर्ष की यह सम्पूर्ण ज्ञान-राशि वैदिक है, इसलिए अनादि है, अपौरुषेय है।

## वैदिक वाङ्मय में मनुस्मृति का स्थान :

वेद के उपांग-ग्रन्थों में परिगणित स्मृतियाँ अष्टादश पुराणों की तरह यद्यपि अष्टादश की ही संख्या में मानी जाती हैं, तथापि उनके अतिरिक्त उपपुराणों की तरह उपस्मृतियों की संख्या अट्ठाइस और छप्पन तक गिनाई जाती हैं।<sup>4</sup> मुख्य स्मृतियाँ ये हैं— 1. मनुस्मृति (मानवधर्मशास्त्र), 2. याज्ञवल्क्यस्मृति, 3. अत्रिस्मृति, 4. विष्णुस्मृति, 5. हारीतस्मृति, 6. आपस्तम्बस्मृति, 7. अंगिरसस्मृति, 8. यमस्मृति, 9. कात्यायनस्मृति, 10. बृहस्पतिस्मृति, 11. पाराशरस्मृति, 12. व्यासस्मृति, 13. दक्षस्मृति, 14. गौतमस्मृति, 15. सम्बर्तस्मृति, 16. शंखस्मृति, 17. औशनसस्मृति और 18. लिखितस्मृति। प्रमुख 18 उपस्मृतियाँ हैं— 1. नारदस्मृति, 2. भृगुस्मृति, 3. आश्वलायनस्मृति, 4. बौधायनस्मृति, 5. भारद्वाजस्मृति, 6. दाल्भ्यस्मृति, 7. देवलस्मृति, 8. काश्यपस्मृति, 9. लोहितस्मृति, 10. माण्डूक्यस्मृति, 11. मार्कण्डेयस्मृति, 12. नारायणस्मृति, 13. प्रजापतिस्मृति, 14. पुलस्त्यस्मृति, 15. ऋष्यशृंगस्मृति, 16. शातातपस्मृति, 17. विश्वामित्रस्मृति और 18. व्याघ्रपादस्मृति। इन सभी स्मृतियों में मनुस्मृति ही प्रधान मानी जाती है और उसी की सहानुभूति से अन्यान्य स्मृतियाँ प्रामाणिक मानी जाती हैं।<sup>5</sup> इसके

1. तैत्तिरीयब्राह्मण, 3.10.11.46

2. मनुस्मृति, 2.6

3. व्याकरणमहाभाष्य, 6. सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम्

1. जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी राघवाचार्य, कल्याण, वर्ष 40, अंक 1, जनवरी 1966, 'धर्मांक', पृ 19

2. हिंदुत्व, रामदास गौड़, ज्ञानमण्डल लि, वाराणसी, 1938, पृ 449

3. मनुस्मृति अर्थात् मानवधर्मशास्त्र, लखनऊ, 1917 ई, पृ 121

बारे में आचार्य बृहस्पति ने तो यहाँ तक कहा है कि मनु से विरुद्ध जो कोई स्मृति है, उसका प्रमाण ही नहीं है—

‘वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्रामाण्यं हि मनोः स्मृतम् ।  
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥  
तावच्छ्लाणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च ।  
धर्मार्थमोक्षोपदेता मनुयावन्न दृश्यते ॥’

अर्थात्, वेदार्थों के अनुसार रचित होने के कारण सभी स्मृतियों में मनुस्मृति ही सबसे प्रधान एवं प्रशंसनीय है। जो स्मृति मनु के विपरीत है, वह प्रशंसा के योग्य अथवा ग्राह्य नहीं है। तर्कशास्त्र, व्याकरणादि शास्त्रों की शोभा तभी तक है, जब तक धर्म, अर्थ, मोक्ष का उपदेश देनेवाला मनु नहीं होता अर्थात् मनु के उपदेशों के समक्ष सभी शास्त्र निष्तेज, प्रभावहीन प्रतीत होते हैं।

महाभारत में कहा गया है कि मनु के वचनों को कुतर्कादि के द्वारा नहीं काटा जा सकता—

‘पुराणं मानवो धर्मः सांगोपांगचिकित्सकः ।  
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥’

**मनुस्मृति के रचयिता और ग्रन्थ की प्राचीनता :**

सनातन भारतीय परम्परा में मनुस्मृति (जो ‘मानवधर्मशास्त्र’, ‘मनुसंहिता’ आदि नामों से प्रसिद्ध है) को प्राचीनतम स्मृति एवं प्रमाणभूत शास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त है। परम्परानुसार यह स्मृति मानवजाति के प्रथम प्रजापति स्वायम्भुव मनु द्वारा रचित है, वैवस्वत मनु या प्राचेतस मनु द्वारा नहीं। ब्रह्मा के एक कल्प में 14 मनु पृथिवी का शासन करते हैं और वर्तमान में 7वें मनु वैवस्वत का काल चल रहा है। मनुस्मृति के रचयिता प्रथम मनु स्वायम्भुव माने जाते हैं जिनका काल आज से 1,97,29,49,115 वर्ष पूर्व का है।

मनुस्मृति से पता चलता है कि स्वायम्भुव मनु के मूल शास्त्र का आश्रय लेकर भृगु ने उस शास्त्र का उपबृंहण किया था जो प्रचलित मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है। इसलिए मनुस्मृति के प्रत्येक अध्याय के अन्त में ‘भृगोप्रोक्तायां

संहितायां’— ऐसा लेख प्राप्त होता है, जिसे देखकर सन्देह होता है कि यह मनुस्मृति साक्षात् मनु की निर्मित न होगी। उसका यह तात्पर्य है कि जैसे वेदव्यास ने भगवान् श्रीकृष्ण-अर्जुन के संवाद को सात सौ श्लोकों में यथार्थ संकलित किया और उसका नाम ‘भगवद्गीता’ हुआ, वह भगवान् श्रीकृष्ण की साक्षात् उक्ति होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण की ही बनाई मानी गई, इसी प्रकार भगवान् मनु से सारे धर्मों को महर्षि भृगु ने पढ़कर मनु की ही आज्ञा से ऋषियों को पढ़वाया और उसे लोकोपकार के लिए श्लोकबद्ध कर दिया, वही स्मृति ‘मनुस्मृति’ नाम से लोक में विख्यात हुई।<sup>1</sup> और मनु से साक्षात् अथवा शिष्य-परम्परा द्वारा समय-समय पर अन्यान्य ऋषियों को जो धर्म ज्ञात हुए, उनका उल्लेख भी मनु के नाम से अन्य स्मृतियों में आया करता है, जैसा कि पाराशरस्मृति में आया है—

‘अग्निरापश्च वेदाश्च सोमसूर्यानिलास्तथा ।  
सर्वैवतु विप्रस्यश्रोत्रे ति न्ति दक्षिणे ॥  
प्रभासादीनि तीर्थानि गंगाद्याः सरितस्तथा ।  
विप्रस्यदक्षिणे कर्णे सन्तीति मनुरब्रवीत् ॥’<sup>2</sup>  
‘मनुना चैवमेकेन सर्वशास्त्राणि जानता ।  
प्रायश्चित्तं तु तेनोक्तं गोघ्नश्चान्द्रायणं चरेत् ॥’<sup>3</sup>

**भारतीय ग्रन्थों पर मनुस्मृति का प्रभाव**

ऋग्वेद<sup>4</sup> में मनु को ‘मनुष्यिता’ और सायणाचार्य (14वीं शती) द्वारा ‘सर्वासां प्रजानां पितृभूतो मनुः’ कहकर मनु को मनुष्यमात्र का पिता बताया गया है। शतपथब्राह्मण में इन्हीं मनु के प्रसंग में मत्स्यावतार की कथा कही गई है और ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है कि मनु ने अपने पुत्रों में सम्पत्ति का विभाग किया। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी, ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में मनु का

1. बृहस्पतिस्मृति, संस्कारखण्ड, 13-14

1. मनुस्मृति अर्थात् मानवधर्मशास्त्र, लखनऊ, 1917 ई , पृ 123; मनुस्मृति, 1.58-60, 119  
2. पाराशरस्मृति, 12.20-21 (महर्षि-संस्करण)  
3. वही, 9.51-52 (महर्षि-संस्करण)  
4. ऋग्वेद, 1.80.16

उल्लेख होना और ‘मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः’<sup>1</sup> अर्थात् मनु ने जो कुछ कहा है, वह सब औषध के तुल्य ग्राह्य है, आदि वचनों का प्राप्त होना *मनुस्मृति* को प्राचीनतम और विशिष्ट धर्मशास्त्र सिद्ध करता है। महर्षि यास्काचार्य ने *निरुक्त* में पुत्र-पुत्री के समान दायभाग और पृथिवी के समान अधिकार के विषय में किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करके मनु के मत का उल्लेख किया है।<sup>2</sup> निघण्टु में ‘मनु’ शब्द का पाठ द्युस्थान अर्थात् देवगणों में है और *शुक्लयजुर्वेद* में मनु को प्रजापति बताया गया है। प्रो. रामदास गौड़ (1881-1937) ने उल्लेख किया है कि प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ *मानवधर्मशास्त्र* के वर्णन आए हैं, वे सूत्ररूप में हैं और प्रचलित *मनुस्मृति* के श्लोकों से नहीं मिलते। वह सूत्राकार मानवधर्मशास्त्र अभी तक देखने में नहीं आया। वर्तमान *मनुस्मृति*, जो भृगु-मनु के संवाद के रूप में मिलती है, शायद उन्हीं मूलसूत्रों के आधार पर लिखी गई कारिकाएँ हैं।<sup>3</sup>

*वाल्मीकीयरामायण* एवं *महाभारत* में *मनुस्मृति* के बहुत से श्लोक मिलते हैं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। आचार्य कौटिल्य (16वीं शताब्दी ई पू ) ने अपने *अर्थशास्त्र* में बहुत से स्थलों पर *मनुस्मृति* को आधार बनाया है और कई स्थलों पर मनु के मतों का उल्लेख किया है।<sup>4</sup> जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य (509-477 ई पू ) ने *ब्रह्मसूत्रभाष्य* में *मनुस्मृति* के पर्याप्त उद्धरण दिए हैं।<sup>5</sup> कुमारिल भट्ट ने *तन्त्रवार्तिक* में *मनुस्मृति* को सभी स्मृतियों से और *गौतमधर्मसूत्र* से भी प्राचीन कहा है। जैमिनिसूत्रों के महान् भाष्यकार शबरस्वामी (प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई ) ने अपने भाष्य में मनु के अनेक वचनों का उल्लेख किया है। बौद्ध महाकवि अश्वघोष (50-100 ई ) ने अपने ग्रन्थ *वज्रकोपनिषद्* में अपने पक्ष के समर्थन में मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है। *याज्ञवल्क्यस्मृति* के व्याख्याकार विश्वरूप ने *याज्ञवल्क्यस्मृतिभाष्य* में *मनुस्मृति* के 12वें अध्याय के लगभग दो सौ श्लोकों को उद्धृत किया है। *याज्ञवल्क्यस्मृति* के एक अन्य

भाष्यकार विज्ञानेश्वर ने *याज्ञवल्क्यस्मृति* के श्लोकों की पुष्टि के लिए *मनुस्मृति* के श्लोकों को पर्याप्त संख्या में उद्धृत किया है।<sup>6</sup> गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब, आश्वलायन, जैमिनि, बोधायन आदि के सूत्रग्रन्थों में मनु का आदर के साथ उल्लेख है। आचार्य बृहस्पति ने *मनुस्मृति* की भूरि-भूरि प्रशंसा की है जिसका उल्लेख हम पूर्व में ही कर चुके हैं। अपरार्क एवं कुल्लूक ने *भविष्यमहापुराण* द्वारा उद्धृत *मनुस्मृति* की चर्चा की है। इनके अतिरिक्त भी बहुत सारे ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थों की प्रामाणिकता और गौरव बढ़ाने के लिए अथवा मनु के मत को मान्य मानकर उद्धृत किया है।<sup>7</sup> वल्लभी (सौराष्ट्र) के राजा धारसेन द्वितीय (570-606) के 571 ई के एक शिलालेख में राजा धारसेन को मनु के धर्मनियमों का पालनकर्ता कहकर उसकी विशेषता बताई गई है। मुगल-सम्राट् शाहजहाँ (1628-1658) के पुत्र दारा शिकोह (1615-1659) ने मनु को वह प्रथम मानव कहा है जिसे यहूदी, ईसाई, मुसलमान ‘आदम’ कहकर पुकारते हैं। सिखों के दशम गुरु श्री गुरु गोविन्द सिंह (1666-1708) ने अपने ‘*दशमग्रन्थ*’ में मनु का मुक्तकण्ठ से गुणगान किया है।<sup>8</sup> 19वीं शती में *मनुस्मृति* को सर्वाधिक महत्त्व आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883) ने दिया। उन्होंने वेद के बाद केवल *मनुस्मृति* को आर्ष एवं प्रामाणिक धर्मशास्त्र घोषित किया और उसे अपने मंतव्यों का आधार बनाया। उन्होंने अपने ग्रन्थों में *मनुस्मृति* के लगभग 514 श्लोकों या श्लोकखण्डों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। उनके पश्चात् श्रीअरविन्द (1872-1950) ने मनु को ‘अर्धदेव’ के रूप में सम्मान दिया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861-1941), डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888-1975) आदि विद्वानों ने मनु को आद्य ‘लॉ गिवर’ के रूप में उल्लिखित किया है।<sup>9</sup>

### महाभारत एवं वाल्मीकीयरामायण में मनुस्मृति के श्लोक :

*मनुस्मृति* के कई श्लोक *वाल्मीकीयरामायण* एवं *महाभारत* में भी पाए जाते हैं जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। यह सर्वविदित है कि हिंदू-पौराणिक

1. *तैत्तिरीयसंहिता*, 2.1.10.2; *ताण्ड्यब्राह्मण*, 23.16.7
2. *निरुक्त*, 3.4; मनु का यह समानाधिकार-संबंधी मत *मनुस्मृति* के 9.130, 192, 212 में वर्णित है
3. *हिंदुत्व*, रामदास गौड़, ज्ञानमण्डल लि, वाराणसी, 1938, पृ 449
4. *अर्थशास्त्र*, 1.1; 10.14
5. *ब्रह्मसूत्रभाष्य*, 1.3.28, 36; 2.1.1, 11; 3.1.14; 3.4.38; 4.2.6

1. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 1.7, 53, 62, 68, 72, 79, 80ऋ 2.1, 2, 5, 21, 26 इत्यादि
2. *स्मृतिचन्द्रिका*, *निर्णयसिंधु*, *संस्कारमयूख* आदि
3. *मनु का विरोध क्यों?*, पृ 5
4. *वही*, पृ 5

कालगणनानुसार महाभारत का युद्ध 3139-’38 ई पू हुआ था और उसके 62 वर्ष बाद 3076-’73 ई पू में महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास जी ने महाभारत ग्रन्थ की रचना की थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि महाभारत आज से लगभग 3076+2014=5,090 वर्ष पूर्व की रचना है। इसमें मनुस्मृति के श्लोक व मनु महाराज की प्रतिष्ठा अनेक स्थानों पर आई है—

‘मनुनाभिहितमं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन’<sup>1</sup>

‘तैरेवमुक्तो भगवान् मनुः स्वयम्भूवोऽब्रवीत्’<sup>2</sup>

‘एष दायविधिः पार्थ पूर्वमुक्तः स्वयम्भुवा’<sup>3</sup>

‘सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्’<sup>4</sup>

इतना ही नहीं, वेदव्यास जी ने महाभारत में केवल मनु का नाम ही नहीं लिया, अपितु मनुस्मृति के कई श्लोकों को महाभारत में यथावत् उद्धृत भी किया है। मनुस्मृति का यह श्लोक देखें—

‘अद्यभोऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितं ।

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥’<sup>5</sup>

ठीक यही श्लोक महाभारत (शान्तिपर्व, 56.24, गीताप्रेस-संस्करण) में आया है और महाभारत के इस श्लोक से ठीक पहले 23वें श्लोक में आया है—

‘मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना’

अर्थात्, हे राजेन्द्र ! मनु महात्मा ने इन श्लोकों को कहा है।

इसी प्रकार मनुस्मृति के जो-जो श्लोक महाभारत में हैं, हम उनकी श्लोक-संख्या उद्धृत कर रहे हैं—

मनुस्मृति, 11.7 महाभारत, शान्तिपर्व, 165.5 (गी सं )

मनुस्मृति, 11.12 महाभारत, शान्तिपर्व, 165.7 (गी सं )

मनुस्मृति, 11.180 महाभारत, शान्तिपर्व, 165.37 (गी सं )

1. महाभारत, अनुशासनपर्व, 47.35 (गीताप्रेस-संस्करण)

2. वही, शान्तिपर्व, 36.5 (गीताप्रेस-संस्करण)

3. वही, अनुशासनपर्व, 47.58 (गीताप्रेस-संस्करण)

4. वही, शान्तिपर्व, 257.5 (महर्षि-संस्करण)

5. मनुस्मृति, 9.321 (महर्षि-संस्करण)

मनुस्मृति, 6.45 महाभारत, शान्तिपर्व, 245.15 (गी सं )

मनुस्मृति, 2.120 महाभारत, अनुशासनपर्व, 104.64-65 (गी सं )

महाभारत में ऐसे भी कई श्लोक हैं जो मनुस्मृति के हैं, किन्तु कुछ परिवर्तन के साथ आए हैं—

‘यथा को मयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।

यश्च विप्रोऽनधीयाज्यते नाम बिभ्रति ॥’<sup>1</sup>

इससे मिलता-जुलता श्लोक महाभारत में देखें—

‘यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।

ब्राह्मणश्चानधियास्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥’<sup>2</sup>

मनुस्मृति के आरम्भिक अंग्रेजी-अनुवादक जॉर्ज बूहलर (1837-1898) ने महाभारत के शान्तिपर्व, अनुशासनपर्व और वनपर्व के साथ मनुस्मृति की तुलना करके यह बताया था कि दोनों के लगभग 250 श्लोक समान हैं और यह संख्या उपलब्ध मनुस्मृति का दसवाँ भाग है।<sup>3</sup> कुछ उदाहरण निम्नवत् हैं—

मनुस्मृति, 11.4 महाभारत, शान्तिपर्व, 165.4 (गी सं )

मनुस्मृति, 11.12 महाभारत, शान्तिपर्व, 165.7 (गी सं )

मनुस्मृति, 11.37 महाभारत, शान्तिपर्व, 165.22 (गी सं )

मनुस्मृति, 8.372 महाभारत, शान्तिपर्व, 165.65 (गी सं )

मनुस्मृति, 2.231 महाभारत, शान्तिपर्व, 108.7 (गी सं )

मनुस्मृति, 9.3 महाभारत, अनुशासनपर्व, 46.14 (गी सं )

मनुस्मृति, 3.55 महाभारत, अनुशासनपर्व, 46.3 (गी सं )

इसका तात्पर्य यही हुआ कि महाभारत के रचनाकाल (3076-’73 ई पू ) में मनुस्मृति श्लोकबद्धावस्था में विद्यमान थी और उसके श्लोक उद्धृत किए जाते थे। इससे मनुस्मृति का रचनाकाल 5,100 वर्ष से पहले जाता है।

महाभारत से भी बहुत पहले का ग्रन्थ वाल्मीकीयरामायण है जिसे

1. मनुस्मृति, 2.157 (महर्षि-संस्करण)

2. महाभारत, शान्तिपर्व, 36.47 (गीताप्रेस-संस्करण)

3. ‘मनु’, कला और संस्कृति, वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य भवन प्र. लि. , इलाहाबाद, 2003, पृ 54



लौकिक संस्कृत का आदिकाव्य और महर्षि वाल्मीकि को 'आदिकवि' कहा जाता है। इसमें भी *मनुस्मृति* के श्लोक व मनु महाराज की प्रतिष्ठा आई है, किन्तु *मनुस्मृति* में वाल्मीकि, श्रीराम आदि का नाम भी नहीं है। *वाल्मीकीयरामायण* के किष्किन्धाकाण्ड में जब श्रीराम अत्याचारी बाली को घायलकर उसके आक्षेपों के उत्तर में अन्यान्य कथनों के साथ-साथ यह भी कहते हैं कि तू अपने छोटे भाई सुग्रीव की स्त्री का बलात् अपहरणकर और उसे अपनी स्त्री बना 'अनुजभार्याभिमर्श' का दोषी बन चुका है, जिसके लिए (धर्मशास्त्र में) दण्ड की आज्ञा है। इस पृथिवी के महाराज भरत हैं (अतः तू भी उनकी प्रजा है), मैं उनकी आज्ञा पालन करता हुआ विचरता हूँ, फिर मैं तुझे यथोचित दण्ड कैसे न देता? जैसे—

‘श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।  
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥”

इस श्लोक में मनु का नाम आया है और श्लोक 31 व 32 भी मनुस्मृति के ही हैं—

‘राजभिः<sup>1</sup>र्धृत दण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।  
निर्मलाः स्वर्गमायन्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥”<sup>2</sup>  
‘राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।  
निर्मलाः स्वर्गमायन्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥”<sup>3</sup>

‘शसनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।  
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥”<sup>4</sup>  
‘शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।  
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥”<sup>5</sup>

यद्यपि उपर्युक्त श्लोकद्वय में किञ्चित् पाठभेद अवश्य है, तथापि अर्थ में

1. *वाल्मीकीयरामायण*, किष्किन्धाकाण्ड, 18.30 (गीताप्रेस-संस्करण)
2. *वही*, किष्किन्धाकाण्ड, 18.31 (गीताप्रेस-संस्करण)
3. *मनुस्मृति*, 8.318 (महर्षि-संस्करण)
4. *वाल्मीकीयरामायण*, किष्किन्धाकाण्ड, 18.32 (गीताप्रेस-संस्करण)
5. *मनुस्मृति*, 8.316 (महर्षि-संस्करण)

कुछ भी भेद नहीं आया है। अतः यह सिद्ध हुआ कि श्लोकबद्ध *मनुस्मृति* रामायणकाल या उससे भी पूर्व विद्यमान थी।

*मनुस्मृति* के आरम्भिक हिंदी-भाषानुवादक पं. गिरिजा प्रसाद द्विवेदी ने पीड़ा व्यक्त की है कि मूल वाक्यों को ढूँढ़ने में बड़ा क्लेश उठाना पड़ता है, तो भी सफलता नहीं प्राप्त होती है। कैसी सुविधा होती यदि धर्मानुरागी प्रेसस्वामी (प्रकाशक) स्मृति-इतिहास-पुराणों की अकारादि अनुक्रमणी भी छपा डालते, उस दशा में थोड़े प्रयास से भी बहुत कुछ सुधार की आशा थी—

‘वेदांगोपांगशास्त्राणां वर्णादिक्रमसूचना ।  
मौलिकैः सह संवादो विद्यशोधनमुच्यते ॥”

सनातन भारतीय परम्परा श्रीराम और *रामायण* को 24वें त्रेतायुग (1,81,49,115 वर्ष पूर्व) में स्वीकार करती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशी-विदेशी विद्वानों ने *रामायण* और श्रीराम का काल निर्धारित करने का प्रयास किया है। प्रो. ठाकुर प्रसाद वर्मा 1.81 करोड़ वर्ष पूर्व<sup>6</sup>; स्वामी करपात्रीजी महाराज 1,77,49,115 वर्ष पूर्व<sup>7</sup>; दुर्गाशंकर भाटी 1,25,58,140 वर्ष पूर्व<sup>8</sup>; बी. सूर्यनारायण राव 1,25,58,115 वर्ष पूर्व; देवकीनन्दन सिंह 1,25,58,115 वर्ष पूर्व; नासा-उपग्रह 17,50,000 वर्ष पूर्व<sup>9</sup>; पुरुषोत्तम नागेश ओक लगभग 10 लाख वर्ष पूर्व<sup>10</sup>; स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती 8,80,115 वर्ष पूर्व<sup>11</sup>; कृष्णदत्त भारद्वाज 8,69,115 वर्ष पूर्व और पं. लेखराम 8,69,115 वर्ष पूर्व<sup>12</sup> मानते हैं।

1. *मनुस्मृति अर्थात् मानवधर्मशास्त्र*, लखनऊ, 1917 ई. पृ. 124
2. ‘श्रीराम और उनका काल’, *मानविकी*, गोरखपुर, अंक 4, संख्या 1, वर्ष प्रतिपदा, अप्रैल 2013, पृ. 166
3. *रामायणमीमांसा*, 1971 ई. पृ. 899
4. ‘विश्लेषण भगवान् श्रीराम की जन्मकुण्डली का’, *हिन्दुस्तान*, 16 अप्रैल, 2005, पृ. 1
5. ‘Hanuman Bridge is Myth: Experts’, *Times of India*, October 19, 2002
6. ‘भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण के युगों की प्राचीनता कम अनुमानित’, *भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें*, 2003 ई. पृ. 253
7. ‘श्रीराम की भगवद्रूपता, भजनीयता, मर्यादापुरुषोत्तमता तथा भगवद्धाम और भगवन्नाम की प्रामाणिकता एवं दार्शनिकता’, *कल्याण*, ‘श्रीरामभक्ति अंक’, वर्ष 68, अंक 1, जनवरी, 1994, पृ. 109
8. *कुलियात आर्य मुसाफिर*, आर्य प्रतिनिधि-सभा, जालन्धर, 1960 ई. , पृ. 103

इन सभी विद्वानों द्वारा किए गए तिथि-निर्धारण के आलोक में *मनुस्मृति* का काल अत्यन्त प्राचीन मानना पड़ेगा।

### विदेशों में मनु और *मनुस्मृति* का प्रभाव :

सनातन हिंदू-संस्कृति मनु को अपना आद्य पिता मानती है। सभी मनुष्य मनु की सन्तानें हैं। इसके कारण आदमी के वाचक जितने भी शब्द हैं, वे 'मनु' शब्द से बने हैं, जैसे— मनुष्य, मनुज, मानव, मानुष इत्यादि। इसीलिए निरुक्तकार ने इनकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है— 'मनो अपत्यम् मनुष्यः', अर्थात्, मनु की सन्तानें होने से हमें मनुष्य कहा जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी 'मानव्यः प्रजाः' कहकर इसी तथ्य को प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए सभी यूरोपीय, ईरानी भाषाओं में मनुष्यवाचक जो शब्द प्रचलित हैं, वे मनुमूलक शब्दों के अपभ्रंश हैं, जैसे— यूनानी और लैटिक में 'माइनोस'; जर्मन में 'मन्न'; स्पेनिश में 'मन्ना', अंग्रेज़ी तथा उसकी बोलियों में 'मैन', 'मेनिस', 'मनेस', 'मनीस' इत्यादि; ईरानी-फ़ारसी में 'नूह' (मनुस् के स् का ह होकर और म का लोप होकर) कहा जाता है। इन देशों के ऐतिहासिक उल्लेखों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।

इसके अतिरिक्त दक्षिण-पूर्व एशिया में *मनुस्मृति* का अत्यन्त प्रचार हुआ है। कम्बोडिया के निवासी स्वयं को मनु की सन्तान ही कहते हैं। वहाँ के राजा उदयवीरवर्मन के 'सदोक काकथोम' से प्राप्त अभिलेख में '*मानवनीतिसार*' ग्रन्थ का उल्लेख है जो *मनुस्मृति* पर आधारित था। 'प्रसत कोपमन' से प्राप्त राजा यशोवर्मन के अभिलेख में *मनुस्मृति* का निम्नलिखित श्लोक प्राप्त होता है—

‘वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥’

राजा जयवर्मन के अभिलेख में मनुसंहिता के विशेषज्ञ एक मंत्री का उल्लेख है। बालिद्वीप में आज भी मनु-व्यवस्था है। उक्त देशों की आचार-संहिताएँ/संविधान *मनुस्मृति* पर ही आधारित थे और आज भी बहुत कुछ हैं। फिलिपीन्स के निवासी मानते हैं कि उनकी आचार-संहिता के निर्माण में भारत के मनु और चीन के लाओत्से (छठी शताब्दी ई. पू.) की स्मृतियों का बहुत योगदान है, इस कारण वहाँ के नेशनल असेम्बली हॉल के द्वार पर इन दोनों की

मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं। मनु की प्रतिमा के नीचे उत्कीर्ण है— 'The first, the greatest and the wisest law-giver of mankind' ('सबसे पहले, सबसे बड़ी और मानवजाति के बुद्धिमान विधिकर्ता')। मयन्मार (बर्मा) का 'धम्मथट्' (धर्मशास्त्र) *मनुस्मृति* से ही प्रेरित प्रतीत होता है। नेपाल का विधि-विधान, आचार, *मनुस्मृति* का ही अनुसरण करता है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रेडरिक नीत्से (1875-1944) ने लिखा— 'The Law-book of Manu is an incomparably greater intellectual work than the Bible.'<sup>1</sup> ('मनु का विधि-ग्रन्थ बाइबल की तुलना में महान् अद्वितीय कृति है')। नीत्से ने यहाँ तक कहा कि 'Put down the Bible and pick up Manusmriti.'<sup>2</sup> ('बाइबल नीचे रखो और मनुस्मृति उठाओ')।

*मनुस्मृति* के काल की जानकारी करानेवाला एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक प्रमाण चीन से मिला है। सन् 1932 में जापान ने बम-विस्फोट द्वारा चीन की दीवार को तोड़ा तो उसमें से लोहे का एक सन्दूक मिला जिसमें चीनी भाषा के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ (पाण्डुलिपियाँ) भरे थे। वे ग्रन्थ सर ऑगस्टस फ्रीट्ज़ जॉर्ज के हाथ लग गए और वे उन्हें लन्दन के ब्रिटिश म्यूज़ियम ले आए। उन पाण्डुलिपियों को प्रो. एंथोनी ग्रीम ने चीनी विद्वानों से पढ़वाया तो जानकारी मिली— चीन के किन राजवंश के प्रथम सम्राट् किन शी हुआंगदी (247-210 ई. पू.) ने अपने शासनकाल में यह आज्ञा दी कि चीन की सभी प्राचीन पुस्तकों को नष्ट कर दिया जाए जिससे बाद में यह सिद्ध हो सके कि चीनी सभ्यता केवल उसी राजा के काल में फली-फूली। तब किसी विद्याप्रेमी ने कुछ पुस्तकों को एक सन्दूक में छिपाया और चीन की दीवार बनते समय चिनवा दिया। संयोग से विस्फोट के समय वह सन्दूक निकल आया।

चीनी भाषा की उन पाण्डुलिपियों में से एक में लिखा है कि मनु का धर्मशास्त्र भारत में सर्वाधिक मान्य है जो वैदिक संस्कृत में लिखा है और दस हजार वर्ष से अधिक पुराना है।<sup>3</sup> इसमें *मनुस्मृति* के श्लोकों की संख्या 630 बताई

1. *मनुस्मृति*, 2.136

1. Friedrich Nietzsche : *His Life And Work*, 1908, p.314

2. *The Will to Power*, Vol.1

3. ...The Emperor therefore engaged the learned priest to act as the author of several manuscripts which were to be prepared in a manner that would last for many centuries. These manuscripts were to contain an outline of the scientific and cultural knowledge possessed by the emperor and his

गई है, किन्तु वर्तमान में इसमें लगभग 2,685 श्लोक हैं।

चीन की दीवार 7वीं शताब्दी ई पू से 16वीं शताब्दी ईसवी के मध्य निर्मित हुई थी और किन शी हुआंगदी के शासनकाल (247-210 ई पू) में भी बन रही थी। अर्थात् लिखनेवाले ने कम-से-कम 247 ई पू में मनु के बारे में अपने हस्तलेख में लिखा— 247 ई पू +10,000=10,247 ई पू। इससे यह सिद्ध हुआ कि आज से कम-से-कम 12,261 वर्ष पूर्व *मनुस्मृति* उपलब्ध थी।

### **मनुस्मृति पर प्रमुख संस्कृत-टीकाएँ ( भाष्य ) :**

सभी स्मृतिग्रन्थों (धर्मशास्त्रों) में प्राचीनकाल से लेकर अबतक सर्वाधिक टीकाएँ (भाष्य) *मनुस्मृति* पर ही लिखी गई हैं और अब भी लिखी जा रही हैं। मेधातिथि से लेकर अबतक लगभग दस संस्कृत-भाष्य उपलब्ध हैं और संक्षिप्त तथा पूर्ण *मनुस्मृति* पर कुल मिलाकर लगभग तीस हिंदी-टीकाएँ उपलब्ध हैं। कुछ प्रमुख

---

people at the time they were written. The wording is such as to pay high tribute to the genius and influence of the Emperor, but it also proves that many hundreds of years ago this Emperor and his people were possessed of knowledge and ideals, laws, and principles which we are apt to think are quite modern. For instance, the manuscript shows that the Chinese emperor and his people had adopted the Laws of Manu which were written in the Vedic language ten thousand years ago. In fact, these laws became the basis of Chinese law at the time the Emperor ordered the manuscript prepared. Secondly, the manuscript reveals that the Emperor and his people were well acquainted with the so-called Darwinian theory of Human Evolution, and that this law was well understood in China several thousand years ago. Another important secret contained in the manuscript pertains to the methods whereby the patriarchs and mystics in those days preserved a private formula for lengthening their lives. Touching upon the Darwinian theory an extract in the manuscript reads, "From the plants life passed into fantastic creatures which were born of the slime on waters; then through a series of different shapes and development of nature, man gradually changed from animal to his present form."

—Light from China, INTERESTING FACTS FOUND IN AN OLD CHINESE MANUSCRIPT, By The Emperor [H. Spencer Lewis]  
[From *The Rosicrucian Digest*, October 1936]

उपर्युक्त विवरण डॉ. केवल मोटवानी ने अपनी पुस्तक '*Manu Dharma Shastra: A Sociological and Historical Study*' (Published by Ganesh & Co., Madras, 1958) के पृ 232 पर और श्री आर. पी. पाठक ने अपनी पुस्तक '*Education in the Emerging India*' (Published by Atlantic Publishers & Dist, 2007) के पृ 148 पर भी दिया है।

संस्कृत-टीकाएँ हैं— 1. मेधातिथिकृत **मनुभाष्य**, 2. कुल्लूककृत **मन्वर्थमुक्तावली**, 3. नारायणकृत **मन्वर्थनिवृत्ति**, 4. राघवानन्दकृत **मन्वर्थचन्द्रिका**, 5. नन्दनकृत **नन्दिनी** और 6. गोविन्दराजकृत **मन्वाशयसारिणी**। इनके अतिरिक्त मनु के अनेक टीकाकारों के नाम ज्ञात हैं, किन्तु इनकी टीकाएँ लुप्त हो गई हैं, यथा— असहाय, भर्तृयज्ञ, यज्वा, उपाध्याय ऋजु, विष्णुस्वामी, उदयकर, भारुचि या भागुरि, भोजदेव, धरणीधर इत्यादि।

### **मनुस्मृति के कुछ प्रकाशित संस्करण :**

*मनुस्मृति* के अबतक कई मूल और अनुवादित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। सर विलियम जोन्स (1746-1794) द्वारा प्रथम बार इसका अंग्रेजी-अनुवाद किया गया जो 1796 में लन्दन और कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। तब से लेकर सन् 1920 तक प्रकाशित कुछ प्रमुख पुराने संस्करण इस प्रकार हैं—

1. *Institutes of Hindu Law: Or, The Ordinances of Menu, According to the Gloss of Cullūca*, Translated from the original Sanscrit by Sir William Jones, Printed by order of the government, Calcutta; London reprinted, for J. Sewell ...; and J. Debrett, 1796
2. *Manava-Dharm-Shastra or The Institute of Menu*, Edited by Graves Chamney Haughton, London, 1825
3. *The Laws of Manu (WITH EXTRACTS FROM SEVEN COMMENTARIES)*, by G. Buhler, (The Sacred Books of the East, Vol. XXV) Oxford AT THE CLARENDON PRESS, 1886
4. *Manusmriti; With a commentary called Manvarth Muktaavali by Kullooka Bhatt*, Edited by Pranjivan Harihar Pandya, Bombay, 1913.
5. *मनुस्मृति अर्थात् मानवधर्मशास्त्र* (मूलपाठ एवं हिंदी-भाषानुवाद), अनुवादक : पं. गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक : मनोहरलाल भार्गव, लखनऊ, 1917

### **मनुस्मृति में प्रक्षिप्तांश :**

हमने पहले बतलाया कि *मनुस्मृति* निर्विवाद रूप से अत्यन्त प्राचीन स्मृतिशास्त्र है जिसके श्लोक *वाल्मीकीयरामायण* और *महाभारत* में भी प्राप्त हैं। उपलब्ध



मनुस्मृति पर अनेक टीकाएँ हुई हैं जिनमें मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, गोविन्दराज, कुल्लूक, राघवानन्द, नन्दन और रामचन्द्र की बनाई टीकाएँ सुप्रसिद्ध हैं। इस दशा में भी इस मनुस्मृति को वही लोग क्षेपक कह सकते हैं जो वैदिक रहस्य को नहीं जानते हैं अथवा शब्दतः या अर्थतः वेद के शत्रु हैं।<sup>1</sup> यहाँ हम एक सुप्रसिद्ध उदाहरण दे रहे हैं—

‘न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषां भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥’<sup>2</sup>

उपर्युक्त श्लोक को प्रायः प्रक्षिप्त बतलाया जाता है, पर यह श्लोक उक्त सातों टीकाओं में व्यवस्था के साथ व्याख्यात हुआ है, तब कैसे प्रक्षिप्त हो सकता है? भागवतमहापुराण में इसकी यों व्यवस्था लिखी है—

‘लोके व्यवयमिषमद्यसेवा नित्या हि जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।

व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिता ॥’<sup>3</sup>

### मनुस्मृति के वर्ण्य विषय :

मनुस्मृति 12 अध्यायों में विभक्त है<sup>4</sup>, जिसमें कुल 2,685 श्लोक हैं—

अध्याय 1	144	सृष्टिरचना, प्राणिनाम् जातयः, कालगणना, वेदेभ्यो धर्मनिष्पत्तिः, आर्यावर्तः
अध्याय 2	224	जातकर्मादिसंस्कारविधिः, ब्रह्मचारिधर्मः, गुरुलक्षणम्
अध्याय 3	286	समावर्तनं, विवाहः, पञ्चमहायज्ञाः
अध्याय 4	260	वेदोक्ताजीविकाः, अतिथिलक्षणम्, गृहस्थधर्मः

1. मनुस्मृति अर्थात् मानवधर्मशास्त्र, लखनऊ, 1917 ई , पृ 126-127

2. मनुस्मृति, 5.56 (महर्षि-संस्करण)

3. भागवतमहापुराण, 11.5.11 (महर्षि-संस्करण)

4. डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल (1904-1966) ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि प्राचीनतम रोमन कानूनों का संग्रह भी द्वादशात्मक होने के कारण 'The Law of the Twelve Tables' (Latin: *Leges Duodecim Tabularum or Duodecim Tabulae*) के नाम से प्रसिद्ध है। उनका संग्रह 754-449 ई पू के मध्य दस आप्त व्यक्तियों द्वारा किया गया था, जिसे साथ मनु की 'दशावरा परिषद्' का ध्यान आता है।

—‘मनु’, कला और संस्कृति, वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य भवन प्रु लि , इलाहाबाद, 2003, पृ 53

अध्याय 5	169	गृहस्थांतरगताः भक्ष्याभक्ष्यम्, देहशुद्धिः, द्रव्यशुद्धिः, पत्नीधर्मः
अध्याय 6	97	वानप्रस्थ-संन्यासा-श्रमीयाः धर्माः, दशलक्षणयुक्तधर्मः
अध्याय 7	226	राज्याधिकारिणः लक्षणम्, राजधर्मः, व्यसनानि, शत्रु-मित्र-विवेचनम्
अध्याय 8	420	न्यायसभायाः गठनं, व्यवहाराणां वर्णनं निर्णयं च
अध्याय 9	325	व्यवहारविषयः अनुवर्तितः — गृहस्थानां विवादाः, तेषां निर्णयः च, राज्ञः विविधरूपाणि
अध्याय 10	142	वैश्य-शूद्र-धर्माः, अनार्य-लक्षणं, कर्मानुसार-वर्णपरिवर्तनम्
अध्याय 11	266	विभिन्न-पापानां प्रायश्चित्तानि
अध्याय 12	126	कर्मफलविधनं, सात्त्विक-राजसिक-तामसिकानि कर्माणि गतयः च, वेदानां माहात्म्यं, धर्मपरिषद्-वर्णनम्
कुल	2,685	श्लोक

इस प्रकार मनु ने जन्म से लेकर मरण तक का मनुष्य का पूरा कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि मनु का धर्म गणित के अंकों की तरह बहुत ही सीधा-सादा है, उनके जन्म से मृत्युपर्यंत मनुष्य-जीवन का एक पूरा नक्शा हमें प्राप्त है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूपी चार पुरुषार्थ; देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण-रूपी तीन आवश्यक कर्तव्य; सोलह संस्कार; पञ्च महायज्ञ; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-रूपी चार आश्रम; और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— इनका चातुर्वर्ण्य-संगठन— यही संक्षेप में मनु के धर्म हैं।<sup>1</sup> पिता-पुत्र, भाई-बहिन, माता-पिता, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, मित्र-शत्रु, भाई-भाई, पति-पत्नी, ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र, अन्त्यज, ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थी- संन्यासी— सभी के वेदोक्त धर्म का निरूपण इसमें किया गया है।<sup>2</sup> इसलिए दीर्घकाल तक आस्तिक हिंदुओं के कार्य-व्यवहार का आधार मनुस्मृति रही है। इसका प्रभाव न्याय-प्रणाली पर भी पड़ा है।

1. ‘मनु’, कला और संस्कृति, वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य भवन प्रु लि , इलाहाबाद, 2003, पृ 53

2. स्मृतियों में भारतीय जीवन-पद्धति, रघुनन्दन प्रसाद शर्मा, सांस्कृतिक गौरव संस्थान, नयी दिल्ली, 2001, पृ 26

## प्राचीन भारत में संविधान तथा न्याय-प्रणाली

वर्तमान समय में भारतीय विधि तथा न्याय-प्रणाली के अत्यधिक जटिल, व्ययसाध्य तथा विलम्बशील होने के कारण अनेक बार यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कोई ऐसी प्रणाली या प्रक्रिया हो सकती है जो जनसाधारण को समुचित तथा सरल रूप से विधि का ज्ञान करा सके तथा शीघ्र एवं स्वल्प व्यय के साथ न्याय दिला सके? इसके लिए हमें प्राचीन संविधान तथा न्याय-व्यवस्था का ज्ञान होना आवश्यक है। यह ज्ञान हमें वैदिक साहित्य— वेद (मंत्रसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्), उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं स्थापत्यवेद), वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छंद और निरुक्त), वेदोपांग (स्मृतियाँ, षड्दर्शन, पुराणेतिहासादि), संस्कृत-काव्यादि के अध्ययन से ही हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो *भगवद्गीता* का उपदेश दिया था, उसमें भी कहा था कि कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय करने में तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण हैं, शास्त्रों के कहे गए कर्म को तुम्हें इस संसार में करना चाहिए—

‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥”

प्राचीन भारतीय मनीषियों का ध्येय और आदर्श था कि अधर्म का विनाश करके धर्म की स्थापना की जाए। अपराध होना ही अधर्म है। अतः अपराधों के अस्तित्व का न्याय द्वारा विनाश करके धर्म की स्थापना करनी चाहिये। अतः प्राचीन मनीषियों ने न्याय की स्थापना को ही धर्म माना था।

अपराध का मूल कारण अरिषड्वर्ग (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) हैं, इन छः शत्रुओं को जीतने से ही पापों का, अधर्म का विनाश होकर धर्म की स्थापना होगी। इसी से न्याय की उचित व्यवस्था बनेगी।

दार्शनिक परिभाषा में काम का अर्थ है— अनुचित इच्छा का मन में होना। यह अनुचित इच्छा ही मनुष्य को कुत्सित कर्म करने में प्रवृत्त करती है, इस इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य विविध प्रकार के पापकर्म करता है। मनु ने कहा था कि जो व्यक्ति काम (इच्छा) से रहित है, वह कोई कार्य नहीं करता। मनुष्य द्वारा जो कोई भी कार्य किया जाता है, वह काम की ही चेष्टा है। मनुष्य की प्रेरणाओं

का मनु ने समुचित विश्लेषण किया था और कहा था कि प्रत्येक चेष्टा के पीछे प्रेरक शक्ति काम है। मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह लैंगिक और भावनात्मक आनन्द को प्राप्त करे, इसके लिए उसको भौतिक सम्पत्ति (अर्थ) को प्राप्त करना आवश्यक है, अर्थ की प्राप्ति के बिना कोई भी भौतिक कामना पूर्ण नहीं हो सकती। *कामशास्त्र* के रचयिता ऋषि वात्स्यायन ने कहा था कि भौतिक आनन्द को प्राप्त करने हेतु भौतिक सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए किए गए कार्य ही पापों (अपराधों) का मूल हैं, इन कामनाओं को पूरा करने की इच्छा करना और प्रयत्न करना ही व्यक्तियों में परस्पर द्वेष उत्पन्न करता है, परस्पर टकराहट उत्पन्न करता है और इसलिए मनुष्य पाप (अपराध) करता है।

मनुष्य की ये इच्छाएँ (काम) अन्य भावनाओं को उत्पन्न करती हैं। ये भावनाएँ हैं— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। इस प्रकार पापों (अपराधों) के लिए मनुष्यों को प्रेरित करनेवाले छः तत्त्व हैं। इन्हें ‘रिपुषड्वर्ग’ भी कहा गया है और ये मनुष्य के स्वाभाविक शत्रु हैं, रिपु का अर्थ ही शत्रु होता है। प्राचीन ऋषियों के अनुसार इन छः शत्रुओं को जीतकर धर्म की स्थापना करनी चाहिये। इसी से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह प्राप्त होते हैं। संक्षेप में कहा जाए तो यही धर्म है। दूसरे शब्दों में यही न्याय है—

‘अहिंसा सत्यमस्तेयः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥”

प्राचीन समय में प्रशासन-व्यवस्था के विकास के साथ साथ विधि तथा न्याय-व्यवस्था का विकास हुआ, वैदिक संहिताओं में वरुण और सोम देवता को शासन, विधि एवं न्याय का अधिष्ठातृ देवता कहा गया है। लोक-व्यवहार में राजा को ही वरुण का प्रतिनिधि माना जाता रहा था। राजा का कर्तव्य है कि शासन-व्यवस्था के विधि-नियमों का सुचारु रूप से पालन कराये तथा जनता को त्वरित तथा सत्य-न्याय उपलब्ध कराये।

प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनुसार विवादों के निर्णय जिन विशेष नियमों के एवं कानूनों के आधार पर होते थे, उनको पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है— 1. वेदादि धर्मशास्त्रों के निर्देश, 2. देश, जाति एवं कुल की रीतियाँ, 3. विभिन्न वर्गों के अपने रीति-रिवाज, 4. तर्क और 5. त्रैविध वृद्धों की सम्मतियाँ।

प्राचीन न्याय-व्यवस्था में साक्ष्य का भी बहुत महत्त्व था। साक्ष्य लिखित और मौखिक— दोनों प्रकार के हो सकते थे। विधि-संबंधी ग्रन्थों में साक्ष्य के गुणों का विशद वर्णन किया गया है। ये दोनों प्रकार के साक्ष्य लौकिक ही थे। दिव्य साक्ष्य को भी बहुत महत्त्व दिया गया था।

प्राचीन समय की दण्ड-प्रणाली कठोर थी, तथापि यह सुधारात्मक भी थी, कठोरता इसलिए भी थी कि सामान्य जन को इससे शिक्षा मिल सके। दण्डों के कठोर होने के कारण जनसामान्य की प्रवृत्ति अपराधों की ओर से विमुख रहती थी तथापि सरल, सस्ता और त्वरित न्याय उपलब्ध होता था। प्राचीन धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार के दण्डों का उल्लेख मिलता है— 1. वाग्दण्ड, 2. धिग्दण्ड, 3. अर्थदण्ड, 4. उद्वेजन, 5. अंग-विच्छेदन, 6. निर्वासन, 7. कारावास और 8. मृत्युदण्ड।

अपराध को नियन्त्रण में रखने के समुचित दण्ड का प्रयोग अत्यावश्यक है, इस बात पर *मनुस्मृति* में बल दिया गया है। न्याय-संबंधी बहुत-सी बातें ग्रंथ के अध्याय 7 में मिलती हैं। दण्ड की महत्ता को प्रतिपादित करनेवाले चुने हुए 5 श्लोकों का मैं इस स्थल पर उल्लेख कर रहा हूँ। ये सभी श्लोक *मनुस्मृति* के महर्षि वेद विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित संस्करण से लिए गए हैं—

**‘यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।**

**शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥’**

अर्थात्, यदि राजा दण्डित किए जाने योग्य दुर्जनों पर दण्ड का प्रयोग नहीं करता है, तो बलशाली व्यक्ति दुर्बल लोगों को वैसे ही पकाएँगे जैसे शूल अथवा सींक की मदद से मछली पकाई जाती है।

कहने का तात्पर्य है कि समुचित सजा का कार्यान्वयन न होने पर बलहीन लोगों पर बलशाली जन अत्याचार करेंगे। ध्यान रहे कि अत्याचार करनेवाले शक्तिशाली होते हैं। वे धनबल, बाहुबल, शासकीय पहुँच आदि के सहारे अपनी मर्जी से चलनेवाले होते हैं और निर्बलों को कच्चा चबा जाने की नीयत रखते हैं। आज के सामाजिक माहौल में ऐसा सब हो रहा है यह हम सभी देख रहे हैं। दण्डित होने का भय दुर्जनों को रोकता है। नीति कहती है कि राजा

का कर्तव्य है कि अपराधी को दण्ड देने में उसे रियायत तथा विलम्ब नहीं करना चाहिए। दुर्भाग्य से अपने देश में दण्ड देने की प्रक्रिया कमोबेश निष्प्रभावी है, कम-से-कम रसूखदार लोग तो दण्डित हो ही नहीं रहे हैं, और उनका मनोबल चरम पर है।

आज के लोकतान्त्रिक युग में पारम्परिक अर्थ में राजा नहीं रहे। उनका स्थान शासकवर्ग ने ले लिया है। एक से अधिक व्यक्तियों का समूह राजा का स्थान ले चुका है। सिद्धान्ततः राजा के अधिकार उन्हें मिल चुके हैं और राजा के कर्तव्यों का निर्वाह भी उन्हीं के जिम्मे है। अधिकारों के मामले में तो वे काफी आगे हैं, किन्तु दायित्वों के क्षेत्र में उनका कार्य चिन्ताजनक है। उन्होंने दण्ड की प्रक्रिया को पेचीदा, समयसाध्य, अपराधी के प्रति नरमीवाला बना डाला है, इसलिए दिन-प्रतिदिन अपराध बढ़ रहे हैं।

**‘सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।**

**दण्डस्य हि भयात्सर्व जगद्भोगाय कल्पते ॥’**

अर्थात्, यह संसार दण्ड के द्वारा ही जीते जाने योग्य है, अर्थात् दण्ड के द्वारा ही इसे नियंत्रण में रखा जा सकता है। ऐसा व्यक्ति दुर्लभ है जो स्वभाव से ही साफ-सुथरा एवं सच्चरित्र हो, न कि दण्ड के भय से। दण्ड के भय से ही वह व्यवस्था बन पाती है जिसमें लोग अपनी सम्पदा का भोग कर पाते हैं।

तात्पर्य यह है कि अधिकतर लोग दण्डित होने के भय से ही अपराध या अनुचित कार्यों से विरत रहते हैं। यदि दण्डित होने का भय समाज में न हो तो चारों ओर दुर्व्यवस्था फैल जाए, लूटपाट मचने लगेगी, और अपनी ही सम्पदा का भोग लोग नहीं कर पायेंगे, दूसरे उस पर कब्जा कर लेंगे।

**‘यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।**

**प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥’**

अर्थात्, जहाँ श्याम वर्ण एवं लाल नेत्रोंवाला और पापों (पापियों?) का नाश करनेवाला ‘दण्ड’ विचरण करता है, और जहाँ शासन का निर्वाह करनेवाला उचितानुचित का विचारकर दण्ड देता है, वहाँ प्रजा उद्विग्न या व्याकुल नहीं

1. *मनुस्मृति*, 7.20

1. *मनुस्मृति*, 7.22

2. *वही*, 7.25

होती।

दण्ड कोई मूर्तिमन्त वस्तु नहीं है, यह तो एक भाव है, अमूर्त अवधारणा है। किन्तु शास्त्रों में उसका वर्णन काले (डरावने) और लाल-लाल आँखोंवाली भौतिक जीवन्त सत्ता के तौर पर किया गया है। यह दण्ड के भयकारक स्वरूप को प्रस्तुत करने का तरीका है, जिसे शब्दशः ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। कहने का प्रयोजन मात्र यह है कि दण्ड वैसा ही भयजनक है जैसे कोई मतिमान् डरावना पशु आपके समक्ष खड़ा हो जाए। यानी दण्ड का विचार व्यक्ति को भयभीत कर सके, इसलिए ऐसा वर्णन प्रस्तुत है। जहाँ राजा अपराधी को ऐसे दण्ड का भय दिखाए, वहाँ शेष प्रजा निडर रह सकती है।

**‘तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।**

**समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥”**

अर्थात्, दुर्जनों पर ऐसे दण्ड का प्रयोग करनेवाले राजा को सत्यवादी, सोच-विचारकर कार्य करनेवाला, बुद्धिमान, और धर्म, काम एवं अर्थ की समझ रखनेवाला कहा गया है।

धर्म, काम एवं अर्थ को शास्त्रों में ‘त्रिवर्ग’ की संज्ञा दी गई है। सांसारिक जीवन इन तीनों के चारों ओर केन्द्रित रहता है। ‘अर्थ’ से तात्पर्य है धन-सम्पदा, जिसके बल पर ‘काम’ अर्थात् भौतिक कामनाओं एवं सुख-सुविधाओं का भोग व्यक्ति द्वारा किया जाता है, और जिससे दान, पुण्य, जनसेवा-जैसे ‘धर्म’ के कार्य संपन्न किए जाते हैं। इन तीनों में संतुलन बनाए रखकर जीवन-यापन करना सामान्य व्यक्ति का कर्तव्य माना गया है। उक्त श्लोक के अनुसार न्यायप्रिय राजा त्रिवर्ग को ठीक से समझनेवाला कहा जायेगा।

**‘तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।**

**कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥”**

अर्थात्, उस दण्ड का समुचित प्रयोग करनेवाला राजा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) की दृष्टि से समृद्ध होता है। अर्थात् न्याय के मार्ग पर चलनेवाले राजा को आर्थिक संपन्नता के साथ सुखोपभोग और धर्म-संपादन में सफलता मिलती है।

इसके विपरीत जो राजा भोग-विलास या सत्तासुख में डूबा रहता है, जो लोगों के प्रति असमानता (अन्यायपूर्ण) का बर्ताव करता है, और जो नीच स्वभाव का है, वह उसी दण्ड के द्वारा मारा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो राजा दण्ड के योग्य व्यक्तियों को दण्डित नहीं करता है, वह कालांतर में उन्हीं दुर्जनों के कारण सत्ताच्युति का भागीदार बनता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राजा के मायने हैं शासकीय व्यवस्था के शीर्ष पर बैठे लोग, जो राजकाज चलाते हैं। उनका आचरण ही न्याय की दिशा निर्धारित करता है। किन्तु यह अपने देश का दुर्भाग्य है कि इसकी न्यायिक व्यवस्था प्रायः विफल हो चुकी है। लोगों के मन से दण्डित होने का भय समाप्त होता जा रहा है। वे आश्वस्त होते जा रहे हैं कि अपराध करने के बावजूद वे दण्ड से बचे रहेंगे। इसलिए दिन-प्रतिदिन अपराधों में वृद्धि हो रही है।

मनुस्मृति के आधार पर प्राचीन समय में विधि-निर्माण की प्रक्रिया का बोध होता है और भारतीय न्याय-व्यवस्था का व्यावहारिक रूप भी उपलब्ध होता है। मनुस्मृति का पर्यालोचन करके उसके गुणों को समझा जा सकता है तथा वर्तमान न्याय-व्यवस्था में इसका लाभ उठाया जा सकता है। प्राचीन न्याय-व्यवस्था में राजकीय कानूनों का बारीकी से ज्ञान होना अनिवार्य नहीं था, उस समय का न्याय एक प्रकार से प्राकृतिक तथा स्वाभाविक था, वादी तथा प्रतिवादी स्वयं ही अपने पक्ष को प्रस्तुत करते थे। इससे वस्तुस्थिति का आकलन अधिक सही होता था, न्याय का निर्णय भी त्वरित होता था तथा व्यय भी कम होता था। इस प्रक्रिया में बिचौलिये (वकील आदि) यथासम्भव नहीं रहते थे, भ्रष्टाचार की सम्भावना न्यूनतम थी, मुकदमों का व्यय भी बहुत कम होता था, वादों का निर्णय बहुत कुछ स्वाभाविक था, प्राकृतिक सिद्धान्तों के आधार पर होता था।

वर्तमान समय में कानूनों के बहुत जटिल होने, सामान्यजन की समझ से बाहर होने और बिचौलिये के मध्य में होने के कारण मुकदमों के निर्णयों में बहुत विलम्ब होता है। इससे भ्रष्टाचार की सम्भावना में भी वृद्धि होती है, अनेक बार तो मुकदमा इतना लम्बा खिंच जाता है कि न्यायार्थी का अपना जीवन पूरा हो जाता है और वह न्याय को प्राप्त नहीं कर पाता। इस प्रकार वर्तमान समय के विधि-कानूनों के अत्यधिक जटिल और पेचीदा होने से, न्याय की प्रणाली के अत्यधिक व्ययसाध्य और विलम्बशील होने के कारण सीधा-सच्चा व्यक्ति अपनी सत्य बात को कहने के लिए भी न्यायालय में जाने का साहस नहीं जुटा पाता।

1. मनुस्मृति, 7.26

2. वही, 7.27

न्यायालय की यह समस्त कुव्यवस्था अंग्रेजी शासन की देन है।

अतः आधुनिक भारत के मनीषी न्यायमूर्तियों तथा राजनीतिज्ञों का ध्यान भारतीय विधि तथा न्याय-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में, 'उपभोक्ता अदालतों', न्यायाधिकरणों और 'लोक-अदालतों' के गठन की ओर गया है। ये अदालतें प्राचीन पञ्चायत-प्रथा से प्रभावित हैं। इस व्यवस्था में मुकदमों की तुरन्त सुनवाई के साथ साथ ही निर्णय होकर जनसामान्य का अमूल्य समय, जन-धन की बर्बादी न होना आदि तत्त्व निहित हैं, वादी-प्रतिवादी को सरल एवं शीघ्र न्याय मिलने की सम्भावना रहती है।

अतः अब आवश्यकता है कि *मनुस्मृति* में वर्णित विधि और न्याय-व्यवस्था का वास्तविक रूप लोक के समक्ष प्रस्तुत किया जाए, जिसे जानकर पाश्चात्य सभ्यता में पोषित न्यायाधिकारी और शासनाधिकारी भी जनहित में ठीक-ठीक निर्णय कर सकें। जर्जर हो चुकी वर्तमान भारतीय न्यायपालिका को भारतीय जन के लिए बनाने हेतु प्राचीन संस्कृत-वाङ्मय, विशेषकर '*मनुस्मृति*' का अध्ययन ही भारतीय न्यायपालिका को पुनः गौरवपूर्ण स्थान दिला सकता है, अस्तु!

प्रस्तुत ग्रन्थ '*मनु का दण्ड-विधान*' *मनुस्मृति* में प्रतिपादित दण्ड-विधानों पर अखिल भारतीय इतिहास-संकलन-योजना के क्षेत्रीय संगठन-सचिव और विद्वान् लेखक श्रीयुत् हर्षवर्धन सिंह तोमर द्वारा वर्ष 2011 में बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल से किया हुआ शोध-कार्य (पीएच डी) है। डॉ. तोमर प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अध्येता होने के साथ-साथ विधि के भी विद्यार्थी हैं, जिससे कानून की पेचीदगियों को भली प्रकार समझते हैं। इन्होंने सुगम और बोधगम्य भाषा में अपराध और दण्ड-विधान के सन्दर्भ में *मनुस्मृति* के मूल तत्त्वों को विवेचित किया है। इसके साथ ही इन्होंने मनु और *मनुस्मृति* से संबंधित विवादों, प्रश्नों पर पक्षपातरहित नवीन दृष्टिकोण से सप्रमाण और युक्तियुक्त विवेचन किया है; वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से मनु के भावों को उद्घाटित एवं पुष्ट किया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ न केवल विधि के विद्यार्थियों और विद्वानों के लिए, अपितु राजनीति, समाजशास्त्र और इतिहास के विद्यार्थियों के लिए भी लाभकारी है, विशेषकर उनके लिए जिन्हें संस्कृत-भाषा का पर्याप्त ज्ञान नहीं है।

मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ-रत्न *मनुस्मृति* के विवेचनात्मक अध्ययन के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा।

बाबा साहेब आपटे-स्मृति भवन  
'केशव-कुञ्ज', झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110 055

बालमुकुन्द  
(बालमुकुन्द पाण्डेय)

राष्ट्रीय संगठन-सचिव

मकर संक्रान्ति, बुधवार  
कलियुगाब्द 5115

अखिल भारतीय इतिहास-संकलन-योजना

(15 जनवरी, 2014 ई०)



# आत्म निवेदन

# प्रा

रम्भ से सनातन (हिंदू) संस्कृति वैदिक धर्ममूलक श्रुति-परम्परा की अनुगामिनी रही और धर्म भारतीय संस्कृति का मूलाधार रहा है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में व्यक्ति के सर्वतोभावेन विकास व सुख-समृद्धि के लिए उसके जीवन से संबंधित विविध पक्षों को धर्म के साथ संबंधित किया गया है। धर्म ही दृष्ट व अदृष्ट जगत् का सृजनकर्ता व नियामक है। इसलिए यहाँ शाश्वत नियमों के प्रतिपालक के रूप में धर्म को मान्यता प्रदत्त की गई है। भारतीय संस्कृति में धर्म केवल लौकिक-अलौकिक कर्मकाण्डों का परिचायक नहीं वरन् यह व्यक्ति के नित्य-प्रतिदिन के आचारमूलक कर्मों का पर्याय है। व्यक्ति के आचारमूलक कर्मों की यह रीति-नीति भारतीय विधि का अक्षुण्ण स्रोत है। इसलिए हिंदू जीवन-पद्धति में व्यक्ति को धर्म से सम्बद्ध करते हुए धर्मरूपी नियम-विधानों को समय-समय पर समाज की आवश्यकतानुरूप पुनरीक्षित, परिमार्जित व संशोधित करते हुए धर्मग्रन्थों के रूप में संकलित कर लिया गया। वस्तुतः यह संकलित ग्रन्थ श्रुति-परम्परा का सुफल है। हस्तांतरण की यह प्रक्रिया श्रुति-परम्परा के रूप में विकसित हुई शैली की प्रमुख विशेषता है जिसका अनुसरण भारतीय परम्परा में

युगों-युगों से होता आ रहा है। इसलिये समाज के बदलते परिवेश व युगानुरूप ये परम्पराएँ, आचरणों के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रही हैं। भारतीय संस्कृति अपनी इसी विशेषता के बल पर अपने अद्वितीय पुरातन जीवन-पोषित मूल्यों को वर्तमान तक सहजने व अक्षुण्ण बनाए रखने में सफल रही है।

भारतीय धर्म-दर्शन व उसमें अंतर्निहित परम्पराओं ने मुझे बाल्यकाल से प्रभावित व प्रेरित करने का कार्य किया है। इसलिए एक विषय के रूप में इतिहास सदैव से मेरी अभिरुचि का विषय रहा है। इतिहास, वह भी भारतीय संस्कृति का अध्येता होना स्वयं के लिए गौरवान्वयन का विषय है। भारतीय संस्कृति व इतिहास के प्रति मेरे अंतर्मन में उठनेवाली अनन्त जिज्ञासाओं ने मुझे इस विषय पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी जिज्ञासा का सुपरिणाम है। निश्चय ही ज्ञान के प्रति मन में उठती जिज्ञासाओं का पूर्ण समाधान प्राप्त कर लेना व उनका समाधानात्मक उत्तर प्रस्तुत करना निःसन्देह कठिन कार्य है। इसलिए इस विषय पर स्वयं के द्वारा प्रस्तुत प्रयास अन्तिम नहीं है क्योंकि ज्ञान का कोई भी स्वरूप कभी अन्तिम सत्य नहीं होता। मेरे इस प्रयास को मूर्त रूप देने में मनीषियों, विद्वज्जनों, स्वजनों, आत्मीयजनों व विविध निकायों का आशीर्वाद व सहयोग मिलता रहा। इन सभी के प्रति विनयानवत होकर कृतज्ञता व्यक्त करना मेरा परम कर्तव्य व दायित्व है।

सर्वप्रथम इस शृंखला में मेरे शोध-कार्य 'मनुस्मृति में वर्णित अपराध व दण्ड-विधान : एक मूल्यपरक अध्ययन' के निदेशक परम श्रद्धेय आचार्य डॉ. सुधीर कुमार त्रिवेदी (अध्यक्ष, इतिहास विभाग, शासकीय हमीदिया कला व वाणिज्य महाविद्यालय, भोपाल एवं पूर्व कुलसचिव, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल) के चरणों में कोटि-कोटि नमन करता हूँ जिन्होंने मेरे प्रयत्न को सार्थक बनाने में विषय-चयन से लेकर शोधकार्य संपन्न होने तक अपने ज्ञानामृत से मनुस्मृति-जैसे कठिन विषय पर कार्य करने के लिए मुझे प्रेरित किया और समय-समय पर शोध-कार्य में आ रही समस्याओं के समाधान में सहयोग किया।

तत्पश्चात् काशी हिंदू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष श्रद्धेय आचार्य डॉ. सीताराम दुबे प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अपनी व्यस्तताओं के बाद भी अपने

बहुमूल्य समय में से मुझे समय देकर अनुगृहीत किया। इसके पश्चात् मैं विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन की प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला के पूर्व विभागाध्यक्ष डॉ. रहमान अली के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ। प्रो. शिवाजी सिंह (पूर्व विभागाध्यक्ष प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय) प्रो. ठाकुर प्रसाद वर्मा (पूर्व अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं सेवानिवृत्त उपाचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय), डॉ. सतीशचन्द्र मित्तल (पूर्व प्राध्यापक, इतिहास-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय), डॉ. शरद हेबाळकर (पूर्व प्राध्यापक, इतिहास-विभाग, अंबाजोगोई, महाराष्ट्र), प्रो. ईश्वरशरण विश्वकर्मा (प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय) एवं डॉ. आनन्द मिश्र (प्राध्यापक, इतिहास विभाग कुलसचिव, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर), डॉ. मंजुला शर्मा (प्राध्यापक, इतिहास-विभाग एवं पूर्व-निदेशिका, कुंजीलाल संसदीय विद्यापीठ, भोपाल), डॉ. रंजना शर्मा (सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, भोपाल), डॉ. रवीन्द्र भारद्वाज (प्राध्यापक, उज्जैन), डॉ. सुस्मिता पाण्डेय (विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन) एवं डॉ. मनीन्द्र रघुवंशी (सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, नरसिंहगढ़) के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने स्वयं की व्यस्तताओं के पश्चात् भी इस शोध-कार्य को पूर्ण करने व विषय से संबंधित जिज्ञासाओं के समाधान में सहयोग प्रदान किया।

प्राचीन ग्रन्थों में गुरु की महत्ता को स्वीकार किया गया है, इसलिए इनमें त्रिऋण के अंतर्गत ऋषि-ऋण का प्राथमिकता से उल्लेख किया गया है। स्वयं की जिज्ञासाओं के समाधान के प्रयत्न को कृतिरूप प्रदान करने में मेरे गुरु देवतुल्य, निष्काम कर्मयोगी, परम श्रद्धेय **श्री बालमुकुन्द जी व श्री प्रदीप जी खाण्डेकर** का सहयोग रहा। प्रत्येक क्षण उन्होंने अपने अमृतमयी ज्ञान, कुशल मार्गदर्शन, अनन्त आशीर्वाद व शुभकामनाओं से मेरी समस्याओं का समाधान किया और अवसाद की स्थिति में भी मेरे आत्मविश्वास को विचलित नहीं होने दिया। विशेषकर श्री बालमुकुन्द जी, जिन्होंने मेरी प्रत्येक आवश्यकता को सदैव पूर्ण किया और मेरी त्रुटियों पर आत्ममंथन के मुझे समय-समय पर लिए सचेत

किया। विषम परिस्थितियों में संसाधनों की पूर्ति करते हुए मेरे आत्मबल को बनाए रखा एवं सदैव सकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया। उनके इस अतुलनीय आशीर्वाद और सहयोग को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं है। उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान एवं अभिनव आदर्शों व सहयोग के लिए मैं जीवनपर्यंत उनका ऋणी रहूँगा। उनके इस भावनात्मक ऋण से मुक्त होना मेरे लिए कदाचित् सम्भव नहीं। मैं अपना यह प्रयास उन्हीं के कर-कमलों में समर्पित करता हूँ।

धर्म एवं समाज के लिए स्वयं को समिधा के रूप में प्रस्तुत करनेवाले विचारक मनीषी सर्वश्री अरुण जैन, पराग अभ्यंकर और ज्येष्ठ भ्रातातुल्य श्री अखिलेश मिश्र का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने किशोरावस्था में भारतीय संस्कृति के गौरवपूर्ण पक्षों की ओर मेरा ध्यान केन्द्रित किया और जिज्ञासा उत्पन्न की। इसके पश्चात् श्री पराग अभ्यंकर के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरी किशोरावस्था में मुझमें गौरवपूर्ण प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न की। अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के केन्द्रीय मार्गदर्शक श्री हरिभाऊ वझे; डॉ. तेजसिंह सैंधव (प्रान्त अध्यक्ष, मालवा) व श्री कृष्णकांत भट्ट का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध-कार्य के निमित्त समय-समय पर मुझे सहयोग प्रदान किया। आभार की इस श्रृंखला में विशेष रूप से माधव संस्कृति न्यास, नयी दिल्ली के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रेषित करता हूँ जिन्होंने इस शोध-कार्य के लिये मुझे शोधवृत्ति प्रदान की। इसके साथ ही पृ. हरिचरण तिवारी (राजगढ़, मध्यप्रदेश) के प्रति भी मैं अत्यन्त आभार प्रकट करता हूँ जिनके सहयोग से इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका है। निश्चय ही आर्थिक संसाधनों के अभाव में इस कार्य को पूर्ण करना अत्यन्त कठिन कार्य था।

श्री झाली आश्रम, नरसिंहगढ़; श्रीवाकणकर शोध-संस्थान, उज्जैन; जीवाजीराव पुस्तकालय, उज्जैन; वेदविद्या प्रतिष्ठान व सिंधिया प्राच्य शोध-संस्थान, उज्जैन के अधिकारियों, कर्मचारियों के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने शोध-कार्य में हरसम्भव सहयोग प्रदान किया।

अपने स्वजनों व परिवारजनों के प्रति आभार व्यक्त करना आवश्यक है क्योंकि ज्ञान का प्रारम्भ ही परिवार से होता है और स्वजनों के वात्सल्य व आशीर्वाद के बिना इस कार्य की पूर्णता सम्भव नहीं थी। मैं अपने पूजनीय माता-पिता श्रीमती अनुसूइया तोमर एवं श्री यशवंत सिंह तोमर तथा काका श्री दौलत सिंह तोमर के श्रीचरणों में कोटि-कोटि नमन करता हूँ व उनके प्रति अपनी

कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ क्योंकि उन्होंने ही भारतीय संस्कृति की अस्तित्वप्राप्त परम्पराओं को मुझमें हस्तांतरित करते हुए मुझे उन परम्पराओं के योग्य बनाया। साथ ही मैं अपने परिजनों— अग्रज सर्वश्री ऋतुराज सिंह, दिग्विजय सिंह, अभिषेक सिंह ठाकुर एवं बहन श्रीमती मिथिलेश, पूजा, प्रीति; भ्राता सर्वश्री यशवन्त सिंह उमठ, यशपाल सिंह तोमर एवं आर्यव्रत सिंह हाड़ा के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका स्नेह और सम्मानजनित प्रोत्साहन मेरे इस शोध-कार्य को पूर्ण करने में प्रेरणाप्रद रहा। मैं अपनी अर्धांगिनी श्रीमती सरोज तोमर, अपने मामा श्री नारायण सिंह हाड़ा व मामी श्रीमती लक्ष्मी हाड़ा को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मेरे विश्वास को विषम परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होने दिया।

आभार अनूभूति का विषय है अभिव्यक्ति का नहीं, फिर भी मैं सर्वश्री चन्द्रहास शुक्ल (उप-संपादक, 'चरैवैति'), जगरामजी, अशोक पोरवाल, चेतन भार्गव, ब्रजकिशोर भार्गव, नीरज दीक्षित, लक्ष्मीनारायण चौहान (संस्कृतग्राम झिरी, जिला राजगढ़), आशीष नाटानी (उज्जैन) व मातृ-संगठन के पदाधिकारियों के प्रति है जिन्होंने हर समय मुझे अपने कर्तव्यों का अहसास कराते हुए मुझे वैचारिक रूप से सम्बल प्रदान किया। मेरे अंतर्मन में जब कभी अवसाद की स्थिति निर्मित हुई, तब उन्होंने अपने वैचारिक सहयोग से मेरे आत्मविश्वास को विचलित नहीं होने दिया। मैं जीवनपर्यंत इन सभी के प्रति आभारी व श्रद्धावान् रहूँगा।

मेरा विशेष आभार मेरे आत्मीयजन व बालसखा संजीव पारिख मित्र बलवन्त सिंह, देवेश शर्मा, डॉ. मनोज वर्मा, डॉ. रत्नेश त्रिपाठी (दिल्ली), श्री दिनेश शर्मा (नरसिंहगढ़), डॉ. प्रमोद कुमार, सौरभ मिश्रा (गोरखपुर), सुनील यादव के प्रति श्रद्धावान् हूँ जिनकी उचित प्रेरणा व मार्गदर्शन के बिना प्रस्तुत अध्ययन की पूर्णता सम्भव नहीं थी। आभार की शृंखला अनन्त है। इसी क्रम में मेरे सहयोगी सर्वश्री गजेन्द्र सोनी, भँवर सिंह सोलंकी (अधिवक्ता), राजेश साहू, शैलेन्द्र शर्मा, (नरसिंहगढ़) व अपने समस्त मित्रों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

इस पुस्तक के संपादन के लिए भारतीय विधि के गम्भीर अध्येता और शोधार्थी श्री अभिषेक कुमार मिश्र जी का मैं आजीवन ऋणी रहूँगा, जिन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से मेरी पुस्तक की पाण्डुलिपि का आद्योपान्त कई बार निरीक्षण

किया और अनेक उपयोगी सुझाव दिये। पुस्तक के प्रकाशन के समय भी उन्होंने अपना बहुमूल्य समय निकालकर उसमें आवश्यक संशोधन-परिवर्धन किया। मैं यह निःसंकोच कह सकता हूँ कि भाई अभिषेक जी के परिश्रम के बिना मेरे इस कार्य की पूर्णता सम्भव नहीं थी।

इस ग्रन्थ को पुस्तक-रूप में परिवर्तित करने व इसके टंकन, साज-सज्जा, आवरण-सज्जा में जिस अथक परिश्रम से इस ग्रन्थ का जो स्वरूप तैयार हुआ है, उसके लिए मैं अपने अनुजतुल्य श्री गुंजन अग्रवाल को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने अपना बहुमूल्य समय इस पुस्तक के संशोधन में दिया, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना उनके इस सहयोग से मुक्त होने के समान है। अन्त में मनसावाचाकर्मणा जिन-जिन बन्धुओं ने इस पुस्तक के लेखन व प्रकाशन में सहयोग दिया, उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

भगवद्गीता-जयन्ती

( मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी,  
कलियुगाब्द 5115, वि०सं० 2070,  
12 दिसम्बर, 2013 ई० )

—हर्षवर्धन सिंह तोमर

‘आराधना’, सरदारपुरा,  
देवास गेट, उज्जैन ( म०प्र० )

# विषय-सूची

भूमिका	बालमुकुन्द पाण्डेय	(iii)
आत्म निवेदन		(xxvii)

अध्याय		पृ सं०
अध्याय 1	विषय-प्रवेश	1
अध्याय 2	अपराध व दण्ड-विधान की पूर्व-परम्परा	15
अध्याय 3	मनु एवं मनुस्मृति का परिचय, उसका संकलन तथा संकलनकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	68
अध्याय 4	विधि-निषेध : अपराध की प्रारम्भिक अवधारणा	119
अध्याय 5	मनुस्मृति में वर्णित अपराध एवं दण्ड का स्वरूप एवं चिन्तन	151
अध्याय 6	न्याय-विधान की परम्परा और क्रियान्वयन	216
अध्याय 7	उपसंहार	275
आधार-ग्रन्थ-सूची		287

# 1.

## विषय-प्रवेश

# भा

रतवर्ष का अतीत अत्यन्त गौरवशाली रहा है। विश्व के अन्य देशों ने सभ्यता व संस्कृति के विकासक्रम में जहाँ अपनी जीवन-पद्धति में भौतिकवादी दर्शन को सर्वोच्चता प्रदान की, वहीं भारतीय मनीषियों ने अपनी संस्कृति, सभ्यता में धर्म-दर्शन व अध्यात्म को प्रमुखता दी है। अपने इसी तात्त्विक दर्शन के बल पर भारत ने विश्व को ‘अहं ब्रह्मास्मि’ का सूत्र दिया। मनीषियों ने अपनी मनीषा से ‘आत्मवत्सर्वभूतानि’<sup>1</sup> -जैसे गूढ़ार्थ ज्ञान को सञ्चारित करते हुए मानव-कल्याण के निमित्त ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’<sup>2</sup> -जैसे वैचारिक उद्घोष को विश्व की आदिम संस्कृतियों में प्रचारित व प्रसारित किया। मानव-कल्याण की उत्कट भावनाओं से ओतप्रोत भारतीय-मनीषा में विचारों का ऐसा गाम्भीर्य, उदारता और व्यापकता है जो विश्व की सभी संस्कृतियों को अपने अंदर समाहित करने का सामर्थ्य रखती है। यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक अनेक सांस्कृतिक

1. पंचतंत्र, मित्रभेद प्रथम तन्त्र, 19.435

2. वही, अपरीक्षितकारक पञ्चम तन्त्र, 4.38

आक्रमणों को झेलने व उनके दुष्परिणामों को आत्मसात् करने के पश्चात् भी भारतीय-संस्कृति विश्व में अपनी मूल्यपरक विशिष्टता को बनाए रखने में सफल रही है।

भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही आदर्शपरक नियमों को विधि के रूप में मान्यता प्रदान की गई है, और इन नियमों के द्वारा ही भविष्य की विविध व्यवस्थाओं से संबंधित गतिविधियों और परिस्थितियों को नियमित-संयमित करने का प्रयास किया जाता है। विधि और विधानों पर युग का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है, इसलिए विधि को कालविशेष तक सीमित नहीं किया जा सकता। नियम-विधान का निर्माण स्वतः एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम होता है। इसमें अतीत में हुए परिवर्तनों और युग के साथ होनेवाले क्रमिक विकास को समाहित किया जा सकता है। वे समकालीन परिस्थितियों का परिणाम होते हैं। इसीलिए कालविशेष में होनेवाले बदलावों के कारण विधिक व्यवस्था का स्वरूप सदैव परिवर्तनीय रहा है, और अपने इसी स्वरूप में वह व्यक्ति व समाज को संशोधन-परिवर्धनयुक्त नियमों के द्वारा अनुशासित करना चाहती है।

चिन्तन व नियम-विधानों का प्रादुर्भाव सदैव युगयुगीन तत्कालीन समाज की व्यवस्थाओं व उनमें व्याप्त विसंगतियों के उन्मूलनार्थ होता है। वैदिककालीन श्रुति-परम्परा का अनुसरण करनेवाली इस देदीप्यमान संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष के वास्तविक निहितार्थ को समझने व उसकी सांगोपांग व्याख्या के लिए धर्मग्रन्थ महत्त्वपूर्ण स्रोत रहे हैं। धार्मिक ग्रन्थों के रूप में संकलित इन नियम-विधानों ने भारतीय जीवन-पद्धति को प्रभावित करते हुए, युगानुरूप होनेवाले सामाजिक परिवर्तनों में आवश्यक संशोधन-परिमार्जन के साथ भारतीय संस्कृति की मूल्यपरक विशिष्टता को बनाए रखा। चिन्तकों-मनीषियों ने धार्मिक ग्रन्थों के रूप में संकलित इन नियम-विधानों के द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों को सहेजने का अनुपम व अद्वितीय कार्य किया। इस प्रकार का प्रयास तत्कालीन भारतीय-जीवन के अनुकूल ही नहीं था वरन् यह आज तक प्रासंगिक बना हुआ है। प्रारम्भ से ही भारतीय मनीषा की यह उल्लेखनीय विशेषता रही है कि मनीषियों ने समाज को सुव्यवस्थित और अनुशासित करने व व्यक्ति के विशृंखलित स्वरूप को नियमित-संयमित करने के लिए धर्ममूलक सामाजिक विधि-विधानों के गठन के लिए कुछ विशिष्ट आदर्शों व उद्देश्यों से युक्त नैतिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक व्यवस्थाओं के सफल



क्रियान्वयन के लिए संबंधित विधिक उपादानों को धर्मग्रन्थों के रूप में संकलित कर लिया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि युगविशेष की अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति और संस्कृति होती है, जिसमें विभिन्न शंकाएँ व समस्याएँ अंतर्निहित रहती हैं। वेद, ब्राह्मणों, आरण्यकों, स्मृतियों, पुराणादि धार्मिक साहित्यों में संकलित विस्तृत चिन्तन, दर्शन से प्रथमतः जीवन-पद्धति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला जा सकता है तो दूसरी और प्रशासनिक एवं वैधानिक जीवन के विभिन्न घटकों को इसी चिन्तन के माध्यम से समझा जा सकता है।

धर्मप्रवण भारतीय-समाज का मूलाधार प्रारम्भ से वैदिक संस्कृति रही है और निःसन्देह स्मृतियाँ इसी संस्कृति का सुफल हैं। वेदकाल से ही चिन्तनशील मानव-समाज की परिवर्तित जीवन-पद्धति को सुनियोजित स्वरूप प्रदत्त करने के लिए विभिन्न संस्थाओं का निर्माण होता रहा। व्यक्ति के नैतिक पतन के कारण एवं गतिशील सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों और उसके तदनुरूप वैदिक मान्यताओं के निर्वहन के लिये समय-समय पर इन संस्थाओं के द्वारा नियम-विधान बनाए गये। इन्हीं नियम-विधानों के माध्यम से समाज में किन्हीं कारणों से व्याप्त विषमताओं एवं अव्यवस्थाओं को समाप्त करने का प्रयास भी किया जाता रहा है। इन्हीं संस्थाओं द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार के नियम-विधानों को समाज की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप संशोधित-परिवर्धित करते हुए आचार-संहिता के रूप में वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-साहित्य के रूप में संकलित कर लिया गया। इन सभी ग्रन्थों में वैदिक मान्यताओं के सम्पोषण का भाव दर्शित होता है। इसी धर्मसूत्र-साहित्य की भित्ति पर धर्मशास्त्रीय साहित्य ‘स्मृतियों’ की रचना की गयी।

स्मृतियों में आचार-संहिता के रूप में नियम-विधानों के संकलन का सर्वप्रथम प्रयास *मनुस्मृति* के रूप में परिलक्षित होता है। *मनुस्मृति* का संकलन तत्कालीन समाज की आवश्यकता के अनुरूप था, क्योंकि यह युग वैदिक मान्यताओं की पुनर्स्थापना का था। बौद्ध व जैन-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों ने वैदिक मान्यताओं एवं व्यवस्थाओं पर आक्षेप किया जिससे तत्कालीन समाज में प्रचलित व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न होने लगीं। इस आक्षेप के कारण वर्णाश्रम-धर्म की अवहेलना, वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति असम्मान-जैसी भावनाओं को बल मिला। इन्हीं विकृतियों के कारण व्यक्ति व समाज को अनुशासित करने के लिए स्थापित वैदिक नियम-विधानों की आवश्यकता महसूस की गयी। ऐसी ही आवश्यकता के

फलस्वरूप चिन्तकों-मनीषियों के द्वारा वैदिक नियम-विधानों को *मनुस्मृति* के रूप में संकलित किया गया। इसके अंतर्गत विभिन्न नियमोपनियमों का विधान करते हुए तत्कालीन समाज में व्याप्त अव्यवस्थाओं व व्यक्ति के दुराचरण को नियन्त्रित करने के लिए विधि की आवश्यकता पर बल दिया गया। ऐसी ही आवश्यकता वर्तमान समाज के विशृंखलित होते स्वरूप की रोकथाम के लिए अवश्यम्भावी प्रतीत होती है। वर्तमान में भी संशोधन-परिवर्द्धन के साथ इसके विधानों के औचित्य को नकारा नहीं जा सकता।

*मनुस्मृति* में व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक नियम-विधानों की विस्तृत परम्परा से आबद्ध किया गया है। इस प्रकार के नियम-विधान व्यक्ति व समाज के लिए उपयोगी कहे जा सकते हैं। व्यक्तिगत शुद्धता तथा पवित्रता ऐहिक-पारलौकिक सुख-समृद्धि, राजकीय नियम, दण्ड-विधान, सामाजिक आचार-व्यवहार से संबंधित नियमों को इस ग्रन्थ में स्थान दिया गया है जिसका अनुसरण कालान्तर के धर्मशास्त्रकारों द्वारा किया गया। इन नियम-विधानों के आलोक में व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की अवधारणा फलीभूत होती प्रतीत होती है।

*मनुस्मृति* से पूर्व के सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य में करणीय व अकरणीय कार्यों को स्पष्ट करते हुए कृत्यों के परिणामों को धर्म एवं नैतिकता के साथ सम्बद्ध किया गया है। *मनुस्मृति* में इस प्रकार के कृत्यों को अपराध मानते हुए उनका संबंध धर्म, नैतिकता के साथ-साथ राज्य, समाज और विधि से जोड़ने का प्रयत्न मिलता है। इसलिए इस ग्रन्थ को प्राचीन काल से वर्तमान तक ‘**करणीयाकरणीय धर्म्याधर्म्य**’ के रूप में मान्यता प्राप्त है। जहाँ इसमें एक ओर अकरणीय कृत्यों को अधोगति व पतन का कारक माना गया है, वहीं दूसरी ओर करणीय कृत्यों अथवा धर्माचरण को लौकिक-पारलौकिक सर्वतोभावेन सुख-समृद्धि के रूप में स्थापित किया गया है। इसमें अकरणीय कृत्यों के अतिरिक्त विधिविहित कार्यों के उल्लंघन के लिए स्थापित न्यायिक-प्रक्रिया के द्वारा दण्ड दिए जाने का प्रावधान एवं धर्म की स्थापना का भाव भी मिलता है। *मनुस्मृति* की यही विशिष्टता उसे अन्य ग्रन्थों की तुलना में महत्ता प्रदान करती है। यदि *मनुस्मृति* को ‘प्राचीन भारत के सर्वप्रथम ऐतिहासिक विधि-ग्रन्थ’ की उपमा से अभिहित किया जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जनमानस को निश्चित नियम-विधानों से

शासित करते हुए उसके सर्वतोभावेन विकास का मार्ग प्रशस्त करनेवाले इस महानतम ग्रन्थ को स्मृतियों में प्राचीनतम विधिशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसलिए समय-समय पर भारतीय समाज में निर्मित अव्यवस्थाओं-विसंगतियों के उन्मूलनार्थ इस ग्रन्थ की पुनर्व्याख्या होती रही है। निःसन्देह वर्तमान भारतीय-समाज के तत्कालीन परिदृश्य व उस पर होते पाश्चात्य संस्कृति के प्रबल आक्षेपों और फलस्वरूप ध्वस्त होती संस्कृति, परम्पराओं, मान्यताओं के विश्रृंखलन से उपजे भयग्रस्त वातावरण में प्राचीन सांस्कृतिक व विधिक मूल्यों की आवश्यकता महसूस की जा रही है। *मनुस्मृति* में वर्णित नैतिक मूल्यों और विधानों के क्रियान्वयन से वर्तमान युग में व्याप्त विषमताओं को एक निश्चित सीमा में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से नियन्त्रित किया जा सकता है। इस प्रकार के वैधानिक मूल्यों से ही भारतीय संस्कृति पर आज तक पड़नेवाले भौतिकवादी पक्षों के प्रभाव पर अंकुश रखते हुए उसे अक्षुण्ण बनाए रखा जा सका है।

इस प्रकार निश्चय ही भारतीय-विधिशास्त्रीय परम्परा के अंतर्गत वैदिक धर्मग्रन्थों में *मनुस्मृति* का महत्वपूर्ण योगदान है। इस ग्रन्थ का संकलन-काल भारतीय परम्परा में वैदिक पुनरोन्नयन की दृष्टि से विशिष्ट काल कहा जा सकता है। संक्रमणशील परिवेश में ध्वस्त होती संस्कृति व क्षयशील मूल्यों के लिए निर्मित अनेक नियम-विधानों और उनकी अवहेलना पर विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान ही *मनुस्मृति* है। *मनुस्मृति* में वर्णित अपराध व दण्ड-विधान से संबंधित विधानों व तत्कालीन समाज में उनकी मूल्यपरकता और वर्तमान परिवेश में इन नियमों का क्या वैशिष्ट्य हो सकता है, यही इस ग्रन्थ की उपयोगिता है।

वर्तमान के विज्ञानसम्मत, तार्किक और भौतिकवादी युग में धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों, विशेषकर *मनुस्मृति* के समुचित अध्ययन के अभाव में उसमें निहित मान्यताओं पर अनेक आक्षेप लगाए जाते रहे हैं, जिससे वर्तमान भारतीय-जनमानस में *मनुस्मृति* को लेकर भ्रम की स्थिति निर्मित हो गई है। पाश्चात्य जीवनशैली और शिक्षा-पद्धति ने राष्ट्रीय स्वाभिमान के प्रतीक मान-विन्दुओं के प्रति वर्तमान पीढ़ी के मन में असम्मान का भाव जाग्रत किया है। इसके अन्यत्र स्वतंत्रतापूर्व व पश्चात् के विद्वानों ने भारतीय ग्रन्थों में वर्णित विधानों का उपहास उड़ाते हुए पाश्चात्य संस्कृति की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त विश्व-परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए, निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति,

मान्यताएँ व परम्पराएँ होती हैं। इन्हीं के अनुरूप वहाँ का संविधान व विधान निर्मित किया जाता है। परन्तु भारतभूमि की विडम्बना यह है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भी भारतीय जनमानस को ब्रिटिश विधान के द्वारा अनुशासित किया जा रहा है। हमारी प्राचीन न्यायिक व्यवस्था की अवहेलना की जा रही है जो सर्वथा अनुकूल नहीं है। वर्तमान परिवेश में विघटित होती सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक व्यवस्था व्यक्ति के नैतिक पतन व बढ़ते अपराधों के लिए अंशतः वर्तमान न्यायिक व्यवस्था उत्तरदायी है। धर्मशास्त्रों, विशेषकर *मनुस्मृति* में विधि-विधान की जो स्वस्थ परम्परा आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व विकसित हुई, उसके प्रति भारतीय जनमानस में आत्मगौरव का भाव होना चाहिए। प्राचीन धर्मशास्त्रों में संकलित विधि-विधानों की वर्तमान परिवेश में महती आवश्यकता है। इसके अन्यत्र इतिहास व विधि का विद्यार्थी होने के कारण हमारा उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता है कि हम हमारी प्राचीनतम गौरवशाली परम्परा को पुनरोद्घाटित करने का प्रयास करें। *मनुस्मृति* में वर्णित विधि-विधानों के वर्तमान औचित्य की इतिहाससम्मत विवेचना से इसके मूल्यपरक औचित्य को सिद्ध किया जा सकता है तथा उन विसंगतियों का निराकरण भी किया जा सकता है, जो भारतीय इतिहास में सोद्देश्य उत्पन्न की गई हैं।

प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि 'मनुस्मृति' विषय पर प्रस्तुत अध्ययन सर्वथा अभिनव नहीं है, क्योंकि जब-जब भारतीय-समाज सांस्कृतिक क्षरण के दौर से होकर गुजरा है, तब-तब धर्मग्रन्थों में वर्णित व्यवस्थाओं के प्रकाश में ही उन अव्यवस्थाओं के निष्पादन का प्रयास किया गया है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में पुरा-नूतन का अद्भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। *मनुस्मृति* पर अध्ययन का क्रम वस्तुतः नवीं शताब्दी में मेधातिथि द्वारा की गई व्याख्या के साथ प्रारम्भ हो चुका था। इसके अन्यत्र समय-समय पर विभिन्न विद्वानों, यथा— गोविन्दराज (1050-1080), कुल्लूक भट्ट (1150-1300) ने कालविशेष में *मनुस्मृति* की व्यवस्थाओं को प्रासंगिक मानते हुए पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया। युगानुरूप व अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण *मनुस्मृति* ने 20वीं शताब्दी से ही विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इन ग्रन्थों में केवल मोटवानी के ग्रन्थद्वय 1. 'मनु : ए स्टडी इन हिंदू सोशल थ्योरी' <sup>1</sup> तथा 2.

1. 'Manu: A Study in Hindu Social Theory', by Kewal Motwani, Published by Ganesh & Co., Madras, 1934, pp.xxvii + 261, price Rs. 3.

‘मनुशास्त्र’<sup>1</sup> महत्वपूर्ण हैं। कलकत्ता से 1930 में प्रकाशित श्री काशी प्रसाद जायसवाल (1881-1937) के ग्रन्थ ‘मनु एण्ड याज्ञवल्क्य’<sup>2</sup> का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। ‘धर्मशास्त्र’ विषय पर अभी तक किए गए कार्यों का समुचित विश्लेषण ‘भारत-रत्न’ से सम्मानित विद्वान् महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे (1880-1972) द्वारा किया गया है, जिसकी परिणति है उनका 5 खण्डों में ‘हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र’<sup>3</sup> नामक ग्रन्थ। अपनी इस अद्वितीय रचना में काणे महोदय ने वैदिक ग्रन्थों से लेकर स्मृति-ग्रन्थों में प्रतिबिम्ब भारतीय जीवन से संबंधित विविध पक्षों को विवेचित करने का महान्, अनुपम व सराहनीय कार्य किया है। इस विशाल ग्रन्थ का हिंदी-अनुवाद लखनऊ से 5 खण्डों में प्रकाशित हुआ है।<sup>4</sup> इसी प्रसंग में श्री सत्यमित्र दुबे के ग्रन्थ ‘मनु की समाज-व्यवस्था’<sup>5</sup> का उल्लेख भी किया जा सकता है। श्री लक्ष्मीदत्त ठाकुर का लखनऊ से 1965 ई. में प्रकाशित ग्रन्थ ‘प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन’ भी मनुस्मृति में वर्णित नियमन-संयमन के विविध पक्षों के निहितार्थों की व्याख्या करता है। श्री हरिहरनाथ त्रिपाठी की कृति ‘प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका’<sup>6</sup> प्राचीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था को विश्लेषित करने का सार्थक प्रयत्न है। डॉ. शिवाजी सिंह (जन्म : 1937) ने अपने ग्रन्थ ‘इवॉल्यूशन ऑफ़ द स्मृति लॉ’<sup>7</sup> में स्मृतियों के विधि-विधानों के अस्तित्व में आने और विकास की दृष्टि से उपयोगी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, भौगोलिक आदि कारणों का विज्ञानसम्मत, ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसके अन्यत्र

1. *Manu Dharma Shastra*, by Kewal Motwani, AM, Ph.D., Published by Ganesh & Co., Madras, 1958
2. *Manu and Yajñavalkya : A Comparison and a Contrast, A Treatise on the Basic Hindu Law*, by K.P. Jayaswal, Published by Butterworth, Calcutta, 1930
3. *History of Dharmashastra : Ancient and Medieval Religious and Civil Law in India* (5 Vols. In 8 Parts), Published by Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune, 1930-1962, No. of pages : Approx. 6,500 pages
4. *धर्मशास्त्र का इतिहास* (5 खण्ड), अनुवादक : अर्जुन चौबे काश्यप, प्रकाशक : उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1966, 5 खण्डों की कुल पृष्ठ सं. : लगभग 2,700
5. प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद, 1964
6. प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965
7. *Evolution of the Smṛti Law : A Study in the Factors Leading to the Origin and Development of Ancient Indian Legal Ideas*, by Shivaji Singh, Published by Bharatiya Vidya Prakashana, 1972

सुश्री अनिता स्वर्णकार के अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध ‘धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण : मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में’<sup>1</sup> का विशेषोल्लेख किया जा सकता है। इसमें मनु एवं याज्ञवल्क्य-स्मृतियों की पृष्ठभूमि के साथ वर्णित विधि-निषेधों की सामाजार्थिक विवेचना प्रस्तुत की गई है। डॉ. श्याम नारायण सिंह के ग्रन्थ ‘प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि’<sup>2</sup> प्राचीन भारतीय-विधिक व्यवस्थाओं, अपराधों के वर्गीकरण, न्यायालयों का संगठन, न्यायिक प्रक्रिया को विवेचित करने का सराहनीय प्रयास है। इसके अन्यत्र मेरे स्वयं के लघु शोध-प्रबन्ध ‘मनुस्मृति में वर्णित अपराध व दण्ड-विधान’<sup>3</sup> में भी अपराध, दण्ड स्वरूप, प्रकार, औचित्य, उत्पत्ति-जैसे पक्षों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। किन्तु मेरा यह प्रयास वर्तमान न्याय-प्रणाली के साथ मनुस्मृति में वर्णित विधानों के तारतम्य को लेकर मौन है। इसीलिए यह पुस्तक मेरे द्वारा पूर्व में किए गए कार्य की पूर्णता का प्रयत्न है।

निःसन्देह उपर्युक्त सभी ग्रन्थ अपने विषय और समय के महत्वपूर्ण सार्थक प्रतिमान हैं। इन ग्रन्थों में विषय-वस्तु के रूप में सभी पक्षों को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। ये ग्रन्थ मनुस्मृति के विविध पक्षों के वैशिष्ट्य को तो प्रतिपादित करते हैं, किन्तु कालविशेष में आचार-संहिता के इस अद्वितीय ग्रन्थ के महत्व को लेकर उदासीन हैं। जबकि प्रस्तुत पुस्तक ‘मनु का दण्ड-विधान’ मात्र मनुस्मृति में वर्णित नियम-विधानों पर आधारित है। ये नियम-विधान किन अपराधजन्य परिस्थितियों में उत्पन्न हुए, उनके दण्ड का क्या स्वरूप या न्यायदान की क्या प्रक्रिया रही और वर्तमान विधि व उसके क्रियान्वयन-संबंधी विधि-विधान पर इसका कितना प्रभाव है, आदि के समग्र आकलन का एक विनम्र प्रयास है।

वर्तमान सांस्कृतिक विशृंखलन और विषम परिस्थिति के विषाक्त वातावरण में आवश्यकता है कि अपनी प्राचीन सांस्कृतिक, साहित्यिक विरासत से इन समस्याओं के निराकरण का प्रयास किया जाये। वस्तुतः अद्यतन को नव-अद्यतन के रूप में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया ही भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता है। समय-समय पर विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित व्यवस्थाओं से संबंधित

1. प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, उज्जैन, 2002
2. प्रकाशक : स्वाति पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 2004
3. विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, 2007

विधानों का समसामयिक परिवेश के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। पुरा-परम्पराओं, विधानों की पुनर्व्याख्या व संकलन, भारतीय जीवनशैली का एक अंग है। ऐसी ही कुछ परिस्थितियाँ भारत में मुस्लिम व ब्रितानी साम्राज्य की स्थापना के साथ निर्मित हुईं, और जिनका निराकरण स्वाधीनता के पश्चात् होना था, किन्तु विडम्बना रही कि भारत कमोबेश अपने इस उद्देश्य में सफल नहीं हो सका और अपनी सांस्कृतिक अमूल्य विरासत को विस्मृत कर गया। इसका स्पष्ट प्रभाव वर्तमान भारतीय-जीवन के विविध क्षेत्रों में व्यापक रूप से देखने को मिलता है। ब्रितानियों द्वारा भारत में स्थापित पाश्चात्य चिन्तन ने सम्पूर्ण भारतीय जीवन को पतनोन्मुख कर दिया है। इस वैचारिक परिवर्तन ने हमें हमारे मूल्यपरक चिन्तन से न सिर्फ दूर किया, वरन् हमें आत्मविस्मृत भी कर दिया। वर्तमान भारत की दुर्दशा के लिए अंग्रेजों द्वारा स्थापित मान्यताएँ ही उत्तरदायी हैं। सांस्कृतिक विशृंखलन के इस भयाकुल संशयग्रस्त, आत्मविस्मृति के वातावरण में आवश्यकता है कि अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों में निहित राष्ट्रीय अस्मिता के विविध विषयों की वर्तमान परिवेश के अनुरूप पुनर्व्याख्या की जाए और भारतीय जनसामान्य के आत्मविस्मृत हो चुके स्वाभिमान को पुनः जाग्रत किया जाये। *मनुस्मृति* में वर्णित नैतिक मूल्यों व विधिक उपबन्धों के वर्तमान औचित्य की इतिहासमूलक गवेषणा ही इस ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य है।

निश्चित ही *मनुस्मृति* में वर्णित किसी भी व्यवस्था पर लेखन करना एक जटिल विषय है। भारत में वेदकाल से ही यह ऐतिहासिक विचारणा प्रचलन में रही है कि स्वयं मनु ही सृष्टि के प्रथम आदिनियन्ता व प्रजापालक हैं। ऐसे में मनु के या उनके मंतव्यों के संकलित अभिधान पर अपनी तर्कसंगत, मूल्यपरक व्याख्या प्रस्तुत करना, वो भी ऐसे समय में, जब मनु के द्वारा स्थापित मान्यताओं व व्यवस्थाओं पर कुठाराघात हो रहा हो, निःसन्देह दुष्कर कार्य है। वस्तुतः यह ग्रन्थ *मनुस्मृति* में वर्णित नियम-विधानों की शाश्वत परम्परा का वस्तुपरक इतिहाससम्मत विश्लेषण करने का प्रयासमात्र है। प्रस्तुत पुस्तक में सांस्कृतिक प्रतिमानों की सुरक्षा के साथ-साथ समय एवं समाज की मांग के अनुरूप प्रगति एवं समृद्धि हेतु प्रचलित अव्यवस्थित भौतिकवादी व्यवस्थाओं और नैतिक विशृंखलन से प्रादुर्भूत हुई समस्याओं का धर्ममूलक नियम-विधानों के आलोक में निराकरण और साथ ही वैचारिक वैविध्य के वर्तमान समय में उन वैदिक

परम्पराओं व मान्यताओं का सूक्ष्म विश्लेषण करने का प्रयास है, जिसकी समसामयिक परिवेश में महती आवश्यकता है। इसके अन्यत्र वर्तमान विधिक व्यवस्थाओं के दोषों के निराकरण और तदनुरूप *मनुस्मृति* में सर्वप्रथम वर्णित हुए अपराध व दण्ड-विधान का वर्तमान न्यायिक विधान के आधार-स्तम्भ के रूप में अध्ययन भी है। *मनुस्मृति* में वर्णित अपराध व दण्ड-विधान के विविध विवादित पक्षों, जैसे— नारीविरोधी-वचन, शूद्रविरोधी-वचन, कठोर दण्ड-विधान की विज्ञानसम्मत तार्किक गवेषणा ही ग्रन्थ का मूलोद्दिष्ट है।

प्रस्तुत ग्रन्थ *मनुस्मृति* पर आधारित है। अन्य ग्रन्थों की तरह ही *मनुस्मृति* की अपनी कुछ सीमाएँ हैं, प्रथमतः तो निश्चित प्रमाणिक साक्ष्यों के अभाव में यह कह पाना सम्भव नहीं कि *मनुस्मृति* की संकलन-तिथि क्या है। सामान्यतया द्वितीय शताब्दी ई पू से प्रथम द्वितीय शताब्दी ई के मध्य की तिथि *मनुस्मृति* की संकलन-तिथि मानी जाती है, जिसकी बाद में युक्तिसंगत विवेचना की जायेगी; द्वितीय, *मनुस्मृति* को एक निश्चित भौगोलिक आवरण की सीमा-रेखा में समाहित कर पाना सम्भव नहीं लगता। यद्यपि प्रकट रूप में *मनुस्मृति* एक संकलित साहित्य है जिसमें सहस्राब्दियों की मान्यताएँ सम्मिलित हैं। किन्तु युगबोध के अनुरूप इन्हें उक्त तिथि देने का प्रयास किया गया है। वैदिक परम्परा के पोषक व सनातन संस्कृति के पथ-प्रदर्शक इस ग्रन्थ में वर्णित तथ्यों के संकलन में विविध दृष्टियों से सावधानी व पारदर्शिता बरती गई है, क्योंकि इस ग्रन्थ का स्वरूप निर्देशात्मक है न कि आज्ञात्मक। इन परिस्थितियों में इस ओर भी ध्यान दिया गया है कि कौन-से तथ्य परम्परागत हैं और कौन-से परिस्थितिजन्य। यह अध्ययन इन निर्देशों को ध्यान में रखकर आदर्शपरक सन्दर्भों की यथासम्भव व्यावहारिक पृष्ठभूमि पर युक्तिसंगत गवेषणा की चेष्टा का परिणाम है। निःसन्देह यह भी उल्लेख कर देना भी युक्तिसंगत होगा कि निश्चित मापदण्डों के अभाव में प्रत्येक व्यवस्था से संबंधित परिज्ञान सम्भव नहीं है। ग्रन्थ को वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए समकालीन साहित्यिक, वैदिक व सूत्रग्रन्थों, महाकाव्यादि के साक्ष्यों का उपयोग किया गया है। मत-पुष्टि एवं भाव-सम्बलन के लिए पुरातात्विक, मौद्रिक, आभिलेखिकादि आवश्यक साक्ष्यों का भी विषय-प्रामाणिकता के लिए उपयोग किया गया है।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि जब-जब भारत पर सांस्कृतिक प्रहार हुए, तब-तब सनातन संस्कृति ने अपने धर्ममूलक सिद्धान्तों के बल पर इन प्रहारों के

प्रभाव को आत्मसात् करते हुए उन्हें अपनी जीवन-धारा में समाहित कर लिया। समय के साथ रूढ़ होती परम्पराओं व मान्यताओं को पुनर्व्याख्या के द्वारा धर्म-साहित्य के रूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। वर्तमान युग भी सांस्कृतिक संक्रमण का है, जिसमें हम हमारी सांस्कृतिक विरासत की उपेक्षा कर रहे हैं जो 'राष्ट्र'-रूपी अवधारणा के लिए विनाशकारी है। प्रस्तुत पुस्तक का सम्भावित निष्कर्ष *मनुस्मृति* में वर्णित विधि-विधानों के आलोक में संशोधन-परिवर्द्धन के साथ वैभवसंपन्न प्राचीन भारतीय व्यवस्थाओं का युगानुरूप पुनर्निर्माण करना है। प्रस्तुत पुस्तक को सात अध्यायों में विभाजितकर अध्ययन को सारगर्भित रूप से विश्लेषित करते हुए सम्पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ इन सभी शीर्षकों की संक्षिप्त व्याख्या करना भी विषयानुरूप होगा।

प्रथम अध्याय प्रस्तावना के रूप में व्याख्यायित है जिसके प्रारम्भ में विषय की प्रारम्भिक रूपरेखा व विषय-परिचय है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि *मनुस्मृति* विषय पर प्रस्तुत अध्ययन सर्वथा अभिनव नहीं है। इस अध्याय में विषय अभिरुचि के साथ-साथ पूर्व में किए गए कार्यों की संक्षिप्त जानकारी व उनकी महत्ता को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित शोध-ग्रन्थों की अपनी सीमाएँ हैं, और ये सभी ग्रन्थ *मनुस्मृति* के विविध पक्षों को उद्घाटित करने का सार्थक प्रयास हैं। इनके औचित्य व महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत अध्ययन केवल मनु के विधि-विधानों की मूल्यपरकता को लेकर है, जिसमें कुछ निश्चित उद्देश्यों के साथ विषय को व्याख्यायित करने का सार्थक प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय में *मनुस्मृति* से पूर्व की अपराध, दण्ड व न्याय-विधान की परम्परा को व्याख्यायित किया गया है। *मनुस्मृति* के उद्घरणों से स्वतः ही वैदिक धर्म (विधि) की मान्यताओं व परम्पराओं के पोषण का भाव दर्शित होता है। निश्चित ही धर्मशास्त्रीय विधि-विधानों की वैधानिकता ही प्रायः उनकी श्रुतिसम्मत होने से है। इसलिये भारतीय-समाज एवं संस्कृति के विविध पक्षों के सूत्र वैदिक साहित्य में ढूँढ़ने का प्रयास किया जाता है और यही पक्ष अपराध एवं दण्ड-विधानों के सन्दर्भ में उपयुक्त लगता है। श्रुति एवं सूत्र-साहित्य के प्रकाश में धर्मशास्त्रीय नियम-विधानों के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि भी होती है। धर्मशास्त्रीय विधि-विधान व दण्डीय सिद्धान्त जहाँ सूत्रों पर आधारित दिखाई देते हैं, वहीं सूत्रों में वर्णित विधानों का संहिता एवं ब्राह्मण में वर्णित सन्दर्भों से

अंतर्संबंध लक्षित होता है। प्रस्तुत अध्याय को तीन चरणों— 1. पूर्व-वैदिककाल, 2. उत्तर-वैदिककाल व 3. सूत्रकाल में विभाजितकर समग्र बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में वैदिक ग्रन्थों के संकलन की तिथि के सन्दर्भ में पूर्व के विद्वानों के द्वारा ग्राह्य वैदिक ग्रन्थों के तिथिक्रम का संक्षिप्त वर्णन करते हुए तिथियों को नवीन अनुसन्धानों के प्रकाश में स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

इस ग्रन्थ का तृतीय अध्याय मनु व *मनुस्मृति* के परिचय से संबंधित है। प्रारम्भ से ही जनसामान्य व विद्वानों के मस्तिष्क में मनु एवं *मनुस्मृति* के सन्दर्भ में अनेक जिज्ञासाएँ सदैव बनी रही हैं और इन जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयास अनेक बार चिन्तकों व मनीषियों के द्वारा किया गया, किन्तु उनमें से अनेक जिज्ञासाओं का अन्तिम रूप से निराकरण वर्तमान तक नहीं हो सका है। मनु व *मनुस्मृति* आधुनिक इतिहास-लेखन की जिज्ञासा का विषय है, किन्तु कदाचित् यह समस्या का विषय नहीं है। मनु कौन थे और *मनुस्मृति* किसकी और किस काल की रचना है—जैसे जटिल प्रश्नों का ऐतिहासिक साक्ष्यों के प्रकाश में निराकरण करने का प्रयास किया गया है। वस्तुनिष्ठता व समग्रता की दृष्टि से प्राचीन परम्पराओं के साथ वर्तमान मनुगत अवधारणाओं के माध्यम से शोध-विषय की कठिन जिज्ञासाओं का समाधान निकालने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में इस पर भी सूक्ष्मता से चिन्तन किया गया है कि भारतीय संस्कृति में युगानुरूप मनुओं की कोई परम्परा रही है, या फिर मनु ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रतीकमात्र हैं। इस विषय को भी ध्यान में रखा गया है कि *मनुस्मृति* किसी एक मनु की ही रचना है या फिर मनुओं के विचारों का संकलनमात्र है। वर्तमान *मनुस्मृति* से पूर्व भी कोई *मनुस्मृति* प्रचलन में थी ? वस्तुतः वर्तमान तक यही धारणा प्रखर बलवती रही है कि वैदिक व सूत्रकाल के पश्चात् समयानुरूप बदलते जनजीवन के परिदृश्य के अनुरूप समय-समय पर नियम-विधानों को संशोधित-परिवर्धित करते हुए स्मृति-ग्रन्थों के रूप में संहिताबद्ध कर लिया गया। इन स्मृतियों में वर्णित नियम-विधान ही व्यक्ति और समाज के लिए विधिक उपबन्ध थे। समाज के परिवर्तित होते स्वरूप के अनुरूप समय-समय पर विधि-विधानों के रूप में अनेक स्मृतियों का संकलन हुआ जिसके प्रारम्भ का श्रेय *मनुस्मृति* को जाता है। उक्त अध्याय में *मनुस्मृति* की संकलनकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को विवेचित किया गया है व साथ ही मनु की सर्वव्यापी प्रतिष्ठा और माहात्म्य को वर्णित किया गया है।



चतुर्थ अध्याय विधि-निषेध के रूप में अपराध की प्रारम्भिक अवधारणा से संबंधित है। अपराधों के ऐतिहासिक अनुशीलन से स्वतः ज्ञातव्य है कि व्यक्ति के जीवन को अनुशासित करनेवाले नैतिक मूल्यों की अवनति ही अपराध की उत्पत्ति का कारण होती है। मूलतः *मनुस्मृति* नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन करनेवाली एक आचार-संहिता है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति को एक आचार-पद्धति में आबद्ध करती है। इस अध्याय में मनु के द्वारा प्रतिपादित विधि के प्रारम्भिक स्वरूप की व्याख्या की गई है। मनु की सामाजिक विधि और उसके विविध उपबन्ध क्या हैं, *मनुस्मृति* में किन स्वरूपों के अंतर्गत विधि-निषेधों की चर्चा की गई है, इन पर इस अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। *मनुस्मृति* में उल्लिखित पातक व महापातक-संबंधी विधानों के साथ-साथ विधि-निषेध व उसके अंतर्गत निर्मित व्यवस्थाओं को भंग करने पर दिए जानेवाले दण्डों को प्रायश्चित्त-विधि के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है।

पञ्चम अध्याय शोध-विषयानुरूप अपराध एवं दण्ड के स्वरूप, चिन्तन व वर्गीकरण से संबंधित है। इस अध्याय में 'अपराध' शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की गई है। ग्रन्थ में वर्णित अपराधों की परिभाषा व व्याख्या के अतिरिक्त अन्य विद्वानों द्वारा विश्लेषित परिभाषाओं का भी वर्णन किया गया है। ध्यातव्य है कि सर्वप्रथम *मनुस्मृति* में ही अपराधों का व्यवस्थित क्रमानुसार वर्णन मिलता है। विभिन्न प्रकार के अपराध और उनके लिए उत्तरदायी अपराधजनित परिस्थितियों को गहनता के साथ विश्लेषित किया गया है। *मनुस्मृति* में उल्लिखित अठारह प्रकार के अपराधों के अन्यत्र अनेक आपराधिक दशाओं का भी उल्लेख हुआ है, जो वर्तमान सन्दर्भ में लोककल्याण के विरुद्ध किए गए कार्यों के अंतर्गत अपराध मानी गई हैं। यह अध्याय में ग्रन्थ-वर्णित अपराधों का वर्तमान अपराध व दण्ड-संहिता के साथ तादात्म्य स्थापित करने का भी प्रयास है। अपराधों के साथ-साथ इस अध्याय में दण्ड की उत्पत्ति, दर्शन, आवश्यकता, महत्ता, उद्देश्य, सिद्धान्त, सर्वोच्चता, दण्ड-नीति का प्रतिपादन व क्रियान्वयन, दण्ड व नारी, दण्ड-व्यवस्था पर वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव-जैसे विषयों की सार्थक व्याख्या का प्रयास किया गया है।

षष्ठ अध्याय की विषय-वस्तु के रूप में न्याय-विधान की परम्परा व उसके क्रियान्वयन को समाहित किया गया है। भारतीय-न्यायिक व्यवस्था में अपराधों के उन्मूलन के लिए नियोजित सुगठित व व्यवस्थित न्यायिक व्यवस्था

का प्रयास हमें वेदकाल से ही देखने को मिलता है। *मनुस्मृति* में न्याय-विधान की क्या परम्परा थी, इस सन्दर्भ में इस अध्याय में न्यायिक-प्रशासन से संबंधी सभी विचारगत पहलुओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। न्यायिक-प्रक्रिया के सफल क्रियान्वयन के लिए एक सुगठित विधिक प्रणाली का अस्तित्व में होना अपरिहार्य होता है— यह बात *मनुस्मृति* से उभरकर सामने आती है। विधि-व्यवस्था की सुदृढ़ता के लिए विधि के स्रोत के रूप में *मनुस्मृति* में वेद, स्मृतियों, आचार-परम्परा, आत्मतुष्टि का उल्लेख हुआ है। न्यायिक-प्रशासन और संगठनात्मक संरचना का भी *मनुस्मृति* में विस्तार से उल्लेख हुआ है। इसमें उक्त अपराध के लिए दिए जानेवाले दण्डों और उसके प्रकारों, जैसे— वाक्, धिग, अर्थ, शारीरिक, मृत्यु आदि दण्डों का वर्णन किया गया है।

सप्तम अध्याय के रूप में उपसंहार है जिसमें पुस्तक की सारगर्भित विवेचना करते हुए उक्त कार्य के उद्देश्यों को स्पष्ट करने का प्रयास है।



# 2.

## अपराध व दण्ड-विधान की पूर्व-परम्परा

वर्तमान भारत का स्वरूप वह नहीं है जो सदियों पूर्व था। वर्तमान में प्रचलित व्यवस्थाएँ वे व्यवस्थाएँ नहीं हैं जिन्हें हमारे चिन्तक व मनीषियों ने व्यक्ति के सर्वतोभावेन विकास के लिए निर्मित किया था। इसी प्रकार वर्तमान प्रचलित भारतीय-इतिहास भी वह नहीं, जिसका हमें बार-बार बोध कराया जाता है। वर्तमान परिवेश में नैतिकता का हास, ध्वस्त होती परम्पराएँ, हमारी अमरत्वप्राप्त संस्कृति और उसके सान्निध्य में निर्मित व्यवस्थाओं की उपेक्षा देखने को मिल रही है। इन सबका परिणाम बिखरते परिवार, छिन्न-भिन्न होते रीति-रिवाजों व उससे प्रादुर्भूत हुई अराजकता और खण्डित भारत के रूप में सामने आया है। वस्तुतः यह वह देदीप्यमान भारतवर्ष नहीं है जिसका निर्माण सृष्टि के इतिहास के उस उषाकाल से प्रारम्भ होता है जिसमें मानव को प्रकृति के साथ संलग्न किया गया है। मानव की यह प्रकृतिमूलक अवधारणा उस स्थिति की और संकेत करती है जिसमें 'प्रकृति' को विविध व्यवस्थाओं की अधिष्ठात्री देवी के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है।

शनैः-शनैः यही प्रकृतिमूलक नैतिकता व आचरण-जैसे शब्द समयानुरूप बदलती सामाजिक परिस्थितियों और व्यवस्थाओं के अनुरूप सदाचार, परम्पराओं, सभ्यता, संस्कृति के तदनुरूप विधि-विधानों के रूप में परिवर्तित होते गये। प्रकारान्तर में चिन्तकों व मनीषियों द्वारा नैतिकता के इन मानदण्डों को मानव के सृजन व विकास के लिए और समयानुरूप परिवर्तित होती जीवनशैली के लिए उपयोगी बनाते हुए विधि-विधानों के रूप में संकलित कर लिया गया। विधि-विधानों का यह संकलन मात्र एक विधिक संहिता के रूप में विकसित नहीं हुआ, वरन् यह विकसित हुआ एक विशिष्ट प्रकार की जीवनशैली के रूप में, जिसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' व 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय'-जैसा विश्व का कल्याण करनेवाला भाव समाहित था। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति सृष्टि के प्रथम प्रभात से लेकर सहस्राब्दियों तक सम्पूर्ण विश्व का पथ-प्रदर्शन करती प्रतीत होती है। इस प्रकार की विशिष्ट भारतीय-जीवनशैली के इस नवप्रभात का प्रारम्भ होता है वेदकाल से, जिसमें पुरुषार्थ-चतुष्टय, आश्रम-व्यवस्था, सदाचारण, संस्कार, यज्ञीय विधि, राज्य-विधान, दैनिक कर्मकाण्ड-जैसे आधारभूत सिद्धान्त समाहित थे। इस प्रकार के नियमों के अनुपालन से व्यक्ति स्वयं का विकास करते हुए समाज व राष्ट्र के सर्वतोभावेन विकास के लिए प्रयत्नशील रहता था। यही नहीं, इस पुरातन प्रकाशमयी वैदिक संस्कृति ने मानव-विकास के अग्रिम चरण में उपजती समकालीन विश्वस्तरीय सभ्यताओं का मार्गदर्शन भी किया, साथ ही इसने अपने ऊपर होनेवाले प्रबल सांस्कृतिक आक्षेपों का सामना अपने आत्मबल से किया। वैदिक भारत की विशिष्ट जीवनशैली में निहित प्रगाढ़ दर्शन ने ही कालविशेष में होनेवाली इतिहास की अमानवीय दुर्घटनाओं और उसके फलस्वरूप पड़नेवाले प्रभावों को सहन करने का सामर्थ्य प्रदान किया। भारत के इतिहास में बार-बार होनेवाले बाह्य आक्रमणों ने इस जीवन-पद्धति को नष्ट करने का प्रयास किया। क्रमशः यूनानियों और सीथियनों, फारसवासियों और मुगलों, फ्रांसीसियों व अंग्रेजों ने इस सभ्यता को दबाने का प्रयास किया, किन्तु फिर भी भारतीय-संस्कृति ने स्वयं को सर्वोच्च बनाए रखा। इसलिए भारत पूर्णरूपेण कभी पराजित नहीं हुआ और इसकी आत्मा की वह पुरातन लौ आज भी प्रकाशमान है। अपने सम्पूर्ण जीवन में भारत का एक ही उद्देश्य रहा है, वह है सत्य का संस्थापन और असत्य का प्रतिकार। इसने त्रुटि भले ही की हो, किन्तु इसने वही किया जिसके योग्य इसने

अपने को समझा और जिससे इसकी आशा की गयी। भारतीय इतिहास में मस्तिष्क की अंतहीन गवेषणा के दृष्टांत मिलेंगे जो पुरातन होने पर भी सदा नवीन है।<sup>1</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति की इस पुरातन अलौकिक विशेषता ने ही इसे युगानुरूप होनेवाले सामाजिक परिवर्तनों के पश्चात् भी संशोधन-परिवर्द्धन के साथ नूतन बनाए रखा।

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशिष्ट मनोवृत्ति होती है और उसका झुकाव भी अपनी प्राचीन सभ्यता व संस्कृति के प्रति विशेष रूप से होता है। इतिहास की शताब्दियों के प्रवाह और उन समस्त परिवर्तनों के बीच, जिनके मध्य से भारतीय संस्कृति ने अपनी अविचल दीर्घकालिक यात्रा तय की है, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में वैदिक तत्त्वदर्शन की प्रधानता रही है। वैदिक दर्शन ही 'आर्य' (सभ्य, श्रेष्ठ आचरण के पर्याय) समाज के विधि-विधानों का आधार-स्तम्भ है। प्रस्तुत पुस्तक की मूल विषयवस्तु के प्रणेता स्वयं महर्षि मनु ने भी कहा है कि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'<sup>2</sup>। इसी प्रकार की उक्ति हमें अन्यान्य ग्रन्थों में भी मिलती है। निःसन्देह भारतीय संस्कृति में निर्मित व विकसित हुई मूल्यपरक व्यवस्थाओं का भव्य प्रासाद वेदरूपी सुदृढ़ आधारशिला पर अधिष्ठित है। इसलिए भारतीय-जीवन से संबंधित विविध पहलुओं की सांगोपांग व्याख्या करने से पूर्व वैदिक दर्शन को समझना अत्यावश्यक है। इस विषय की महत्ता इस कथन से प्रमाणित होती है कि जब ऋग्वेद और यजुर्वेद की मूल संहिता पूर्ण हो जाएगी, उस समय हमारे पास इतनी पर्याप्त सामग्री होगी कि हम उनसे निकाले जानेवाले निष्कर्षों का सही-सही मूल्यांकन कर सकेंगे और यह मालूम कर सकेंगे कि राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में हिंदुओं की वास्तविक स्थिति एक ऐसे युग में क्या रही होगी। जो सामाजिक संगठन के अब तक के सबसे पूर्व के उल्लेख, अर्थात् यूनानी सभ्यता के उदय से भी बहुत पहले का समकालीन था और जो अब तक के ज्ञात इतिहास में सबसे प्राचीन असीरियन-साम्राज्य के स्मृति-चिह्नों से पूर्व, सम्भवतः प्राचीन हिब्रू-लेखों के समकालीन था और केवल मिस्र के उन राज्यों का ही परवर्ती था, जिनके विषय में कुछ नामों के अतिरिक्त अभी तक हम बहुत कम जानते हैं; वेद से हमें उन सबके विषय में, जो प्राचीनता के बारे में विचार करने पर

रोचक प्रतीत होता है, बहुत बड़ी जानकारी मिलती है।<sup>3</sup> वैदिक ग्रन्थों के तात्त्विक दर्शन से प्रादुर्भूत हुए तेजोमय ज्ञानतत्त्व को अनेक तर्ककर्मश भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा स्वीकार किया गया है। हिंदू धर्म में भी वेद का स्थान सर्वोपरि माना गया है। शतपथब्राह्मण में स्पष्ट उल्लेख है कि अनेकानेक रत्नों से परिपूर्ण पृथिवी का दान करने से जिन दिव्य लोकों को मनुष्य प्राप्त करता है, उनसे कहीं अधिक अनश्वर लोकों की प्राप्ति वेद के स्वाध्याय से हो जाती है।<sup>4</sup> मनु का कथन है कि वेदवर्णित धर्म का अनुपालन करनेवाला व्यक्ति इस संसार में मरकर भी परम सुख को प्राप्त करता है।<sup>5</sup> इसके अन्यत्र वेद के स्वाध्याय को न करना पाप का कारण माना गया है।<sup>6</sup> प्रतीत होता है कि इस प्रकार की व्यवस्थाओं के मूल में यह कारण विद्यमान रहा था कि व्यक्ति इन अपौरुषेय ग्रन्थों में निहित ज्ञान को आत्मसात् करे और तदनु रूप आचरण करते हुए अपनी सांस्कृतिक विरासत के अनुसार जीवन-यापन करे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेद, विशेषकर ऋग्वेद-जैसे प्रथम अपौरुषेय दर्शन की पृष्ठभूमि पर ही पश्चातवर्ती अन्य व्यवस्थाओं व विधि-विधानों का ग्रन्थों के रूप में संकलन हुआ। इस प्रकार श्रुति-परम्परा के रूप में प्रादुर्भूत व विकसित हुए इन्हीं ग्रन्थों और उनमें वर्णित व्यवस्थाओं ने ही व्यक्ति और समाज को प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान तक अनुशासित व संयमित किया हुआ है।

वर्तमान समय में जितने भी मत-मतान्तर प्रचलित हैं, उनकी ऊर्जा का अक्षय स्रोत वेद ही है। आधुनिक व्यवस्थाओं व शिक्षा-प्रणाली में प्रचलित सभी विषय वेद में उपलब्ध हैं। यद्यपि यह एक अलग विषय है कि ये सभी व्यवस्थाएँ कालानुरूप समाज में होनेवाले परिवर्तनों व सांस्कृतिक संक्रमण और ध्वस्त होती सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक मान्यताओं के कारण और उस पर पड़नेवाले पाश्चात्य व अन्य संस्कृतियों के प्रभावों के परिणामस्वरूप विशृंखलित हो गई हैं। इसलिए भारत-जैसे स्वाधीन राष्ट्र की सामाजिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक, आर्थिक, विधिक व्यवस्थाओं में इस्लामी व पाश्चात्य दर्शन के तत्त्व बहुतायात से पाए जाते हैं। वर्तमान में भी लॉर्ड मैकॉले (Lord Thomas Babington

1. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, विषय-प्रवेश, पृ. 20

2. मनुस्मृति, 2.6

1. H.H. Wilson, *Journal of the Asiatic Society*, Vol. XIII, 1852, p.26

2. शतपथब्राह्मण, 11.5.6.

3. मनुस्मृति, 1.7, 9

4. वही, 2.168

Macaulay : 1800-1859) द्वारा दुर्भावना से निर्मित शिक्षा-पद्धति और उसके तदनुरूप विकसित हुई विधिक प्रणाली को भारतीय संविधान में लागू किया गया है। जबकि वर्तमान में प्रचलित ऐसा कोई विषय एवं व्यवस्था नहीं जिसका मूल वेद में न हो। सभी प्रकार के दर्शन, उपासनाएँ, ज्ञान-विज्ञान, प्रबन्ध, खगोलविज्ञान, गणितशास्त्र, यंत्रविज्ञान, शल्य-चिकित्सा, कृषिविज्ञानादि विषय वैदिक ग्रन्थों पर अवलम्बित दिखाई देते हैं। इसके अन्यत्र वेद के गर्भ में लाखों-करोड़ों वर्षों का इतिहास भी निहित है जिसकी सूक्ष्म व्याख्या होना अपरिहार्य है, जिससे भारतीय संस्कृति पर आरोपित की गई मिथक शंकाओं का निवारण किया जा सके।

वर्तमान भारतीय-परिवेश और सामाजिक व्यवस्थाओं के स्वरूप को देखकर प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का पाश्चात्य प्रपञ्च इतिहास के माध्यम से चल रहा है। भारतीय संस्कृति की मूलभूत परम्पराओं व मान्यताओं का उपहास उड़ाया जा रहा है। यह बात नियम-विधानों के विषय में उचित जान पड़ती है। वर्तमान समय में पाश्चात्य विद्वानों व उनके तथाकथित भारतीय शिष्यों द्वारा प्रतिपादित विधि-व्यवस्था को यह कहकर सर्वोच्चता प्रदान की जाती है कि भारतीयों में प्रारम्भ से ही सुदृढ़ न्यायिक-व्यवस्था का अभाव था। यदि वर्तमान न्यायिक नियम-विधानों का इतिहासमूलक अध्ययन किया जाए, तो निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि इस न्यायिक-व्यवस्था की आधारीक संरचना का निर्माण भारत में वेदकाल से ही प्रारम्भ हो चुका था। यद्यपि उसका स्वरूप वर्तमान की तरह नहीं जान पड़ता, क्योंकि व्यवस्थाएँ सदैव ही परिस्थितिजन्य घटनाओं व समाज के क्रमिक विकास के परिणामों का सुफल होती हैं। ध्यातव्य है कि जहाँ विश्व की अन्य सभ्यताएँ अपनी शैशवावस्था में अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए नियम-विधानों का संग्रह कर रही थीं, उस कालविशेष में भारत एक स्वस्थ, सुदृढ़, तार्किक न्यायिक परम्परा का निर्वहन कर रहा था। इन विधि-विधानों का स्वरूप सामाजिक अधिक था, क्योंकि प्रारम्भ से ही भारत में सामाजिक व सांस्कृतिक मान-बिन्दुओं के आधार पर ही नियम-विधानों का निर्माण किया जाता रहा है और ये मान-बिन्दु भारतीय समाज की आस्था का केन्द्र थे। कालान्तर में इस प्रकार के सामाजिक विधानों को चिन्तकों व मनीषियों द्वारा धर्मग्रन्थों के रूप में संकलित कर लिया गया।

सृष्टियुत्पत्ति के साथ ही दो वैचारिक पक्ष— नैतिकता एवं अनैतिकता—

अन्यान्योश्चित रूप से मनुष्य के साथ संलग्न रहे हैं। ये वैचारिक अभिव्यक्तियाँ उसके निजी व्यक्तित्व के साथ विकसित हुईं। ये दोनों अवधारणाएँ भौतिकवाद और अध्यात्म के समानान्तर आभासित होती हैं। इसलिए प्राचीन धर्मग्रन्थों में इन दोनों विचारों को धर्म व अधर्म (पुण्य और पाप) के साथ सम्बद्ध किया गया है। प्रारम्भ में व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व के अनुरूप निर्मित होती सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं अन्य व्यवस्थाएँ धर्मरूपी अवधारणा से अनुशासित होती थीं। वस्तुतः धर्म ही आचरण की विधिक संहिता थी, चाहे उसका स्वरूप नैसर्गिक हो या मानव-निर्मित। प्रकारान्तर से यही धर्मरूपी अवधारणा नियम-विधानों के रूप में विकसित हुई। इन्हीं विधि-विधानों (धार्मिक नियम) से व्यक्ति के अनियन्त्रित आचरण को संयमित करने का प्रयास किया जाता था। इस प्रकार के धार्मिक नियमों को भारतीय सभ्यता-संस्कृति के अनुरूप धर्मग्रन्थों के रूप में संकलित कर लिया गया। इन्हीं इतिहासमूलक धर्मग्रन्थों के आधार पर ही इन चिरन्तर शाश्वत जीवन-मूल्यों को सुरक्षित रखा जा सका है। वस्तुतः इस प्रकार के नियमों को वर्तमान विधियों के शैशवावस्था के रूप में ग्रहण किया जा सकता है जो शनैः-शनैः व्यक्ति और समाज के क्रमिक विकास के अनुरूप विकसित हुई है। इन विधिक प्रणालियों एवं व्यवस्थाओं को प्राचीन संस्कृति में उपजी धार्मिक व सांस्कृतिक परम्पराओं के सुफल के रूप में लेना ही न्यायोचित होगा; क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक स्वाभाविक सांस्कृतिक मनोवृत्ति होती है, उन्हीं सांस्कृतिक परिस्थितियों के आधार पर वहाँ की परम्पराएँ निर्मित होती हैं। यही परम्पराएँ कालान्तर में आचरण की एक संहिता के रूप में विकसित होती हैं और इस संहिता से व्यक्ति व समाज के स्वरूप को अनुशासित व संयमित किया जाता है। कालान्तर में यही सांस्कृतिक व परम्परामूलक आचरण की संहिता विधि-विधानों का रूप ग्रहण कर लेती है।

मानवीय जीवन के इतिहास के प्रारम्भिक चरण में समाज में दैवी-भावना का अधिक प्रभाव रहने से मनुष्य के प्रत्यक्ष कार्यों के प्रतिफल को उचित और अनुचित के रूप में दैवीय शक्तियों एवं उसके सदाचार के साथ सम्बद्ध किया जाता था। व्यक्ति से सदाचार और शिष्ट आचरण की अपेक्षा की जाती थी और उसके विपरीत किया गया आचरण व्यक्ति, समाज या समुदाय के विरुद्ध अपराध माना जाता था। तत्कालीन समाज में ऐसी मान्यता प्रचलित थी कि दैवीय शक्तियाँ नैतिकता की संरक्षिका हैं, और सृष्टि के सृजनकर्ता के रूप में सभी

सात्त्विक शक्तियाँ मानव-कल्याण चाहती हैं। अतएव मानवीय कल्याण के विपरीत किया गया कार्य दैवीय इच्छा के विपरीत समझा गया। ऐसे करणीय-अकरणीय कार्यों का संबंध ईश्वर एवं समाज से होने के कारण पाप और अपराध माना जाता था। समाज का धर्म, सदाचार और विधि के साथ ऐसा संबंध परिलक्षित होता है कि पाप एवं अपराध नैसर्गिक विधि, दैवीय इच्छा और सामाजिक क्षति से संबंधित दिखाई देते हैं। इसलिए व्यक्ति का धर्मानुकूल आचरण विधि की मर्यादा लगता है एवं उनके उल्लंघन को अपराध कहा जाता है।

प्रारम्भ में धार्मिक व नैतिक आचरण के रूप में आख्यायित इन नियम-विधानों का स्वरूप सामाजिक था और इसलिए इस तरह के नियम-विधान सामाजिक विधि के अंतर्गत आते थे। यदि कोई व्यक्ति त्रुटि करता था तो इसका विधान इन धर्मग्रन्थों में मिलता है, किन्तु कालान्तर में व्यक्ति व समाज के भौतिक विकास के कारण व्यक्ति अनैतिक मार्ग (पाप व अपराध) की ओर अग्रसर हुआ। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न होने लगीं। इसलिए व्यक्ति व समाज में होनेवाले बदलाव के कारण क्रमशः कृत्रिम व स्थापित विधि-विधान की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जिससे व्यक्ति के आचरण व उसके अनैतिक क्रियाकलापों को नियन्त्रित किया जा सके।

धर्मशास्त्रीय विधि-विधानों की वैधानिकता प्रायः उनके श्रुतिसम्मत होने से है। भारतीय समाज एवं संस्कृति के विविध पक्षों के सूत्रबीज वैदिक साहित्य में ढूँढ़ने का प्रयास किया जाता है और यही पक्ष अपराध एवं दण्ड-विधानों के सन्दर्भ में भी उपयुक्त लगता है। श्रुति एवं सूत्र-साहित्य के प्रकाश में धर्मशास्त्रीय नियम-विधानों के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि भी होती है। धर्मशास्त्रीय विधि-विधान व दण्डीय सिद्धान्त जहाँ सूत्रों पर आधारित दिखाई देते हैं, वहीं सूत्रों में वर्णित विधानों का वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित सन्दर्भों के साथ अंतर्संबंध लक्षित होता है। धर्मशास्त्रों में वर्णित अपराध व दण्ड की प्रकृति की प्राचीन परम्परा का यह अध्ययन पूर्व-उत्तर वेदकाल एवं सूत्रकाल में मान्य व प्रचलित विधिक व्यवस्थाओं के अध्ययन से ही वस्तुनिष्ठ हो सकेगा। यहाँ इन युग-विशेषों में स्थापित अथवा सम्भावित आपराधिक विधि व दण्ड के स्वरूपों और उनके गठन, परिस्थितियों की विवेचना अभिप्रेय है।

## 2.1 पूर्व-वैदिक काल

प्राचीन भारतीय जनमानस के निमित्त वर्णित नियम-विधान व भिन्न-भिन्न मनु का दण्ड-विधान

देवी-देवताओं की स्तुति के रूप में संकलित ऋग्वेद को पूर्व-वैदिक साहित्य और उसमें प्रतिबिम्बित चित्रण को प्राचीन भारतीय इतिहास में 'पूर्व-वैदिक काल' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। ध्यातव्य है कि 'पूर्व-वैदिक काल', 'उत्तर-वैदिक काल'-जैसी विघटित अवधारणाएँ पाश्चात्य, साम्राज्यवादी, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की अवधारणा से उपजा एक मिथक प्रपञ्च है। वस्तुतः भारतीय मान्यताओं में 'ईसवी सन्' को भारतीय इतिहास का आधुनिक काल माना जाता है। फिर भी प्रचलन में होने के कारण अध्ययन को सरल, सुगम व बोधगम्य बनाने के लिए प्रस्तुत विवेचना को 'पूर्व-वैदिक काल', 'उत्तर-वैदिक काल' और 'सूत्रकाल'-जैसे खण्डों में विभाजित किया गया है, जिससे इस पुस्तक के अभीष्ट को प्राप्त किया जा सके। मूलतः वैदिक काल भारतीयों के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक जैसे अन्य विविध पक्षों के उन्नयन की प्रारम्भिक व परिवर्तित अवस्था है, जिससे तत्कालीन समाज में बनती, बिगड़ती और स्थायित्व प्राप्त करती हुई व्यवस्थाओं का पता चलता है और जिसका प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल से होता है।

ऋग्वेद की ऋचाओं में वर्णित व्यवस्थाओं व नियमों के अध्ययन के बिना न तो भारतीय दर्शन को समझा जा सकता है और न ही हमारी पुरातन व्यवस्थाओं की कार्य-पद्धति को। ऋग्वेद की ऋचाओं व उसके महत्त्व को मूल्यांकित करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888-1975) ने लिखा है कि 'किसी भी भारतीय-विचारधारा की सही-सही व्याख्या के लिए ऋग्वेद के सूक्तों का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। हम उन्हें चाहे जो भी रूप दें— अधूरी पौराणिक कल्पनाएँ, असंस्कृतरूपक, अन्धकार वृत्त विषम मार्ग में की गई चेष्टा का परिणाम अथवा अपरिपक्व रचनाएँ, तथापि वे दार्शनिक ज्ञान के आदिस्रोत तो हैं ही, साथ ही उनका अध्ययन परवर्ती विचारधारा को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है। हम एक प्रकार की ताजगी और सादगी तथा वसन्तकाल की बयार के समान एवं प्रातःकाल के खिले हुए फूल की भाँति एक अनिर्वचनीय आकर्षण मानव-मस्तिष्क के इस सर्वप्रथम प्रयत्नों में देखते हैं, जो विश्व के रहस्य को अवगत करके उसकी अभिव्यक्ति करने के लिए किए गए थे।' ऐसा ही अभिमत प्रस्तुत शोधकार्य के निदेशक डॉ॰ सुधीर कुमार त्रिवेदी का है— 'ऋग्वेद की ऋचाओं में अंतर्निहित अपौरुषेय तात्त्विक दर्शन में ही



सृष्टि-संचालन के लिए निर्मित विधि-विधानों का उल्लेख है। हम उन्हें 'गाथा' व 'मिथक' कहकर इतिहास की विषय-वस्तु से पृथक् नहीं कर सकते। ये ऋचाएँ हजारों वर्ष पुरानी उस व्यवस्था की द्योतक हैं जहाँ हम मानव को प्रकृति से शासित होता पाते हैं और शनैः-शनैः जिसका विकास विविध व्यवस्थाओं के रूप में होता है।<sup>1</sup> जीवन के समग्र विकास का उन्नयन करनेवाला यह महनीय अपौरुषेय चिन्तन विश्व के सभी मत-मतान्तरों का अग्रगामी पथ-प्रदर्शक है। ब्राह्मण-ग्रन्थ भी अपने अभीष्ट शब्दार्थ के संपादनार्थ 'तदेतद् ऋचा अभ्युक्तम्' का उपयोग करते हैं और चतुर्वेदाध्ययन-क्रम में भी प्रथमतः स्थान ऋग्वेद को प्राप्त है।

आठ अष्टक, 10 मण्डल, 64 अध्याय, 85 अनुवाक, 1028 सूक्त, 2006 वर्ग, 10402 से 10628 ऋचाएँ, 153826 शब्द और 432000 अक्षरोंवाले ऐतिहासिक ग्रन्थ ऋग्वेद के रचना-काल को लेकर विद्वानों में मतान्तर है। ऋग्वेद को लेकर दीर्घकाल से चल रहे निरन्तर शोध-कार्यों के परिणामस्वरूप इस प्राचीनतम ऐतिहासिक ग्रन्थ के तिथि-निर्धारण और उसके विभिन्न मण्डलों के कालक्रमिक स्तरीयकरण की दिशा में विद्वानों को महनीय सफलता मिली है। अभी हाल ही में कुछ वर्षों पूर्व तक विद्वानों व इतिहासकारों द्वारा जर्मन-प्राच्यविद् मैक्समूलर (Friedrich Max Müller : 1823-1900) द्वारा प्रतिपादित ऋग्वेद की रचना-तिथि— 1500-1000 ई पू को ही स्वीकार किया जाता था जबकि ऋग्वेद के तिथि-निर्धारण की यह अवधारणा अपने प्रतिपादन के समय से ही सन्देहास्पद रही है। प्रस्तुत विषय से परस्पर सम्बद्ध होने के फलस्वरूप वैदिक काल के तिथि-निर्धारण के संबंध में सामान्यतः जितने भी मत प्रचलित हैं, उन पर विचार करना भी विषयानुकूल होगा जिससे एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके।

ऋग्वेद या वैदिक ग्रन्थों के रचना-काल को लेकर आधुनिक अवधारणा मैक्समूलर द्वारा प्रतिपादित मत से प्रारम्भ होती है। मैक्समूलर ने सन् 1859 ई में वेद के काल-निर्धारण को लेकर अपने मत का प्रस्तुतीकरण किया।<sup>1</sup> उन्होंने तिथि-निर्धारण से संबंधित अपने इस मत के लिए भगवान् गौतम के कालखण्ड

1. *A History of Ancient Sanskrit Literature*, Published by Williams and Norgate, London, 1859.

को केन्द्र-बिन्दु बनाते हुए सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को चार भागों— क्रमशः 1. छन्दकाल (1200-1000 ई पू), मंत्रकाल (1000-800 ई पू), ब्राह्मणकाल (800-600 ई पू) और 4. सूत्रकाल (600-200 ई पू) में विभाजित किया है। इस प्रकार उनका मत है कि 1000 ई पू तक समूचा ऋग्वेद अस्तित्व में आ चुका था और इसका रचनाकाल किसी भी रूप में 1200 ई पू के बाद में नहीं रखा जा सकता।<sup>1</sup> ध्यातव्य है कि मैक्समूलर ने अपना यह मत भाषाविज्ञान के आधार पर प्रस्तुत किया था जो परिवर्तित और नवीन शोध-कार्यों से प्राप्त अभिमतों के आधार पर सर्वमान्य नहीं रहा है। मैक्समूलर द्वारा सुझाए गए मत से तत्कालीन और वर्तमान के अधिकांश इतिहासज्ञ, पुरातत्त्वविद् व संस्कृत के आधिकारिक विद्वान्— एच एच विल्सन (Horace Hayman Wilson : 1786-1860), डब्ल्यू डी व्हिटने (William Dwight Whitney : 1827-1894), हर्मन जॉर्ज जैकोबी (Hermann Georg Jacobi : 1850-1937), मोरिज ब्लूमफील्ड (Maurice Bloomfield : 1855-1928), मोरिज विंटरनिट्ज (Moriz Winternitz : 1863-1937), एन एस् ज़ा, बालगंगाधर तिलक (1856-1920), डॉ शिवाजी सिंह, डॉ भगवान सिंह व अन्य विद्वज्जन सहमत नहीं हैं। इनका सर्वमान्य मत यह है कि ऋग्वेद के रचनाकाल को किसी भी स्थिति में 2000 ई पू के बाद नहीं लाया जा सकता। इसके अन्यत्र मैक्समूलर का यह मत स्वयं के इस मत से और भी सन्देहास्पद हो जाता है कि 'वैदिक मंत्र कब रचे गये— 1000 या 1500 या 2000 या 3000 ई पू में ? संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो इसका समय कभी निश्चित कर सके।'<sup>2</sup> इस प्रकार स्वतः ही स्पष्ट है कि स्वयं मैक्समूलर जिस प्रकार इस ऐतिहासिक ग्रन्थ की तिथि के अल्प समय को लेकर जितने निवेदित प्रतीत होते हैं, उतने ही भ्रमित उसकी अधिकतम समय-सीमा को लेकर दिखाई देते हैं।

मैक्समूलर द्वारा प्रतिपादित इस तिथिक्रम पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए

1. मैक्समूलर - तुलनीय भगवान सिंह, *हड़प्पा-सभ्यता और वैदिक साहित्य*, पृ 320
2. "If now we ask how we can fix the date of these three periods, it is quite clear that we cannot hope to fix a terminus a quo. Whether the Vedic hymns were composed 1000, or 1500, or 2000, or 3000 years B.C., no power on earth will ever determine."

—Gifford Lecture Series, Lecture 5 : Age of the Veda  
(Accurate knowledge of the Veda necessary for a study of Physical Religion) by Friedrich Max Müller, 1890

प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. भगवान सिंह ने स्पष्ट किया है कि 'मैक्समूलर द्वारा सुझाए गए काल पर प्रतिक्रिया प्रथमतः उन अध्येताओं की थी जिन्हें संस्कृत का या तो कामचलाऊ ज्ञान था या जो इससे शून्य थे। इनके लिए मैक्समूलर का प्रस्ताव अंधे की लकड़ी बन गया और वे स्वयं मैक्समूलर की झिझक को भी नज़रंदाज करके इस प्रस्ताव को ब्रह्मवाक्य बनाकर दुहराते रहे। उनके साथ कुछ ऐसे संस्कृतज्ञों को भी शामिल किया जा सकता है जिन्होंने वैदिक साहित्य को केन्द्र में रखकर अन्य अनुषांगिक पक्षों को अधिक प्रधानता दी। इसलिए मैक्समूलर का कामचलाऊ प्रस्ताव उनको सर्वथा संगत प्रतीत हो रहा था।'<sup>1</sup> मैक्समूलर द्वारा प्रस्तुत इस भ्रमपूर्ण मत को स्वीकारने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि अभी तक अधिकांश विद्वान् आर्य-आव्रजन के कपोल-कल्पित सिद्धान्त का अनुसरण करते आ रहे थे। इस वर्ग के अध्येताओं का यह मानना था कि ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों की रचना एशिया माइनर के विविध क्षेत्रों में हुई थी। इस अभिमत को प्रतिष्ठापित करने के लिए भाषिक समीकरणों पर एकपक्षीय बल दिया जाता रहा है, किन्तु इस प्रकार का मत विद्वानों के उस वर्ग को मान्य नहीं था जो सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की रचना का केन्द्र भारत को मानते हैं। इस प्रकार की विषम परिस्थितियों में ऋग्वेद की रचना के लिए 1200-1000 ई. पू. की कालावधि को मान्य कर लिया गया।<sup>2</sup>

इसके अन्यत्र 1893 ई. में जर्मन-विद्वान् हर्मन जॉर्ज जैकोबी और भारत के बालगंगाधर तिलक ने स्वतन्त्र रूप से वैदिक ग्रन्थों में व्याप्त ज्योतिषीय मान्यताओं के आधार पर अपना अभिमत प्रस्तुत किया। तिलक महोदय ने जहाँ अपने मत में कुछ वैदिक कृतियों के लिए 6000 ई. पू. की तिथि निर्धारित की है, वहीं जैकोबी ने वैदिक सभ्यता के आरम्भ को, जिसके परिपक्व या सम्भवतः बाद के कृतित्व के रूप में वैदिक गान की उपलब्धता के अनुरूप वैदिक ग्रन्थों के रचनाकाल को 4500 ई. पू. का माना है।<sup>3</sup> यह अभिमत विद्वानों को 19वीं शताब्दी में मान्य रहा हो या न रहा हो, लेकिन इस सिद्धान्त ने पूर्व-निर्धारित कालक्रम के विषय में विद्वानों को सोचने के लिए अवश्य विवश कर दिया। इसके अलावा ह्यूगो विंकलर (Hugo Winckler : 1863-1913) व हॉक्स ने एशिया

1. भगवान सिंह, *हड़प्पा-सभ्यता और वैदिक साहित्य*, पृ. 321

2. *वही*, पृ. 322

3. 575/295-97 तुलनीय भगवान सिंह, *वही*, पृ. 330

माइनर बोगाजकोई (Boghazkoi) से प्राप्त 1360 ई. पू. के हित्ती-राजा के एक सन्धि-पत्र का उद्धरण किया है।<sup>1</sup> यह सन्धि-पत्र कीलक-लिपि में मिट्टी की पट्टियों पर उत्कीर्ण है। इसके आधार पर इन दोनों विद्वानों ने ऋग्वैदिक सभ्यता के लिए 2500 ई. पू. का समय निर्धारित किया है।<sup>2</sup>

वर्तमान में सरस्वती-सिंधु सभ्यता विषय को लेकर हो रहे नूतन शोध-कार्यों ने इस विषय को लेकर पूर्व-प्रचलित समस्त मान्य व अमान्य धारणाओं पर विराम लगा दिया है। वर्तमान में हो रहे नवीन शोधों व ऋग्वैदिक अंतःसाक्ष्यों के आधार पर डॉ. शिवाजी सिंह व डॉ. भगवान सिंह ने ऋग्वेद के काल-निर्धारण को लेकर अपने-अपने अभिमत प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि इनके अभिमतों में थोड़ा अन्तर आभासित होता है, तथापि दोनों के अभिमत एकरूपता व आपसी सामंजस्य लिए हुए हैं। डॉ. भगवान सिंह ने पुरातत्त्व व ऋग्वेद के अंतःसाक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद में उपलब्ध और अनुपलब्ध साक्ष्यों को आधार बनाकर अंशों के रचनाकाल को कम-से-कम 4500 ई. पू. से 2000 ई. पू. में रखना चाहें तो कोई बाधा नहीं होगी। केवल इस आधार पर ही परम्परा यह दुहराती आई है कि वेद का बड़ा अंश नष्ट हो गया और पाठालोचन से भी इसकी पुष्टि होती है। हम इस विषय में पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो सकते कि यह अंश वर्तमान रूप में उपलब्ध सूक्तों की तरह रचा गया होगा।<sup>3</sup>

1. बोगाज़कोई, उत्तर-मध्य तुर्की-स्थित एक गाँव, जो तुर्की की राजधानी अंकारा से 90 मील (145 किमी.) पूर्व में स्थित है, पुरातात्विक महत्त्व का है जहाँ उत्खनन में मन्दिर, नगर-द्वार और दीवालें मिली हैं जिन्हें शक्तिशाली हित्ती-राजवंश (16वीं-12वीं शती ई. पू.) के साथ सम्बद्ध किया गया है और बाद में यूनानी-इतिहासकार हेरोडोटस (484-425) ने भी इसका वर्णन किया है। यहाँ 19वीं-20वीं शती में अनेक उत्खननों में लगभग 25,000 अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो हित्ती-राजाओं की सामाजार्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, वैधानिक स्थिति तथा पड़ोसी-देशों के साथ उनके संबंधों पर प्रकाश डालते हैं। चौदहवीं शती ई. पू. के बोगाज़कोई-अभिलेख में मितन्नी राजा मन्तिवाज (1350-1320 ई. पू.) और हित्ती-राजा सुप्पिलुइउमा (1350-1322 ई. पू.) के मध्य हुई सन्धि के सन्दर्भ में वैदिक-देवताओं, यथा— इन्द्र, मित्र, वरुण, नासत्य (अश्विनीकुमार) आदि को साक्षी के रूप में दिखाया गया है।

2. 258/405-7 भगवान सिंह, *हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य*, पृ. 332-334

3. *वही*, पृ. 345-346

इस विषय पर प्रकाश डालते हुए डॉ. शिवाजी सिंह ने अपनी कृति 'ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता' में लिखा है कि अब यह सुनिश्चित हो चुका है कि यह साहित्य 1900 ई. पू. से पहले ही रचा जा चुका था तथा इसका प्रारम्भ 4500 ई. पू. से पहले हो चुका था।<sup>1</sup> इस तिथि-निर्धारण के पक्ष में उन्होंने अपना यह अभिमत प्रस्तुत किया है कि ऋग्वैदिक काल-निर्धारण के इस विमर्श पर भाषाविज्ञान कोई अंतर्दृष्टि प्रदान करने में सर्वथा असफल रहा है। यह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि एक जैसी भाषावैज्ञानिक सामग्री और शोध-पद्धति के आधार पर बटकृष्ण घोष इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद 1500 ई. पू. के पहले का नहीं हो सकता और सत्यस्वरूप मिश्र इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वह 5000 ई. पू. के बाद का नहीं हो सकता।<sup>2</sup> इसके अतिरिक्त वह एक अन्य मत प्रस्तुत करते हैं कि पुरातात्विक साक्ष्य अवश्य इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि ऋग्वेद को हर हाल में 2000 ई. पू. से पहले रखना पड़ेगा। ऋग्वेद उस युग की रचना है जब सरस्वती नदी प्रचण्ड वेग से बह रही थी। नदी कब सूख गई, इसका पता राजस्थान के हनुमानगढ़ ज़िले में स्थित कालीबंगा स्थल के उत्खनन से चलता है। सरस्वती नदी के तट पर स्थित कालीबंगा अपने समय का एक अत्यन्त विकसित नगर था, किन्तु सरस्वती के सूख जाने से इसके निवासियों को इसे त्याग देना पड़ा था। कार्बन-14 विधि से किए गए तिथि-निर्धारण से ज्ञात हुआ कि नगर का परित्याग 1950 ई. पू. में किया गया।<sup>3</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऋग्वेद 4500 ई. पू. के लगभग की रचना है क्योंकि सामान्य विषय है कि एक प्रवाहित नदी के सूखने की घटना कुछ वर्षों की नहीं अपितु यह एक दीर्घकालिक प्रक्रिया का परिणाम है, और ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्यों में प्रवाहित जिस सरस्वती नदी का वर्णन आया है, वह एक अथाह जलराशि से परिपूर्ण तीव्र वेग से पर्वतों को तोड़कर प्रवाहित होनेवाली नदी है। इस प्रकार स्वतः ही स्पष्ट होता है कि सरस्वती नदी के सूखने की घटना 1950 ई. पू. के बहुत पहले की है। सिद्ध यही होता है कि ऋग्वेद की रचना उससे बहुत पूर्व हुई होगी। इसके अतिरिक्त हाल ही में वैदिक खगोलविज्ञान पर प्रख्यात भारतीय-अमेरिकी विद्वान् सुभाष

काक (जन्म : 1947) प्रभृति कतिपय विद्वानों ने नये सिरे से शोध प्रारम्भ किया है और अमेरिका के मेंफिस विश्वविद्यालय में भौतिकविज्ञान के प्राध्यापक डॉ. बी. एनू. नरहरि अचर ने सन् 2006 में प्लेनेटोरियम सॉफ्टवेयर की सहायता से ऋग्वैदिक खगोलवैज्ञानिक स्थितियों का निरीक्षणकर 20वीं शताब्दी में तिलक व हर्मन जैकोबी द्वारा प्रतिपादित कालगणना के निष्कर्षों की पुष्टि की है।<sup>4</sup> इसके अन्यत्र शिवाजी सिंह ऋग्वेद के मण्डलों के व्यवस्थितक्रम के निर्धारण को लेकर भी आशान्वित प्रतीत होते हैं। अभी तक ऋग्वेद के दूसरे एवं दसवें मण्डल को उत्तरवर्ती माना जाता था व दसवाँ मण्डल तो अपनी भाषा-शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से शेष भाग से भिन्न और अन्य मण्डलों की अपेक्षा और बाद का माना जाता था। दूसरे से सातवें तक के छः मण्डल, जिन्हें 'वंश मण्डल' कहा जाता है, पहले और शेष मण्डल दूसरे भाग में रखे जाते थे। अब वंश मण्डलों का क्रम भी निर्धारित किया जा चुका है और यह ज्ञात हो गया है कि इनमें छठा मण्डल सबसे प्राचीन तथा पाँचवाँ सबसे उत्तरवर्ती है।<sup>5</sup>

निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के तिथि-निर्धारण को लेकर जिस प्रकार का सन्देहास्पद वातावरण पिछली शती के विद्वानों द्वारा निर्मित किया गया था, वह उस भयाकुल धुंध के समान था जो कुछ समय के लिए सूर्य को अपनी ओट में ले लेती है किन्तु एक निश्चित समय के उपरांत सूर्य का तेजोमयी प्रकाश उस धुंध को समाप्त कर देता है। इसी प्रकार मैक्समूलर द्वारा सुझाए गए तिथिक्रम ने ऋग्वैदिक काल को लेकर चारों ओर एक घने कोहरे का आवरण बना दिया जिसके प्रभाव से सामान्यतः ऋग्वेद 1000-1500 ई. पू. की रचना माना जाने लगा। वर्तमान में चल रहे शोध-कार्यों व उत्खनन से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री और उसके समानान्तर परिलक्षित होते साहित्यिक साक्ष्यों ने उस भ्रामक धुंध को लगभग समाप्त कर दिया है। इन नूतन शोध-कार्यों के आधार पर ऋग्वेद के वर्तमान स्वरूप को 4500-2500 ई. पू. के मध्य रखना ही न्यायोचित होगा। यह कहना भी इतिहासमूलक होगा कि ऋग्वेद के संकलन के प्रारम्भ होने से पूर्व का साहित्य वर्तमान संकलन से पूर्व ही लुप्त हो चुका था,

1. ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता, पृ. 17

2. शिवाजी सिंह, इतिहास दर्पण, अंक 13 में प्रकाशित शोध-पत्र 'भारतीय इतिहास लेखन में उपस्थित वर्तमान चुनौतियाँ व उनका समाधान', पृ. 5

3. वही, पृ. 5

1. शिवाजी सिंह, इतिहास दर्पण, अंक 13 में प्रकाशित शोध-पत्र 'भारतीय इतिहास लेखन में उपस्थित वर्तमान चुनौतियाँ व उनका समाधान', पृ. 5

2. तेलगिरी, श्रीकांत जे. , 2000/35.93 शिवाजी सिंह, 'ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता', पृ. 17

किन्तु भारतीय संस्कृति श्रुति-परम्परा की अनुगामिनी रही है और इसके प्रमाण में ऋग्वैदिक साक्ष्यों को लिया जा सकता है। यद्यपि श्रुतियों और गाथाओं के रूप में संकलित इस अपौरुषेय ग्रन्थ में कालानुरूप दोष उत्पन्न हो गए होंगे। तथापि प्राचीन सामाजिक अनुभवों का सार इस ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में संकलित है।

ऋग्वेदकालीन समाज व प्रशासनिक व्यवस्था में प्रचलित विधि-विधान के अध्ययन से पूर्व इस काल विशेष के भौगोलिक परिक्षेत्र का अध्ययन भी आवश्यक है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि पूर्व-वैदिक समाज में क्रियान्वित होनेवाले विधि-विधान किस भौगोलिक सीमा के परिक्षेत्र तक परिचलन में थे। ऋग्वेदकालीन भौगोलिक परिक्षेत्र के निर्धारण से पूर्व यह तथ्य भी ध्यान में रखना होगा कि प्रथमतः यह कि प्रारम्भिक ऋग्वेदकालीन सभ्यता का प्रभाव-क्षेत्र सरस्वती नदी के तटों पर सुव्यवस्थित था और प्रकारान्तर में यही सरस्वती-सभ्यता अपने विकासक्रम के अगले चरण में सिंधु नदी के मुहाने के तटवर्ती क्षेत्रों पर विकसित हुई। इसलिए कुछ विद्वानों ने इस सभ्यता को 'सारस्वत-सैन्धव सभ्यता' कहकर संबोधित किया है। द्वितीयतः हड़प्पा या सिंधु-सभ्यता को आधुनिक वैदिक सभ्यता के रूप में देखना समीचीन होगा। नयी खोजों ने उस वैदिक सभ्यता और सिंधु-सभ्यता को पृथक् करनेवाली उस धुंधली परत को भी लगभग समाप्त कर दिया है और उस मिथक का भी पटाक्षेप कर दिया है जिसमें सिंधु-सभ्यता के पतन के लिए आर्य-आक्रमण को उत्तरदायी ठहराया जाता रहा है। पुरातात्विक व ऋग्वेद के अंतःसाक्ष्यों को आधार बनाकर डॉ॰ भगवान सिंह ने अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि हमने नागर हड़प्पा-सभ्यता के इस पूरे कालखण्ड को दो चरणों में विभाजित किया था : सारस्वत चरण और सैन्धव चरण। आज इसके पक्ष में जो प्रमाण मिल रहे हैं (मिश्र, 1944; गुप्त, 1996), वे इतने निर्णायक हैं कि हड़प्पा-सभ्यता को सिंधु-सारस्वत सभ्यता (गुप्त, 1996) के रूप में अभिहित करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है।<sup>1</sup> उपर्युक्त मतों से प्रमाणितः यह परिलक्षित होता है कि क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से अब यह अवधारणा निर्मूल प्रतीत होती जान पड़ती है कि आर्य-संस्कृति का विस्तार इस काल में सप्तसैन्धव प्रदेश तक ही था।<sup>2</sup> ऋग्वेद के अंतःसाक्ष्यों व पुरातात्विक साक्ष्यों से यही निष्कर्ष निकल रहा है कि ऋग्वेद का

भौगोलिक परिक्षेत्र व्यापक रूप से विस्तृत था। आर्यजनों (आर्य पद मूलतः विशेषणात्मक है न कि संज्ञात्मक जिसका अभिप्रायः है— उत्तम, भद्र, श्रेय या अभीष्ट) के क्रियाकलापों की दृष्टि से इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— 1. मूल क्षेत्र व 2. सम्पर्क क्षेत्र। मूल क्षेत्र में उस क्षेत्र को परिगणित किया जा सकता है जहाँ प्रारम्भिक ऋग्वैदिक जन व्यापक रूप से निवासरत थे और इसी क्षेत्र को वे 'सप्तसैन्धवः' नाम से सम्बोधित करते थे।<sup>3</sup> ऋग्वेद के सामान्य अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि आर्य-संस्कृति का विस्तार इस काल में सप्तसैन्धव प्रदेश तक ही था। ऋग्वेद में इस प्रदेश की सातों नदियों— सिंधु, सरस्वती, शत्रुघ्नि (सतलज), विपासा (व्यास), पुरुष्णी (रावी), आसिक्नी (चिनाब) और वितस्ता (झेलम) का वर्णन मिलता है।<sup>4</sup> इन नदियों के अतिरिक्त ऋग्वेद में अफ़ग़ानिस्तान की कुछ नदियों— कुम्भा (काबुल), सुवास्तु (स्वग्व), कुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल) का वर्णन मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि पश्चिम में उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान (उपगणस्थान) तक अपनी बस्तियाँ स्थापित कर रखी थीं (देखिए चित्र-सं० 1)। दक्षिण में उनका प्रभाव-क्षेत्र कच्छ तक प्रमाणित होता है।<sup>5</sup> वेदकालीन तुग्र के पुत्र भुज्य से संबंधित पोत भंग का दृष्टान्त भी ऋग्वेद में वर्णित है।<sup>6</sup> डॉ॰ शिवाजी सिंह ने भुज्य, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, को गुजरात के भुज इलाके का निवासी माना है।<sup>7</sup>

इसके अन्यत्र वर्तमान तक विद्वानों के द्वारा यह माना जाता रहा है कि पूर्व दिशा में वैदिक संस्कृति या आर्य-जनों का प्रसार गंगा-यमुना के दोआब तक सीमित था। इस मत के पीछे यह कारण विद्यमान था कि ऋग्वेद में इन दोनों नदियों के अन्यत्र पूर्व दिशा की किसी भी नदी का वर्णन नहीं है। इसलिए इतिहासकारों का यह अभिमत है कि पूर्वी क्षेत्र में आर्यों का विस्तार उत्तर-वैदिक काल में हुआ था। इस अभिमत की पुष्टि के लिए विद्वानों द्वारा शतपथब्राह्मण के उस दृष्टान्त को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है जिसमें विदेघ माथव के अपने पुरोहित गौतम राहूगण के साथ सरस्वती घाटी से चलकर सदानीरा

1. हड़प्पा-सभ्यता और वैदिक साहित्य, पृ० 529-532

2. शिवाजी सिंह, ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता, पृ० 26

1. ऋग्वेद, 8.24.27

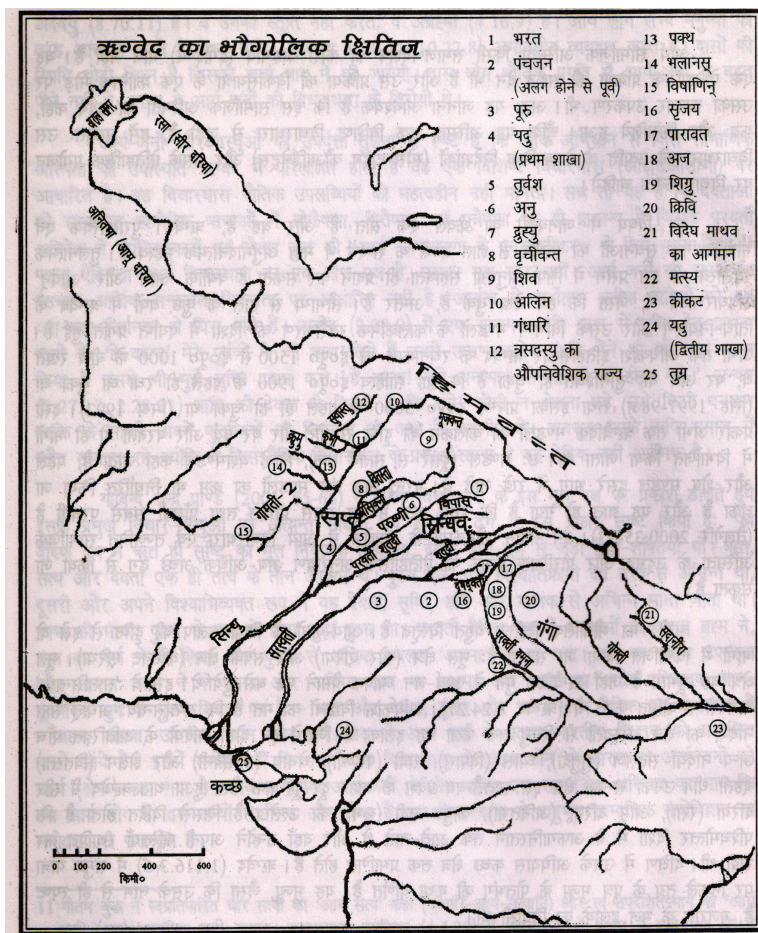
2. विमलचन्द्र पाण्डेय, भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास; खण्ड 1, पृ० 130

3. शिवाजी सिंह, ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती सिन्धु सभ्यता, पृ० 18

4. ऋग्वेद, 1.116.5

5. ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता, पृ० 38





चित्र-सं० 1 : ऋग्वेदकालीन भौगोलिक क्षितिज

(बिहार) की वर्तमान गण्डक नदी तक पहुँचे थे।<sup>1</sup> उक्त मत पर विचार करने से पूर्व यह भी ध्यान में रखना होगा कि शतपथब्राह्मण में जहाँ यह कथा दी गई है, वहाँ यह भी स्पष्ट रूप से वर्णित है कि यह विवरण बहुत पहले का है।<sup>2</sup> पूर्णचन्द्र पन्त (1996 : 8-10) इस घटना को पूर्ववर्ती मानने पर बल देते हैं।<sup>3</sup> डॉ. शिवाजी सिंह

1. शतपथब्राह्मण, 1.4.1.14-17

2. शिवाजी सिंह, ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता, पृ. 19

3. पूर्णचन्द्र पन्त (1996:8-10) तुलनीय शिवाजी सिंह, ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता, पृ. 19

का मानना है कि इस प्रसंग में सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण, जिसकी और किसी विद्वान् का ध्यान नहीं गया, यह है कि विदेघ माधव एक ऋग्वैदिक ऋषि थे जिनके एक-दो नहीं, बीस सूक्त ऋग्वेद में संग्रहित हैं। वस्तुतः इस घटना के ऋग्वैदिक होने में कोई सन्देह नहीं है।<sup>1</sup> अन्ततः यही कहना समीचीन जान पड़ता है कि ऋग्वैदिक सभ्यता अपने अन्दर विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र को समाहित किए हुए थी, लेकिन अपने प्रारम्भिक स्वरूप में इस सभ्यता का क्षितिज सप्त सरस्वती और सिंधु के तटीय सीमावर्ती क्षेत्रों तक व्याप्त था।

## ऋग्वेदकालीन अपराध, विधि की अवधारणा और न्यायिक प्रशासन

भारतीय समाज, सभ्यता और संस्कृति का जो जीवन्त स्वरूप प्राचीनकाल में दिखाई देता है, वस्तुतः उसकी आधारिक संरचना का निर्माण ऋग्वैदिक काल में प्रारम्भ हो चुका था। यदि उससे पूर्व कोई समाज या संस्कृति अस्तित्व में थी तो वह वैदिक धारा में समाहित हो गयी। यहाँ यह कहने में भी संशय नहीं है कि मानव जीवन का प्रथम प्रादुर्भाव सरस्वती घाटी के तटवर्ती क्षेत्रों में हुआ था। हाल के ही कुछ दशकों इस विषय से संबंधित जो नवीन तथ्य नूतन शोधों से उभरकर सामने आए हैं, वे इस मत के प्रतिपादन के लिए सशक्त प्रमाण हैं।<sup>1</sup> ध्यातव्य है कि ऋग्वेद के प्राचीनतम अंश वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं, तथापि उपलब्ध सूक्तों व ऋचाओं पर पूर्ववर्ती अंशों का स्पष्ट प्रभाव परिवर्तित जीवन-शैली पर दिखाई देता है। मूलतः यह प्रवृत्तिमार्गी श्रुति-परम्परा का परिणाम है जो पूर्व-वैदिक समाज के जीवन के चित्रण को विद्वानों के समक्ष अभिव्यक्त करती है। वस्तुतः ऋग्वेद से भारतीय संस्कृति के उभयपक्ष, आंतरिक और बाह्य स्वरूप सामने आता है। ऋग्वेद में वर्णित संस्कृति का प्रादुर्भाव प्रकृतिमूलक संस्कृति की उपासना से प्रारम्भ होता है जो प्रकारान्तर में मानवीय मनोवृत्ति, महत्वाकांक्षा के तदनुरूप विकसित होते ग्रामीण व नगरीय जीवन में परिवर्तित होती परिलक्षित होती है। ऋग्वेद में हम मानवीय जीवन के ऐसे विकासक्रम का वर्णन पाते हैं जो किसी अलौकिक घटना का सुफल न होकर मानवीय जीवन की प्रथम अभिव्यञ्जना है। ऋग्वेद में उपलब्ध साक्ष्यों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि इसमें एक ऐसे

1. ऋग्वेद, 1.74.93

2. देखिए ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता, लेखक : डॉ. शिवाजी सिंह



समाज का चित्रण है जिसमें वैदिकजनों द्वारा विभिन्न ऐसी व्यवस्थाओं की नींव रखी जा रही थी जिसका कालान्तर में सुदृढ़ सामाजिक संरचना के रूप में विकास हुआ। इसी क्रम में ये विविध व्यवस्थाएँ बनती-बिगड़ती परिलक्षित होती हैं। तत्कालीन जीवन में विकसित व पिछड़े, ग्रामीण व नगरीय, सम्पन्न व विपन्न, संघर्ष व शान्ति, कृषि और उद्योग, आंतरिक व बाह्य व्यापार-जैसे विविध उन्नत उपक्रम देखने को मिलते हैं।

पूर्व-वैदिक काल में प्रचलित व निर्मित होती व्यवस्थाओं के अंतर्गत विधि, अपराध, न्यायिक संगठन, प्रक्रिया, दण्ड-विधान-जैसी मूलभूत अवधारणाओं पर विचार करने से पूर्व तत्कालीन समाज के स्वरूप व मनोवृत्ति पर विचार करना भी नितान्त आवश्यक है। यहाँ पर विद्वानों द्वारा बार-बार दोहराए जानेवाले इस कथन को भी ध्यान में रखना अपरिहार्य होगा कि इस काल-विशेष में एक सुव्यवस्थित व सुदृढ़ न्यायिक परम्परा का अभाव था। ऋग्वेद में जिस प्रकार की समृद्ध, व्यवस्थित, सम्पन्न जीवन का उल्लेख हुआ है, उसमें कहीं-न-कहीं अराजकता, अशान्ति व भय का वातावरण दिखाई देता है। इससे स्वतः ज्ञात होता है कि ऐसी विषमपूर्ण स्थिति के निराकरण हेतु इस काल में नियम-विधानों से युक्त विकसित न्यायिक-व्यवस्था अवश्य अस्तित्व में रही होगी। ध्यातव्य है कि मानव की यह नैसर्गिक मनोवृत्ति है कि वह द्रोह, अशान्ति या अराजकता को साथ लेकर नहीं चल सकता है। जब समाज में द्रोह, संघर्ष के परिणामस्वरूप ऐसी विषम व विघटनकारी परिस्थितियाँ पनपती हैं तब वह स्वयं या सामुदायिक संस्थाओं के माध्यम से इनके निराकरण का प्रयत्न करता है। प्रकारान्तर से यही उपाय नियम-विधानों का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। ऋग्वेद से भी इसी प्रकार की स्थिति आभासित होती है। यद्यपि उसमें वर्णित विधिक तत्त्वों का स्वरूप कालान्तर की व्यवस्थाओं की तरह नहीं मिलता।

ऋग्वेद में क्षेत्र-विस्तार व अन्यान्य प्रसंगों के कारण होनेवाले संघर्षों व उसके फलस्वरूप उपजी अराजकतापूर्ण स्थितियों का वर्णन आया है। इन संघर्षों के विषय में स्पष्टतया कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु ये आक्रमण किसी भी रूप में विदेशी नहीं हो सकते। वैदिकजनों को जिस बात का अधिक खतरा दिखाई देता है, वह आक्रमण न होकर अशान्ति ही है। बाहरी तत्त्वों में दस्युओं और जंगली कबीलों के उपद्रव प्रधान थे।<sup>1</sup> ऋग्वेद में चित्रित समाज के विश्लेषण

1. भगवान सिंह, *हड़प्पा-सभ्यता और वैदिक साहित्य*, पृ 72

से ज्ञात होता है कि उसमें अवैदिक समाजों का अस्तित्व था जिनका वर्णन आर्य या अनार्य या वैदिक-अवैदिक समाजों के रूपों में मिलता है। ऋग्वेद में स्तेन, तम, तमोवृध, मुषीवास, दस्यु, दास, जिघासु, प्रतन्यु, व्याधि, मूर, अत्रि, दुःरिष्य, अम्भण, अकर्म, मृधवाच, अभिद्रुह, द्वेषघत, अराति, अघायु, वघ्रिवाच, मन्यमान, अयुज्यु, अपव्रत-जैसे विशेषणात्मक शब्द जिस समाज के लिए प्रयुक्त हुए हैं, वे आचरण, संस्कृति में वैदिकों से भिन्न हैं। इस प्रकार के वर्जित, पाप या अपराधमूलक शब्दों की ग्रन्थ में निन्दा की गई है। ऐसा भी हो सकता है कि इन शब्दों का प्रयोग आपसी समाज में मत त्रुटि के लिए भी होता हो।<sup>1</sup> ऋग्वेद में 'दास' और 'दस्यु' शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है और ये स्पष्टतः वैदिक संस्कृति के विरोधी थे।<sup>2</sup> उनके उन्मूलन को ही श्रेयस्कर माना गया है।<sup>3</sup> 'धन्निः' शब्द भी दस्यु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वे भी यज्ञ-विरोधी आचरण के पर्याय माने गए हैं।<sup>4</sup> ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा दस्युओं पर विजय व दासों से रक्षा की प्रार्थना का उल्लेख मिलता है।<sup>5</sup> ऋग्वेद में दस्युओं के साथ संघर्ष के बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं।<sup>6</sup> इसके अन्यत्र 'अक्रतन', 'अयज्ञान' शब्द भी दस्युओं के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं और जिन्हें 'अज्यवानः' व 'अनीन्द्र' भी कहा गया है।<sup>7</sup> ऋग्वेद में ही वैदिक परम्परा एवं विधियों में अविश्वास करनेवाले को 'अराधसम्', 'अप्रणतम्' व 'अप्रणतः' कहकर सम्बोधित किया गया है।<sup>8</sup> ऐसा लगता है कि वैदिक परम्परा के विरोधी वनवासी कबीलों के निवासी ही मूलरूप में दस्यु व दास थे और इनका वैदिक अनुयायियों के साथ वैचारिक व सांस्कृतिक संघर्ष चलता रहता था। ऋग्वेद के उक्त उद्धरणों से कहीं भी पूर्व के उन विद्वानों के अभिमतों की पुष्टि नहीं होती जिसके आधार पर उन्होंने भारत में आर्य-आक्रमण सिद्धान्त का समर्थन किया था। ऋग्वेद की ऋचाओं से तत्कालीन समाज-जीवन के दो प्रतिबिम्ब निर्मित होते दिखाई देते हैं— प्रथम, वैदिक और द्वितीय अवैदिक। ये

1. ऋग्वेद, 7.104.16

2. हरिहरनाथ त्रिपाठी, *प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड-विधान*, पृ 13

3. 'हत्वी दस्यून् प्रार्थ्य वर्णमावत्' — ऋग्वेद, 3.34.9

4. वही, 1.33.4; 9.33.7-8

5. वही, 2.12.4; 4.34.6; 2.13.8 पर सायण की टीका 2.11.4; 10.148.2

6. वही, 4.30.13; 5.40.4; 10.16.6

7. वही, 7.6.3; 1.33.4; 1.33.1; 5.2.3; 7.18.13; 10.27.6

8. वही, 1.125.7; 6.44.11

दोनों ही समाज-जीवन का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं और किसी भी रूप में इनमें से कोई भी वर्ग विदेशी अक्रान्ता नहीं है। इस बात को वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में उचित रूप से समझा जा सकता है कि भारत में प्रचलित रहे अन्य सम्प्रदायों, विशेषकर मध्यकाल के मुस्लिम-शासन और कालान्तर में अंग्रेजों के आधिपत्य के पश्चात् से वर्तमान तक समाज-जीवन में वही दो धाराएँ दिखाई देती हैं जिन्हें हम आज के सन्दर्भ में वैदिक और अवैदिक के रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं। निश्चित ही वेदकाल में यह स्थिति इतनी भयावह न रही हो जितनी वर्तमान में है। उस समय समाज के सम्मुख प्रश्न सभी को सुसंस्कृत, सभ्य, संस्कारित और शिक्षित बनाने का था। वह भी वैदिकधर्मानुमोदित व्यवस्थाओं के द्वारा; किन्तु मुस्लिम-आक्रमणों और ब्रिटिश आधिपत्य के पश्चात् हमें समाज में स्पष्टतः दो वर्ग दिखाई देते हैं। प्रथमतः तो वह जो हिंदुत्व अर्थात् वैदिक या सनातन संस्कृति में अपनी आस्था प्रकट करता है और अपनी जीवनचर्या में हिंदू-मान्यताओं, परम्पराओं और रीति-रिवाजों को महत्त्व प्रदान करता है। निश्चित ही यह वर्ग 'सनातन' या 'हिंदू' के नाम से जाना जाता है। इसमें समान रूप से जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि अन्य सम्प्रदायों, जिनका उद्भव वैदिक दर्शन से हुआ है, को सम्मिलित किया जा सकता है। द्वितीय वह वर्ग है जो वैदिक विचारधारा अर्थात् हिंदुत्व के प्रति अपना अविश्वास प्रकट करता है या उसके सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष व परोक्ष क्षति पहुँचाने का उपक्रम करता है। इस्लामी और ब्रिटिश शासनकाल अर्थात् विगत एक हजार वर्षों में हिंदू-संस्कृति पर निरन्तर कुठाराघात हुआ है। इस द्वितीय वर्ग में उन हिंदुओं को भी सम्मिलित किया जा सकता है जो देखने व सुनने में तो हिंदू हैं किन्तु 'धर्मनिरपेक्षता' के नाम पर हिंदू-जीवन पद्धति का उपहास उड़ाते हैं। वैदिक संस्कृति को नष्ट करने के लिए विगत हजार वर्षों से सेमेटिक मज़हबों<sup>1</sup> (इस्लाम, ईसाइयत) द्वारा चलाए गए मतान्तरण का दुष्प्रक्र इस वैदिक भू-धरा पर चल रहा है— कभी शक्ति-सामर्थ्य के बल, कभी छल-कपट तो कभी अर्थ-जैसी तृष्णाओं की पूर्ति करके। यहाँ यह

1. अब्राहमी-धर्म (Abrahamic religions) या सेमेटिक-धर्म (Semitic religions) के अंतर्गत यहूदी (Judaism), ईसाइयत (Christianity), एवं इस्लाम (Islam) सम्प्रदाय परिगणित हैं, जो स्वयं को बाइबल में वर्णित पैगंबर अब्राहम का वंशज मानते हैं। ये तीनों सम्प्रदाय मध्य-पूर्व में रेगिस्तान में पनपे। ये तीनों कट्टर एकेश्वरवादी हैं और जेरुशलम संयुक्त रूप से इन तीनों सम्प्रदायों का पवित्र तीर्थस्थल है।

उल्लेख करना भी समीचीन जान पड़ता है कि इस षड्यन्त्र को शिक्षा-पद्धति और इतिहास में सोद्देश्य वैचारिक विकृतियाँ उत्पन्न करके भी पूर्ण किया जा रहा है। इस प्रकार वर्तमान में भी समाज-जीवन में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ— वैदिक और अवैदिक क्रियाशील या सक्रिय हैं। ऋग्वेदकाल में जिस प्रकार के संघर्ष के प्रमाण हमें प्राप्त होते हैं, वे आंतरिक अशान्ति के पर्याय हैं न कि किसी बाहरी आक्रमण के। उसके पश्चात् एक पूर्ण विश्रान्ति का काल तब आता है, जब यह समस्या कम होती है। फिर मानव जीवन का सृजनात्मक पक्ष प्रबल होता है और सरस्वती के तट पर वेदों का प्रणयन होता है। सृजन सुशान्ति के वातावरण में ही सम्भव है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि हिंदुत्व का प्रत्यक्ष संबंध राष्ट्रीयता या मातृभू की अर्चना से है जिसकी मीमांसा वेदों में देखने को मिलती है। जिन लोगों की इस मातृभूमि में संवर्धित हुई संस्कृति में आस्था थी, वे 'वैदिक' कहलाये और जो इस व्यवस्था के विपरीत गए, वे 'अवैदिक' कहलाये। वस्तुतः ऋग्वेदकालीन संघर्षों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वैचारिक रूप से असभ्यता से सभ्यता की ओर बढ़ने के संकेत के रूप में ले सकते हैं; क्योंकि आज तत्कालीन नगरीयकरण व औद्योगीकरण की प्रक्रिया के प्रगत स्वरूप और ध्वस्त होती ग्रामीण व्यवस्था के फलस्वरूप हमारी समाज-व्यवस्था में शहरी और ग्रामीण जीवन का जो भेद उत्पन्न हो गया है, उसमें कहीं-न-कहीं आधुनिकता अर्थात् पाश्चात्य संस्कृति का पर्याय माने जानेवाली नगरीय संस्कृति में श्रेष्ठता का भाव दिखाई देता है। इसका एक और दुष्परिणाम यह देखने में आ रहा है कि पाश्चात्य जीवनशैली के दुष्प्रभाव के विरोध में समय-समय पर जो सांस्कृतिक अभियान भारतीय संस्कृति को संवर्धित व सुरक्षित रखने के लिए चलाए जा रहे हैं, वे भी कहीं-न-कहीं उस स्थिति का प्रकटीकरण है जो सम्भवतः ऋग्वेद काल में भी व्युत्पन्न हुई होगी। इसे हम सांस्कृतिक संक्रमण के रूप में भी ले सकते हैं।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के कुछ उद्धरणों से वैदिकों के मध्य होनेवाले आपसी संघर्ष की भी जानकारी मिलती है।<sup>1</sup> यत्र-तत्र वैदिकजनों के कुछ सदस्यों द्वारा वैदिक परम्परा के उल्लंघन के दृष्टान्त भी मिलते हैं। अथर्वन की यह घोषणा कि स्थापित विधि का उल्लंघन कोई भी दस्यु या आर्य नहीं कर सकता— इन

1. ऋग्वेद, 6.60.6; 6.33.3; 10.102.3; 7.83.3; 8.24.7; 10.38.3; 10.69.6; 10.83.1

2. पैपलाद, 8.1.3 तुलनीय हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में अपराध व दण्ड-विधान, पृ 15

उद्धरणों को सतत रूप से चलनेवाले संघर्षों के प्रमाणों के रूप में लिया जा सकता है। इन उद्धरणों से ऐसा आभासित होता है कि जहाँ एक ओर वैदिक व अवैदिक समाजों के बीच निरन्तर संघर्ष होता रहता था, वहीं दूसरी ओर इन समाजों का कहीं-न-कहीं आपसी सम्मिश्रण होता दिखाई देता है। इन संक्रमणशील परिस्थितियों में परम्पराओं व संस्कृतिजन्य विशृंखलन को रोकने के लिए वैदिक परम्परा के अनुयायियों द्वारा निश्चित ही विधि-विधानों के रूप में कुछ विधिक मापदण्ड निर्धारित किए गए थे जिनकी आगे युक्तिसंगत व्याख्या की जायेगी।

ऋग्वेद में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे आपराधिक अराजकता का स्वयं बोध होता है। यद्यपि इन दृष्टान्तों में कहीं भी 'अपराध' शब्द नहीं मिलता, तथापि इस प्रकार के कृत्यों को प्रत्येक युग में अपराध के रूप में परिगणित किया जाता है। यहाँ भेद सिर्फ शाब्दिक अर्थ का है। ऋग्वेद की एक ऋचा में वैदिक मतावलम्बी यह प्रार्थना करता हुआ दर्शित है कि 'वरुण! जो चोर और लुटेरे हमें मारते हैं, उनसे हमें बचाओ'।<sup>1</sup> 'इन विवादी निन्दक, द्रोही, पापी, पिशाचों को स्वाह करके हमें बचाओ'।<sup>2</sup> 'हे बृहस्पति! अपने प्राचीन वैभव व पराक्रम का स्मरण करके अपनी तीखी तपन से उन द्रोहियों को जलाओ जो तुम्हारी निन्दा करते हैं। इन देव-विरोधियों, चोरों, द्रोहियों, माल लूटनेवाले के हाथ में मुझे न पड़ जाने देना'।<sup>3</sup> 'हे वरुण! हम स्वप्न में चोरों से भयभीत होते हैं'।<sup>4</sup> वैदिकजनों के द्वारा स्वयं के रक्षार्थ की गई यह प्रार्थना कि 'हे अग्नि ! चोरों और तस्करों को मैं तुम्हारे मुँह में झोंकता हूँ, इन्हें चबा-चबाकर खा जाना, इन चोरों का मुँह नोचकर खा जाना'<sup>5</sup> — ये उद्धरण निश्चित ही शान्ति का परिचायक न होकर अराजकता की विभीषिका से उत्पन्न भयग्रस्त वातावरण के पर्याय प्रतीत होते हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि यह युद्धजनित विभीषिका नहीं अपितु अपराधजनक परिस्थितियाँ हैं जो तत्कालीन समाज में अपराध के घटित होने का संकेत देती हैं। इस प्रकार के कृत्यों को करनेवाले लोग कोई विदेशी आक्रान्ता नहीं बल्कि वनचर या नदी के खन्दकों में छुपकर प्रहार करनेवाले या चोरी, लूट करनेवाले लोग हैं।

1. ऋग्वेद, 2.28.10

2. वही, 4.4.15

3. वही, 2.23.14-16

4. वही, 2.28.10

5. वही, 2.11.77-79

यदि वर्तमान समाज से इन परिस्थितियों की तुलना करें, तो आज के इस भौतिक व विकसित परिवेश में भी कुछ वनवासी जातियाँ इस तरह की अपराध-वृत्ति अपनाकर अपना जीवन निर्वाह करती हैं और आज भी स्थिति उतनी भयावह है जितनी ऋग्वेदकालीन समाज में थी।

इन उद्धरणों से तत्कालीन जीवन के संघर्षमय होने की पुष्टि होती है। वस्तुतः इस प्रकार के संघर्षों के मूल में एक वैचारिक मनोवृत्ति की छाप स्पष्टतः दिखाई पड़ती है, जो वैचारिक व विभिन्न व्यवस्थाओं के स्थापन के वैविध्य और निर्मितिकरण को लेकर है। किसी भी रूप में इस प्रकार के अराजकतापूर्ण वातावरण के लिए बाह्य आक्रमणकारियों (जैसा कि पूर्व के विद्वानों का मत है) को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। तत्कालीन समाज में संघर्ष, भय, अराजकता, पृथक् सामाजिक सम्मिश्रण, शान्ति-स्थापना के प्रयास— ये ऐसी चुनौतियाँ दिखाई देती हैं जिन्हें अपराध व विधि-विधानों से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए ऋग्वेदकालीन चिन्तकों व मनीषियों द्वारा नियम-विधान निर्मित किए गए जिनका आधार नैसर्गिक था।

ऋग्वेदकालीन समाज में नैसर्गिक विधि की महत्ता को स्वीकार करते हुए प्रकृति में निहित नियमों पर विशेष बल दिया गया है। नैसर्गिक विधि पर आधारित यह नियम-विधान दुर्धर्ष और अखण्ड माने गए हैं और इन्हीं को 'ऋत्' के रूप में पारिभाषित करते हुए मान्यता प्रदान की गई है। वर्तमान संवैधानिक व्यवस्थाओं व विधिक प्रणाली (भारतीय संविधान का अनुच्छेद 14) में भी इस प्रकार के नियमों की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है। ऋग्वैदिक विधि के पर्याय माने जानेवाले 'ऋत्' शब्द की व्युत्पत्ति ऋ=गतौ धातु से हुई है जिसका शब्दार्थ है वस्तुओं की कार्यविधि। वस्तुतः यह जीवन-यापन करने की एक विशिष्ट शैली है जो प्रकृतिमूलक नैतिकता, आचरण व सिद्धान्तों पर आधारित है। यहाँ इसे वैश्विक सत्य के रूप में निरूपित किया गया है। पृथिवी, सूर्य और अन्यादि ग्रह-नक्षत्रों का ऋत् नियामक है। ऋत् का अनुसरण करनेवाले न तो पथभ्रष्ट होते हैं और न ही लड़खड़ाते हैं— 'न बिभीतो न रिष्यतः'। ये वाक्य वैदिक आदर्श के अनुसार अत्यन्त सम्मानित समझे गए हैं। 'ऋत्' से तात्पर्य

1. अथर्ववेद, काण्ड 2, सूक्त 15

सामान्यतः नियमों के विस्तृत समूह से है और यह न्याय के सर्वव्यापी भाव का भी द्योतक है। डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे ने ऋग्वैदिक साक्ष्यों के आलोक में ऋत् को तीन रूपों में पारिभाषित करने का प्रयास किया है— 1. प्रकृति की गति या अखिल ब्रह्माण्ड में एक सामान्य-सा क्रम, 2. यज्ञीय विधि एवं 3. मानव का नैतिक आचरण।<sup>1</sup> वस्तुतः यहाँ ऋत् अपने बृहत् स्वरूप में विधिक नियमों का द्योतक है, किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में ऋत् को मानव के नैतिक आचरण के पर्याय के रूप में देखने की चेष्टा की गई है। ऋग्वेद में निर्दिष्ट है कि ऋत् को समझना व उसकी रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहना और उसके अनुरूप जीवन व्यतीत करना ज्ञान का उच्चादर्श है।<sup>2</sup> ऋग्वेद में 12 बार 'ऋत्' शब्द का व्यापक अर्थों में उल्लेख हुआ है। ऋत् जल है, उसके स्मरण व अनुसरणमात्र से पापों का शमन हो जाता है। ऋत् के मधुर ज्ञान से बहरे भी सुनने लग जाते हैं, पृथिवी, सूर्य यहाँ तक कि अन्यादि ग्रह-नक्षत्रों के लिए ऋत् नियम है।<sup>3</sup> इसके अन्यत्र ऋत् विश्व की व्याख्या का भी प्रतीक है। अखिल ब्रह्माण्ड में जो भी व्यवस्था फलीभूत हुई है वह ऋत् के अनुरूप ही है। यह जगत् उसी के नियमों से शासित होता है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि ऋत् एक परम शक्तिमान अपरिवर्तनीय सत्ता का पर्याय है जो परिवर्तनशील क्षणभंगुर सृष्टि में भी अपरिवर्तनीय है। ग्रन्थ में एक स्थान पर ऋत् को ही सबके जनक के रूप में मान्यता प्रदत्त करते हुए देवताओं को भी ऋत् से प्रादुर्भूत हुआ बताया गया है।<sup>4</sup> कहीं-कहीं पर देवताओं को ऋत् का सारथी (ऋत् आधारित नियमों का पालन करनेवाला) कहा गया है।<sup>5</sup> यहाँ तक कि सोम, अग्नि को ऋत् (विधिक नियमों) की रक्षा का भी निर्देश प्राप्त होता है।<sup>6</sup>

इसके अन्यत्र ऋत् याज्ञिक-विधि का भी सूचक है। ऋग्वेद में अग्नि के लिए ऋत्-चित्त (नियमों का अनुसरणकर्ता) शब्द प्रयुक्त हुआ है।<sup>7</sup> एक ऋचा में 'ऋतेन-ऋतम्' शब्द भी आया है जो यज्ञों की निर्धारित गति व विश्व के

व्यवस्थित स्वरूप का परिचायक है।<sup>1</sup> ऋग्वेद में ऋत् की दैवीय अभिव्यञ्जना को स्वीकार करते हुए उसकी महत्ता को अदिति, मरुतों, द्यावापृथिवी, इन्द्र व विष्णु के साथ सम्बद्ध किया गया है।<sup>2</sup> कहीं-कहीं पर यह सत्य का भी प्रतीक है लेकिन 'ऋतधीतयः' (ऋत् पर विश्वास करना) एवं 'सत्यधर्माणिः' (विशिष्ट धर्म का पालन करना)-जैसे शब्दों से 'सत्य' व 'ऋत्' में भिन्नता का भाव भी दर्शित होता है, किन्तु दोनों तत्त्व आपसी समरूपता के प्रतीक हैं।<sup>3</sup>

ऋग्वेद में ऋत् को नैतिकता के संरक्षक के रूप में भी प्रतिष्ठापित किया गया है। वायु मधु का वहन करती है, नदियाँ भी उनके लिए ही करती हैं जो ऋत् को धारण करते हैं।<sup>4</sup> ऋत् का उल्लंघन करने पर देवताओं के लिए भी दण्ड का विधान मिलता है।<sup>5</sup> इसके अलावा ग्रन्थ में 'अनृत' शब्द आया है जो ऋत् एवं सत्य के प्रतिकूल आचरण का पर्याय है।<sup>6</sup> ऐसा आभासित होता है कि इस काल-विशेष में सम्पूर्ण जगत् की व्यवस्था ऋत् आधृत नियमों से संचालित होती थी। ऋत् अपने विरोधी तत्त्व अनृत पर नैतिक विजय का पर्याय है। ऋग्वेद में वर्णित यम-यमी के प्रसंग से भी ऋत् के रूप में नैसर्गिक विधि की महत्ता को बल मिलता है।<sup>7</sup> इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि तत्कालीन जनजीवन में प्रकृति, नैतिकता, आचरण में सामञ्जस्य होने के कारण किसी भी प्रकार की वैधानिक विधि की आवश्यकता नहीं रही होगी, किन्तु इस विषय में स्पष्टतः कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए इस कालविशेष में ऋत् को विधि के विस्तृत रूप में लेना समाचीन जान पड़ता है। डॉ. शिवाजी सिंह ने भी विधि के दो स्वरूपों के अंतर्गत ऋत् को अपरिवर्तनीय विधि में स्थान दिया है। इसके अन्यत्र उन्होंने स्पष्ट किया है कि प्रकृति व मनुष्य के संचालन की मानसिक व प्राकृतिक कल्पना ही ऋत् है और यह ऋत् हमारे मस्तिष्क में विचार का रूप ले लेता है तो सत्य बन जाता है। हमारे यहाँ प्रकृति ही संस्कृति है। ऋत्, सत्य, धर्म में मुख्य अन्तर

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1016

2. 'ऋतस्य दृढहा धारुणानि सन्ति' — ऋग्वेद, 4.23.9

3. वही, 4.23.8-10

4. Arthur Anthony Macdonell, *Vedic Mythology*, p.3

5. ऋग्वेद, 8.66.12; 6.51.3; 3.2.8

6. वही, 9.48.4; 9.73.8

7. वही, 4.3.4

1. ऋग्वेद, 4.3.9; 5.15.2; 5.68.4

2. वही, 1.75.5; 10.66.4

3. वही, 5.51.2; 10.113.4; 10.190.1

4. 'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः' — वही, 1.90.6

5. 'ऋतं चिकित्व ऋतमिच्छि' — वही, 5.12.2

6. वही, 10.10.4; 7.4903; 10.124.5

7. वही, 10.10.4

मनसावाचाकर्मणा का है।<sup>1</sup>

ऋग्वेद में एक स्थल पर ऋत् को न्यायाधीश के रूप में मान्यता प्रदत्त की गई है। वह ऋत् ही है जो मानव को सत्य पर अनुगमन के लिए प्रेरित करता है। ऋत् की बुद्धि पापों को नष्ट करती है तथा ऋत् का विचार नियमानुल्लंघनों को हटाता है।<sup>2</sup> न्यायाधीश व न्यायिक प्रशासक के रूप में ऋत् के मानवीकरण पर भी बल दिया गया है। ऋत् के शरीर दृढ़, धारण करनेवाले, आनन्ददायक, कल्याणकारी व अनेक हैं, वह इन्द्रियों को करणीय व अकरणीय कृत्यों के लिए निर्देशित करता है।<sup>3</sup> अथर्ववेद व काठकसंहिता से भी ऋत् के न्यायिक स्वरूप की पुष्टि होती है कि ऋत् का अनुसरण करने से तीन शक्तियाँ प्रादुर्भूत हुईं जिनसे प्रजा को जीवन-शक्ति, ऊर्जा एवं रक्षण की प्राप्ति होती है।<sup>4</sup> इस प्रकार स्पष्ट है कि ऋत् को तत्कालीन जीवन में जनकल्याणकारी व सर्वशक्तियों के उद्गम के रूप में निरूपित किया गया है और समस्त विश्व, यहाँ तक कि देवगणों से भी उसके निर्देशन में शासित रहने की अपेक्षा की गई है। वस्तुतः इस काल में किसी ऋत्विहीन समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकी। इसलिए यहाँ ऋत् व विधि एक-दूसरे के पर्याय हैं।

ऋग्वेदकालीन समाज में ऋत् (नैसर्गिक विधि) को ही सर्वोच्च विधि के रूप में मान्यता दी गई है। ऋत् ही विविध प्रकार के अनैतिक कार्यों के लिए प्रायश्चित्त का माध्यम था। तत्कालीन समाज में नैतिकता व सदाचार के मूलभूत आधार विद्यमान थे एवं अपराध का स्वरूप पाप-पुण्य की अवधारणा के साथ संलग्न था। ग्रन्थ की अनेक ऋचाओं में पाप और पुण्य की अवधारणा को व्यापक अर्थों में ऋत्-विरोधी कार्यों के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इन ऋचाओं में पाप और अपराधों का सम्मिश्रण होता परिलक्षित होता है जिन्हें ईश्वर भी हेय की दृष्टि से देखता है। निश्चित ही इस काल में व्यवहार-विधि, नैतिक विधि और विधि-विरुद्ध कार्यों का यथारूप वर्गीकरण नहीं हो सका था, तथापि ऋत् या दैवीय विधि के किसी अंश की उपेक्षा को पाप के रूप में परिगणित किया गया

है।<sup>1</sup> यह वह समय था जब समाज में विविध निकायों की नींव रखी जा रही थी। इसलिए ऋग्वेद की ऋचाओं में पाप व अपराध पृथक्ता का भाव लिए प्रतीत नहीं होते, फिर भी पाप और अपराध के आधारभूत कारणों, परिस्थितियों आदि अपराधमूलक अभिव्यञ्जनाओं के स्वर सुनाई देते हैं।<sup>2</sup> इन्हीं के आधार पर ज्ञात व अज्ञात अवस्था में किए गए पाप और उसके लिए दिए जानेवाले दण्डों में विभेद हुआ।

ऋग्वेद में पाप की उत्पत्ति का उल्लेख इस ऋचा से ज्ञात होता है कि ‘ओ वरुण! पाप स्वयं की आंतरिक प्रवृत्ति से उत्पन्न नहीं हुआ। यह भाग्य, सुरा, द्यूत (जुआ) और असावधानी के कारण फलीभूत होता है, यहाँ तक कि स्वप्न भी दुष्कर्मों का कारण है।’<sup>3</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि यहाँ पाप आंतरिक वृत्ति न होकर वातावरण से उत्पन्न प्रवृत्ति है और पहला पाप दूसरे पाप का जनक है। डॉ. काणे ने पाप (अपराध) को पारिभाषित करते हुए लिखा है कि ‘पाप’ या ‘पातक’ ऐसा शब्द है कि जिसका आचारशास्त्र की अपेक्षा धर्म से अधिक संबंध है। सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा कृत्य है जो ईश्वर या उसके द्वारा प्रकाशित किसी व्यवहार (क़ानून) के उल्लंघन अथवा जान-बूझकर उसके विरोध करने से उद्भूत होता है; यह ईश्वर की उस इच्छा का विरोध है जो किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में अभिव्यक्त रहती है; अथवा यह उस ग्रन्थ में पाए जानेवाले नियमों के पालन में असफलता का परिचायक है।<sup>4</sup> वस्तुतः भारतीय-संस्कृति में प्रारम्भ से ही पाप और अपराध का परिगणन धर्मविरुद्ध कार्यों के साथ किया गया है। ध्यातव्य है कि पूर्व-वैदिक समाज का स्वरूप न तो वर्तमान की तरह था और न ही तत्कालीन जनसामान्य के मानस पर पाश्चात्य या किसी अन्य संस्कृति का प्रभाव था। इसके इतर यह भी ध्यान में रखने योग्य विषय है कि नियम-विधानों के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया सदैव ही सांस्कृतिक होती है; परम्परा, आचरण, रूढ़ियाँ, देशकाल, धर्म-जैसे शाश्वत मूल्यों पर ही इसका जीवन्त स्वरूप निर्भर होता है। यही बात पूर्व-वैदिक नियम-विधानों के विषय में उचित जान पड़ती है।

1. *Evolution of the Smriti Law*, Published by Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1972, p.55

2. ऋग्वेद, 4.23.8

3. वही, 4.23.9

4. अथर्ववेद, 8.8.13; काठकसंहिता, 39.10

1. ऋग्वेद, 7.90.5

2. हरिहरनाथ त्रिपाठी, *प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका*, पृ. 186

3. ऋग्वेद, 7.86.6

4. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, खण्ड 3, पृ. 1015



ऋग्वेद के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इस कालविशेष में प्रकृतिमूलक धर्म के आधारभूत तत्त्व विद्यमान थे। इसलिए ग्रन्थ की बहुतेरी ऋचाओं में पाप से बचने व उससे मुक्त होने की इच्छा व्यक्त की गई है। इस काल में ऐसे भी समाज का अस्तित्व ज्ञात होता है कि ऋत् की विधि, यज्ञीय जीवन, वैदिक भाषा एवं में सदाचार में अविश्वास करते थे। ग्रन्थ में ऐसे लोगों को आगस, एनस, अघ, दुरित, अहंस शब्दों द्वारा चिह्नित किया गया है।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र 'वृजिन' शब्द भी सदाचार व ऋत् के विरोध में प्रयुक्त हुआ है।<sup>2</sup> 'दुरित', 'द्रोह' शब्द भी पाप (अपराध) के रूप में बहुतायत मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं और एक ऋचा में इन तीनों शब्दों का समान अर्थों में उल्लेख हुआ है जो देवत्व के नियमों के विरुद्ध किए गए पाप या अपराधमूलक कृत्यों का परिचायक है।<sup>3</sup> 'अंहति', 'अयज्वानः', 'अनीन्द्र' और 'रपस दुष्कृत' शब्द भी पाप के लिए प्रयुक्त हुए हैं।<sup>4</sup> इस प्रकार हम ऋग्वेद की ऋचाओं में 'पाप' शब्द को स्पष्ट रूप में चरितार्थ होता पाते हैं। इसके अन्यत्र 'पापी' शब्द पाप या अपराध करनेवाले के लिए प्रयुक्त हुआ है।<sup>5</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस काल में ऋत् के विरुद्ध किया गया आचरण और व्यवहार ही पाप या अपराध था जिसे कालान्तर में अपराध के रूप में सूचीबद्ध कर लिया गया। ऋग्वैदिक आर्य भी ऋत् के इस नियम से परे नहीं थे।<sup>6</sup> निःसन्देह इस कालविशेष में पाप और अपराध की सूची क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत नहीं होती। पापमयी अपराध की इस अवधारणा में ऋत्, दैवीय इच्छा और नैतिकता के विरुद्ध किए गए कार्यों का संकलन किया जा सकता है जिसका निर्देश ऋग्वेद से प्राप्त होता है। पूर्व-वैदिककालीन अपराधों को व्याख्यायित करते हुए मैक्समूलर ने लिखा है कि अपराध की धारणा का क्रमिक विकास उन मनोरम उपदेशों में मिलता है जिन्हें इन प्राचीन मंत्रों के कुछ वचन हमें देते हैं।<sup>7</sup>

तत्कालीन समाज में पाप (अपराध) एवं पापी (अपराधी) की मनोवृत्ति

1. ऋग्वेद, 7.86.3; 7.89.5, 2.28.5, 2.28.6, 3.12.14
2. 'अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति'—वही, 2.27.3
3. 'इदमापः प्र वहत यत् किं च दुरितं मयि ।  
यद् वाहमदिद्रोह यद् वा शेष उतानृतम् ॥' —वही, 1.23.22
4. ऋग्वेद, 1.33.4; 1.133.1; 5.2.3; 7.1.8.13; 10.27.6; 10.28.77; 77.65.2
5. वही, 8.61.11; 10.10.12; 4.5.5; 10.108.6; 10.164.5; 1.129.11
6. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ 187
7. The Sacred Books of the East, Vol. I, 1879, p.22

का उल्लेख नहीं मिलता; लेकिन द्रोह की अव्यवस्थित सूची मिलती है। सूची में वर्णित अपराधों की प्रकृति व स्वरूप, धर्मशास्त्रों में वर्णित अपराधों की तरह जघन्य प्रतीत नहीं होता। अपराधों के स्वरूप पर नैतिकता के विरुद्ध किए गए आचरण का भाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इसलिए इन अपराधों की प्रकृति सामाजिक बुराई की तरह दिखाई देती है किन्तु कुछ अपराधों एवं उन पर आरोपित दण्ड से अपराधी के प्रति जघन्यता का भाव प्रदर्शित होता है। ग्रन्थ में पाप की सूची में सात प्रकार की मर्यादाओं के उल्लंघन को परिगणित किया गया है।<sup>1</sup> अपराधों के इन सात प्रकारों के विषय में निश्चितता कुछ नहीं कहा जा सकता। सायण ने इन मर्यादाओं पर टीका देते हुए लिखा है कि स्तेय, तत्पारोहण (गुरु की शय्या को अपवित्र करना), ब्रह्महत्या, भ्रूण-हत्या, सुरापान, एक ही अपराध को बार-बार करना एवं अनुलोप (पापकृत्य के लिए मिथ्या सम्भाषण करना)<sup>2</sup>। इसके अन्यत्र जल व अन्न को नष्ट करना भी द्रोह माना गया है। पिता की आज्ञा का उल्लंघन भी द्रोह माना गया है।<sup>3</sup> मिथ्या सम्भाषण व जादू-टोना या अभिचार को अशोभनीय मानते हुए इन्हें भी पाप की श्रेणी में रखा गया है।<sup>4</sup> इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे अपराधों का भी उल्लेख मिलता है जो मानव-जीवन के विविध पक्षों को प्रभावित करते थे और इनकी प्रकृति भी जघन्य थी। दूसरे की कमाई से जीविकोपार्जन करना व उसे हड़पना पापमय कृत्य था।<sup>5</sup> विवाह-पूर्व किसी स्त्री से सहवास को भी घृणा की दृष्टि से देखा गया है।<sup>6</sup> द्यूत (जुआ) और उसके लिए गए ऋण व इन दोनों में प्राप्त हुई स्त्री के शीलहरण को जघन्य माना गया है।<sup>7</sup> कालान्तर में इस प्रकार के कृत्यों को धर्मशास्त्रों में अपराध के रूप में संकलित कर लिया गया।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में चोरी व डाके की घटनाओं के बहुतेरे प्रमाण मिलते हैं। चोरों के लिए 'तस्कर', 'स्तेन' व 'तायु' शब्द का उपयोग मिलता है।

1. ऋग्वेद, 10.5.6
2. निरुक्त, 6.27
3. ऋग्वेद
4. वही, 1.23.22; 7.104.15
5. वही, 2.28.9
6. वही, 2.29.1; 10.85.24
7. वही, 7.118.1; 10.117.2; 10.7.5; 10.34.42; 2.29.1

‘स्तेन’ शब्द का बहुधा उल्लेख हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है गायों को चुरानेवाला।<sup>1</sup> काणे ने यहाँ चोर व तस्कर को व्याख्यायित करते हुए लिखा है कि वह चोर, जो सम्पत्ति को गुप्त रूप से उठा ले जाता है; तथा तस्कर वह है जो खुलेआम चोरी करता है।<sup>2</sup> चोरों के लिए कहा गया है कि चोर लोग साहसी होते हैं तथा रस्सियों से लोगों को बाँध देते हैं और तस्कर रात्रि में दिखाई देते हैं।<sup>3</sup> इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में इस प्रकार के पापमय कृत्यों को करनेवाले दो वर्ग थे— प्रथमतः वह जो छिपकर चोरी करते थे जिन्हें ‘चोर’ कहा जाता था; द्वितीयतः वे जो दिन-दहाड़े लूट व डाके डालते थे और उन्हें ‘तस्कर’ कहा जाता था। ग्रन्थ में तस्करों, चोरों के पीछे कुत्ता दौड़ाने व उसे रस्सी से बाँध लेने के लिए निर्देशित किया गया है।<sup>4</sup> गाय एवं वसा (एक विशेष प्रकार की गाय) के चोरों को ‘तुयस’ कहा गया है। हत्या व लूट आदि के लिए भी दण्ड का विधान मिलता है।<sup>5</sup> इसके अन्यत्र ऋग्वेद में मानसिक पापों का भी उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद में दायभाग (संपत्ति-विभाजन) के विधि-अनुकूल संकेत मिलते हैं, लेकिन इस विषय में निश्चितता कुछ नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद में ‘ददातु वीरं शतदायमुक्तयम्’-जैसे शब्दों से इस प्रकार का भाव स्पष्ट होता है।<sup>6</sup> सायण ने शतदाय को प्रभूत दाय (सम्पत्ति) के रूप में देखने की चेष्टा की है जो उचित जान पड़ती है। ‘भाग’ या ‘पुरुस्कार’-जैसे शब्द भी ‘श्रमस्य दाय विभजन्मेभ्य’ के रूप में दाय के लिए प्रयुक्त हुए परिलक्षित होते हैं।<sup>7</sup> कालान्तर में धर्मशास्त्रों में उत्तराधिकार के लिए जिस ‘रिक्थ’ शब्द का उपयोग हुआ, वह भी ऋग्वेद से लिया गया है। सायण ने भी अपने ग्रन्थ निरुक्त में रिक्थ को दायभाग के रूप में वर्णित

1. ‘न ता नशन्ति न दधाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति’—वही, 6.28.3

‘पथ एकः पीपाय तस्करो यथाँ एष वेद निधीनाम्’ —वही, 8.29.6

2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ 824

3. ऋग्वेद, 10.4.6

4. वही, 7.55.3; 8.67.14

5. वही, 2.29.1; 10.85.24

6. वही, 2.32.4

7. वही, 10.114

किया है।<sup>1</sup> दायभाग को अभिव्यक्त करती इन शाब्दिक अभिव्यञ्जनाओं से उत्तराधिकार-संबंधी विधि के प्रचलन में होने का निर्देश तो नहीं मिलता किन्तु ग्रन्थ में सम्पत्ति-विभाजन के लिए निर्देशित किया गया है।<sup>2</sup>

ऋग्वेद से पूर्व-वैदिककालीन न्याय-प्रशासन की रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतुरूपी नैतिक मूल्यों का अधिरोपण जनचेतना के रूप में हो चुका था। इसलिए ऋग्वेद से तत्कालीन न्यायिक-प्रशासन में राजापराध व राजकीय विधि के होने के स्पष्ट संकेत नहीं मिलते। लेकिन यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि नूतन अनुसन्धानों (‘ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता’ (डॉ शिवाजी सिंह) व ‘हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य’ (डॉ भगवान सिंह) से ऋग्वेद में वर्णित जिस समाज का प्रतिबिम्ब निर्मित हो रहा है, उससे प्रतीत होता है कि कहीं-न-कहीं इतने व्यवस्थित समाज के लिए नियम-विधानों व न्यायिक प्रशासन की एक विस्तृत शृंखला अवश्य रही होगी या कालान्तर में विकसित हुई होगी।

न्यायिक व्यवस्था की युक्तिसंगत गवेषणा से पूर्व ऋग्वेदकालीन राजनैतिक व्यवस्था पर संक्षेप में विचार करना भी अपरिहार्य होगा, क्योंकि विधि-विधानों के क्रियान्वयन में राजप्रशासन की महती भूमिका होती है। ऋग्वेद के उद्धरणों के आलोक में एक सुदृढ़ राजनैतिक प्रशासन का दृश्य उभरकर सामने आता है। ऋग्वेद में राजप्रशासन के प्रतीक के रूप में ‘राजा’ शब्द का शताधिक उल्लेख हुआ है। राज्यों व राजाओं लिए ‘भुवः’, ‘सम्राट्’, ‘भूपति’, ‘एकराट्’, ‘अधिराट्’, ‘विराट्’, ‘स्वराट्’ आदि अन्य शब्द प्रयुक्त हुए हैं।<sup>3</sup> इसके अतिरिक्त प्रशासनिक व्यवस्था के कुशल संचालन के लिए मंत्री-परिषद् के अस्तित्व में होने का आभास मिलता है। ग्रन्थ में ‘अमात्य’ शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख विशेषण के रूप में मिलता है; यहाँ इसका अर्थ स्वयं हमारा या हमारे घर में रहनेवाले से है।<sup>4</sup> एक ऋचा में उल्लेख आया है कि हे अग्नि ! अमावान् के साथ हाथी पर चढ़े हुए

1. ‘न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्’ —वही, 3.31.2; सायण ने इसका अर्थ कहा है— ‘न जमाये भगिन्यै.....तान्वः आत्मजः पुत्रः रिक्थं प्रारिचत् प्रादात्। चकार एनां गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राहस्य।’

2. ऋग्वेद, सायणभाष्य, 1.70.5

3. ऋग्वेद, 4.9.2; 8.37.3; 10.128.9; 1.188.4-6; 1.67.9

4. वही, 7.15.3

राजा के समान जाओ'।<sup>1</sup> पृ वृ काणे ने 'अमावान्' का अर्थ मंत्रियों के रूप में लिया है।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र सेनानी, अधिवक्ता, उपवक्ता, दूत, चर या स्पर्श-जैसे प्रशासनिक शब्दों से पूर्व-वैदिक काल में एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक प्रणाली के प्रचलन में होने की पुष्टि होती है।<sup>3</sup> इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में 'ग्रामणी', 'विशपति', 'नायक', 'नर', 'नेता', 'गणपति' आदि शब्द भी प्रशासनिक व्यवस्था की छोटी इकाई के अस्तित्व में होने की ओर संकेत करते हैं।<sup>4</sup> इस प्रकार पूर्व-वैदिककाल में एक सुदृढ़ केन्द्रीय प्रशासनिक व्यवस्था के संकेत प्राप्त होते हैं। अंततोगत्वा यह कहना ही सार्थक होगा कि तत्कालीन जीवन में एक व्यवस्थित न्यायिक प्रशासन की परम्परा प्रचलित थी। भले ही उसका स्वरूप कालान्तर की धर्मशास्त्रकालीन व्यवस्थाओं की तरह न रहा हो।

न्यायिक-प्रशासन पर भी ऋत् के प्रभाव को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में देवताओं के मानवीकरण के विचार को स्वीकार किया गया है। वरुण, जो न्याय का सर्वोच्च देवता है, को ऋत् के अभिरक्षक के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। मित्र, अर्यमा और वरुण ऋतवान् होकर पापों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।<sup>5</sup> वह (वरुण) सृष्टि में व्याप्त सदाचार-संबंधी नियम-विधान उसी के द्वारा निर्मित है। वह समस्त विश्व का निरीक्षण करता है, पापियों को दण्ड देता है; वह क्षमावान् भी है, वह केवल धरती का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जगत् का स्वामी है। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्रों की गति, संचालन और नियमबद्धता उसी के अधीन है।<sup>6</sup> उसका विधान सर्वमान्य है एवं उसके उल्लंघन पर प्राणदण्ड का भी निर्देश मिलता है।<sup>7</sup> ऐसा परिलक्षित होता है कि पूर्ववैदिककालीन जीवन में वरुण को आदर्श के रूप में मान्यता प्राप्त थी और शनैः-शनैः उसका स्वरूप परिवर्तित हुआ और वह वेद में सदाचार का देवता माना जाने लगा। इसलिए ऋग्वेद में वरुण का उल्लेख प्रायः सम्राट् या राजा के रूप हुआ

1. 'कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवां इभेन' — वही, 4.4.1
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ 623
3. ऋग्वेद, 7.20.5; 2.23.8; 4.9.5; 3.32
4. वही, 10.62.11; 2.1.8; 6.24.10; 3.6.5; 2.33
5. वही, 7.60.5; 1.25.6
6. वही, 1.24.16; 2.28.5
7. वही, 7.118.1; 10.117.2; 10.7.5; 10.34.42; 2.91.1

है। लेकिन वह भी अनियन्त्रित व स्वेच्छाचारी न होकर ऋत् के अधीन था।<sup>1</sup>

ऋग्वेदकालीन न्यायिक संगठन के विषय में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः राजनैतिक विकास होते-होते राजा और पुरोहित न्याय-व्यवस्था के प्रमुख अधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुके थे। साक्ष्यों के अभाव में न्यायालयों के सन्दर्भ में ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। सभा-समिति और परिषद्-जैसी संस्थाएँ न्यायिक कार्यों को सम्पन्न करती थीं। ऋग्वेद में 'सान्दय', 'विदथ्य', 'सभेय' शब्द सभा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। विप्र को सभेय कहा गया है।<sup>2</sup> ग्रन्थ में एक स्थल पर सभा को जुआघर के रूप में भी उल्लेखित किया गया है।<sup>3</sup> ऋग्वेद में वर्णित 'गर्तारुगिव सनये धनानाम्' पर सायण ने लिखा है कि गर्ता वह काठ का तख्ता है जो सभा में रखा रहता है और जिस पर खड़ी होकर पुत्रहीन विधवा अपने पति के धन का अधिकार माँगती है।<sup>4</sup> उक्त उद्धरण को आधार बनाकर कहा जा सकता है कि सभा, परिषद्-जैसी कोई संस्था अवश्य रही होगी।

तत्कालीन न्यायिक-प्रक्रिया में अपराध को सिद्ध करने के लिए दिव्य साक्ष्यों का उपयोग किया जाता था; किन्तु इस विषय में प्रामाणिक सन्दर्भ उपलब्ध नहीं हैं। ग्रन्थ में उल्लिखित यह प्रसंग कि उचय के पुत्र दीर्घतमा की यह प्रार्थना कि दस गुनी लकड़ियों से निकली आग उसे भस्म नहीं कर सकती; हाथ-पैर बाँधकर फेंकने पर भी पानी उसे डुबा नहीं सकता<sup>5</sup> को दिव्य साक्ष्य के प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है।

तत्कालीन प्रशासन न्यायिक प्रशासन में प्रचलित दण्ड-विधान का सुधारात्मक उद्देश्य प्रतीत होता है। दण्ड-नीति का भी स्पष्ट चित्रण नहीं मिलता है। पापपूर्ण कृत्यों के लिए निश्चित दण्ड विधान था, किन्तु वह भी प्रारम्भिक स्तर पर प्रायश्चित के रूप में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में 'प्रायश्चित' शब्द का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन ग्रन्थ की ऋचाओं से इस प्रकार के प्रायश्चित्तात्मक विधान के क्रियान्वयन के संकेत मिलते हैं। प्रथमदृष्ट्या पाप से मुक्ति व

1. ऋग्वेद, 1.19.20
2. वही, 2.24.13
3. वही, 10.54.6 तुलनीय पृ वृ काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ 616
4. ऋग्वेद, 1.124.7; निरुक्त, 3.5
5. वही, 1.158.4-5

दया-क्षमा के लिए प्रार्थना और स्तुति को ही श्रेयस्कर माना गया है।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र जल को भी पाप-मुक्ति के अर्थों में ग्रहण किया गया है।<sup>2</sup> किन्तु दण्ड-विधान पूर्णतया सामाजिक विधि का अनुपालन करता प्रतीत नहीं होता। समाज के परिवर्तित होते स्वरूप व शिथिल होती सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों में दण्ड-विधि को राजविधि में समाहित होता पाते लेकिन उसका स्वरूप उदार था। अपराध पर दण्ड की व्यवस्था प्रतिफल के रूप में अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार के प्रतिफल व क्षतिपूर्ति को 'वैरदेय' कहा गया है और प्रकारान्तर में यही 'देय' शब्द स्मृतियों में जुमाने के रूप में पारिभाषित हो गया।<sup>3</sup> क्षतिपूर्ति व्यक्ति के स्थान पर संगठनों के माध्यम से की जाती थी। चोरी के विरुद्ध दिए गए दण्ड में प्रतिफल या क्षतिपूर्ति विशेष रूप से उभरकर सामने आती है।<sup>4</sup> ऐसा प्रतीत होता कि वैदिक समाज संघबद्ध था; व्यक्ति, कुटुम्ब, ग्राम एवं विभिन्न संगठनों में समाविष्ट था। इसलिए व्यक्ति का अपराध कुटुम्ब व संगठन का अपराध माना जाता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर दो व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़े का उदाहरण मिलता है जिसमें धन के द्वारा शान्ति का प्रयास किया गया है।<sup>5</sup> क्षतिपूर्ति के रूप में दिए जानेवाले धन के लिए ऋग्वेद में 'नृन्मन्', 'क्षत्रम्', 'रघस्', 'ब्रह्म' और 'वृत्रम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।<sup>6</sup> 'नृन्मन्' उस धन को कहा जाता है जिससे शत्रु को मित्र बनाया जा सके। 'क्षत्रम्' उस धन को कहा गया है जिससे व्यक्ति अवैधानिक कार्य से मुक्त हो सके। 'ब्रह्म' से धर्म की वृद्धि की जाती है। 'रघस्' से वैधानिक कार्य होता है। 'वृत्रम्' द्वारा राजदण्ड से मुक्ति होती है।<sup>7</sup> धन का यह विभाजन इस ओर संकेत करता है कि पूर्व-वैदिककालीन न्यायिक प्रक्रिया में दण्ड के रूप में जुमाने का बीजारोपण हो रहा था व 'वैरदेय' (बदले से दिया गया धन) से राज्य का संबंध स्थापित हो चुका था। पूर्व-वैदिककालीन समाज में हत्या-जैसे जघन्य अपराधों के बदले मृत्युदण्ड-जैसे दण्डों का अस्पष्ट वर्णन मिलता है। ऋत्

एवं ईश्वरेच्छा के उल्लंघन का फल दैवीय प्रकोप और मृत्यु रहा है।<sup>1</sup> एक सौ आत्मावाला भी दैवीय नियम का उल्लंघनकर जीवित नहीं रह सकता।<sup>2</sup> इसके अतिरिक्त हत्या-जैसे अपराध के लिए हत्यारे द्वारा क्षतिपूर्ति का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। एक व्यक्ति को 'शतदम्' कहकर सम्बोधित किया गया है क्योंकि एक स्थान पर एक व्यक्ति के प्राणों के मूल्य के रूप में सौ गायों के दिए जाने का उल्लेख है।<sup>3</sup> निश्चय ही इस काल में क्षतिपूर्ति प्रदान करने का उद्देश्य पीड़ित व्यक्ति को सबल बनाना व अपराधी को सुधारना था।

कुछ विद्वानों ने पूर्व-वैदिककालीन दण्ड-व्यवस्था के प्रतिकारात्मक स्वरूप की समानता ओल्ड टेस्टामेंट (Old Testament) की उक्ति 'आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत, हाथ के बदले हाथ और पाँव के बदले पाँव'<sup>4</sup> के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया है।<sup>5</sup> किन्तु यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पूर्व-वैदिककालीन दण्ड-व्यवस्था का स्वरूप सुधारात्मक था न कि प्रतिकारात्मक। अन्ततः ऐसा लगता है कि पूर्व-वैदिककालीन आर्यों के जीवन के विकास का प्रारम्भिक चरण था। जहाँ विभिन्न संस्थाएँ व व्यवस्थाओं की नींव समाज में रखी जा रही थी जो कि अभी अपनी शैशवावस्था में थी और जिसका विकास कालान्तर में क्रमिक रूप से होता रहा और यही बात अपराध व दण्ड के विषय में भी उचित प्रतीत होती है। इस काल में अपराध व दण्ड के स्वरूप का विशेष व्यवस्थितिकरण नहीं हो पाया था। किन्तु स्मरण रहे कि तत्कालीन जीवन में व्यक्ति व समाज को व्यवस्थित व अनुशासित करने के लिए विभिन्न विधि-विधानों की महत्ता को स्वीकार अवश्य किया गया था।

## 2.2 उत्तर-वैदिक काल

ऋग्वेद को छोड़कर ब्राह्मणारण्यकोपनिषदों तथा अन्य संहिताओं— यजुषू, साम एवं अथर्व तथा इनके ही समानान्तर विकसित होती शाखा के

1. ऋग्वेद, 7.86.4-5; 7.88.6-7; 7.89.1-4

2. वही, 1.23.22

3. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ 217

4. ऋग्वेद, 5.61.8; 7.86.5

5. वही, 6.25.4-6

6. वही, 5.79.9

7. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ 196

1. ऋग्वेद, 9.73.6; The Religion of the Rigveda by H.D. Griswold, 1923, p.126

2. ऋग्वेद, 10.33.9

3. वही, 2.32.4

4. The Torah's first mention of the phrase "an eye for an eye, a tooth for a tooth, a hand for a hand, a foot for a foot" appears in Exodus 21:22-27.

5. Indo-Aryan Polity, Rigvedic Period by Praphullachandra Basu, 1919, p.69

ब्राह्मणारण्यकोपनिषदों के संकलन-काल को प्राचीन भारतीय इतिहास में उत्तर-वैदिक साहित्य एवं इनसे संबंधित युग को 'उत्तर-वैदिक काल' या 'संहिताकाल' के नाम से अभिहित किया जाता है। समयानुक्रम की दृष्टि से यजुष के बाद साम, तदनन्तर *अथर्ववेदसंहिता* को रखा जा सकता है। इसी तरह मंत्रसंहिता के अनन्तर ब्राह्मण, तदनन्तर आरण्यक एवं उसके अनन्तर उपनिषद्-साहित्य का स्थान है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से स्वतः ही पूर्व-वैदिक काल या उत्तर-वैदिक काल जैसी विघटित अवधारणाएँ निर्मूल सिद्ध होती परिलक्षित होती हैं। वस्तुतः यह काल वैदिक काल की ही विकसित अवस्था का रूप है, ऋग्वेद में वर्णित सभ्यता-संस्कृति का अग्रगामी चरण, जिसमें तीन अन्य वेद व शेष अन्य ग्रन्थों की रचना या संकलन हुआ। इसको नगरीयकरण के साथ भी सम्बद्ध करके देखा जा सकता है। लेकिन यह मत कि एक सुव्यवस्थित नागर सभ्यता को नष्ट करके विदेशी आर्यों द्वारा एक ग्रामीण व्यवस्थायुक्त समाज की रचना करना कितना इतिहाससम्मत है, यह इस मत के समर्थक इतिहासकारों की विद्वत्ता पर सन्देह और उनकी ब्रिटिशपरस्ती को उद्घाटित करता है। वस्तुतः यह समग्र वैदिक जीवन की अवधारणा है जो सरस्वती के तट पर जन्मी व सिंधु के मुहानों पर विकसित हुई, जिसे हम 'सिंधु-सभ्यता' या 'हड़प्पा सभ्यता' के नाम से जानते हैं।

पूर्व-वैदिक काल के इस द्वितीय खण्ड में विविध व्यवस्थाएँ (सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक) विकास करती दृष्टिगोचर होती हैं जिनका बीजारोपण पूर्व-वैदिक काल में हो चुका था। इस प्रकार की विभिन्न व्यवस्थाओं व उनसे संबंधित नियम-विधानों का संहिताओं के रूप में संकलन व प्रवर्तन ही उत्तर-वैदिक काल है। यद्यपि अध्ययन की सुगमता और उसे बोधगम्य बनाने और अभी तक प्रचलित अवधारणा के अनुरूप पुस्तक को 'पूर्व-वैदिक काल' या 'उत्तर-वैदिक काल' के रूप में विभाजित किया गया है जिससे ध्येय को सार्थक बनाया जा सके।

पूर्व-वैदिक काल की तुलना में उत्तर-वैदिक काल आर्यों के विकास का काल था। मंत्रसंहिता व ब्राह्मण-ग्रन्थों से आर्यों के जीवन का विकासशील आयाम उभरकर सामने आता है। विकास की यह अवधारणा भौगोलिक परिक्षेत्र तक सीमित ही न रही अपितु यह काल आर्यों के जीवन के समग्र विकास का काल था। परिवर्तन की इस प्रक्रिया ने जीवन के समस्त पक्षों— सामाजिक, आर्थिक,

राजनैतिक, धार्मिक दशाओं में अंतर्निहित विचारों को भी प्रभावित किया। उत्तर-वैदिक युग में वैदिक या आर्य-संस्कृति का बहुविध विस्तार होता है। अब आर्य-संस्कृति एकमात्र पंजाब अथवा सिंधु-प्रदेश तक ही सीमित न रही। *अथर्ववेद* में पंजाब के अतिरिक्त महावृषों, वाहिलकों, मूजवन्तों और गान्धारियों के प्रदेश से लेकर अंग और मगध तक के सम्पूर्ण उत्तर भारत का उल्लेख हुआ है। परन्तु इस क्षेत्र के लोगों को 'शूद्र' कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि *अथर्ववेदसंहिता* के काल तक भले ही इस क्षेत्र का आर्यीकरण न हुआ हो, किन्तु आर्य इस क्षेत्र से सुपरिचित थे। *ऐतरेयारण्यक* को आधार बनाकर कुछ विद्वानों का मत है कि आर्य पूर्व में बंग और दक्षिण में चेर क्षेत्र तक परिचित हो चुके थे। *ऐतरेयब्राह्मण* में एक स्थल पर राजा भीम को वैदर्भ कहा गया है।<sup>1</sup> इससे प्रतीत होता है कि आर्यों को दक्षिण में विदर्भ क्षेत्र का ज्ञान था। इस कालविशेष में नगरीयकरण की प्रक्रिया अस्तित्व में आने लगी थी। समय और समाज में परिवर्तन के साथ पूर्व-प्रचलित अनेक नियमों में संशोधन और कई नूतन नियमों के निर्माण की आवश्यकता हुई। समाज में होनेवाले इस परिवर्तन का प्रभाव न्यूनाधिक राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देता है। इनमें उत्तरकालीन धर्मशास्त्रीय विधि-विधान की परम्परा ढूँढ़ी जा सकती है।

निश्चय ही पूर्व-वैदिक सभ्यता, संस्कृति में परिवर्तन व उसके विकास की परिणति के अंश हमें उत्तर-वैदिक सभ्यता व संस्कृति में दृष्टिगोचर होते हैं। विधि, अपराध, दण्ड-विधान भी परिवर्तन एवं विकास की इस प्रक्रिया से अछूता न रहा। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में पूर्व-वैदिककालीन ऋत् व सदाचार का स्थान धर्म ने ग्रहण कर लिया और धर्म को ही सामाजिक नियम-विधानों के रूप में आख्यायित किया गया। 'धर्म' शब्द संस्कृत के 'धृ' धातु से बना है, जिसका अभिप्राय धारण करना, अवलम्बन देना और पालन करना आदि से लगाया जाता है।<sup>2</sup> ऋग्वेद में धर्म प्राचीन व प्रथम विधि ( 'सनता धर्माणि' ) के रूप में

1. विमलचन्द्र पाण्डेय, *प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास*, भाग 1, पृ 141
2. *ऐतरेयब्राह्मण*, 7.34.9
3. *ऋग्वेद*, 3.17.1 ( 'प्रथमानु धर्मा' ); 10.56.3



निश्चित नियमों या आचरण का द्योतक है।<sup>1</sup> यजुर्वेद की वाजसनेयीसंहिता में धर्म को नैतिक संहिता के रूप में उल्लिखित किया गया है।<sup>2</sup> अथर्ववेद में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है।<sup>3</sup> ऐतरेयब्राह्मण में 'धर्म' शब्द समस्त धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त है।<sup>4</sup> इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में 'धर्म' शब्द आश्रमों के विलक्षण कर्तव्यों की ओर संकेत देता है।<sup>5</sup> मनुस्मृति में भी 'धर्म' वर्णों के विलक्षण कर्तव्यों व आचरण की संहिता का पर्याय है।<sup>6</sup> मनुस्मृति के अनुसार धर्म के पाँच महत्त्वपूर्ण उपादान हैं— सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार, साधुओं का आचार तथा आत्मतुष्टि।<sup>7</sup> इस प्रकार का अभिमत याज्ञवल्क्य का भी है कि वेद, स्मृति, सदाचार, जो अपने को प्रिय लगे तथा उचित संकल्प से उत्पन्न अभिकांक्षा या इच्छा— ये ही परम्परा से चले आए हुए धर्मोपादान हैं।<sup>8</sup>

ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में वर्णित ऋत् को उत्तरवैदिक काल में धर्म के रूप में ग्रहण किया गया। यही 'धर्म' शब्द प्रकारान्तर से समयानुरूप परिवर्तित होती जीवनशैली में भिन्न-भिन्न अर्थों में पारिभाषित होता रहा। इस प्रकार 'धर्म' शब्द का अर्थ तत्कालीन समाज की आवश्यकतानुरूप परिवर्तित होता रहा और अन्ततः यह मनुष्य के विशेषाधिकारों, कर्तव्यों, आर्यों अर्थात् वैदिक जीवन की आचारविधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम का द्योतक बन गया।<sup>9</sup> वस्तुतः उत्तर-वैदिक काल में धर्म आचरण की उस संहिता के रूप में विकसित हुआ जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में नियन्त्रित व शासित होता है

1. वही, 3.3.1; 4.53.3; 3.63.3; 6.70.1; 7.89.5

2. यजुर्वेद (वाजसनेयीसंहिता), 2.3; 5.27

3. 'ऋत सत्यं तपो रात्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।

भूतं भविष्यदुच्छिते वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥' —अथर्ववेद, 11.7.17

4. ऐतरेयब्राह्मण, 7.17

5. छान्दोग्योपनिषद्, 2.23

6. मनुस्मृति, 1.1-2, 108

7. 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुतिरेव च ॥' —वही, 2.6

8. 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य स प्रियं आत्मनः।

सम्यक्समकल्पजः कामो धर्ममूलं इदं स्मृतम् ॥' —याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.7

9. पृ० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 4

और स्वयं, परिवार एवं समाज का विकास करते हुए अन्ततः चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ग्रन्थों में जिन सिद्धान्तों से सामाजिक बन्धनों एवं सामञ्जस्य की स्थापना होती है उसे 'धर्म' कहा गया है। वास्तव में धर्म जीवन का सत्य है एवं हमारी प्रकृति को निर्धारित करनेवाली शक्ति है।<sup>1</sup> इस विषय में अन्ततः यह कहना ही समीचीन होगा कि व्यक्ति जिन नियम-विधानों के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करता है, वही धर्म है और व्यक्ति के जीवन के लिए ऐसे सिद्धान्त आवश्यक भी होते हैं।

उत्तर-वैदिक काल विस्तृत रूप में आर्यों के जीवन के ऐतिहासिक विकासक्रम को दर्शाता है। विधि-विधान भी विकास की इस प्रक्रिया से अछूते प्रतीत नहीं होते। ऐसा आभास होता है कि इस काल में ऋत् का स्थान धर्म के रूप में सामाजिक विधि ने ग्रहण कर लिया। इसी धर्मरूपी विधिक अवधारणा के बल पर ही व्यक्ति, समाज और उसके सामाजिक व्यवहारों के तदनुरूप विधिक कर्तव्यों का नियमन-संयमन किया गया। इसके फलस्वरूप धर्म के प्रतीकस्वरूप वर्णाश्रम, आश्रम, यज्ञीय विधि-जैसी संगठनात्मक अवधारणाएँ अस्तित्व में आयीं। ध्यातव्य है कि कालान्तर में यही धर्मप्रेरित सामाजिक विधि राजकीय विधि के अनुशासन के रूप में विकसित हुई।

उत्तर-वैदिककालीन व्यवस्थाएँ परिवर्तित होती उस जीवनशैली की परिचायक हैं जो पूर्व-वैदिककालीन ऋत् रूपी नैतिक आचरण की पृष्ठभूमि पर चरितार्थ हुई थी। विधि और उसके अनुषांगिक उपक्रम भी परिवर्तन के इस प्रभाव से अछूते नहीं रहे। यह प्रभाव हमें विधि, अपराध व अन्यान्य क्षेत्रों में दिखाई देता है। इस काल में पाप और अपराध अधिक स्पष्ट होने लगते हैं। सामाजिक विधि एवं अपराध के चिन्तन में बदलाव दिखाई देता है। पूर्व-वैदिक काल की तरह ही इस काल में भी पाप व अपराधों के परिगणन में पृथक्ता का भाव प्रदर्शित होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में उल्लिखित 'पापम्' शब्द पाप या अपराध का सूचक है।<sup>2</sup> कहीं-कहीं पाप की उत्पत्ति को दैवीय विधान या कर्म की अवधारणा के साथ सम्बद्ध किया गया है।<sup>3</sup> ऋग्वेद की तरह ही ब्राह्मण-ग्रन्थ व

1. Religion and Society, by S. Radhakrishnan, p.25

2. शतपथब्राह्मण, 11.2.7.19; ऐतरेयब्राह्मण, 19.33.5

3. 'एष ह्येवैवं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवैनमसाधु कर्मकारयति तं यमधो निनीषते' —कौषीतिकब्राह्मणोपनिषद्, 3.8

उपनिषदों में पाप एवं अपराध के रूप में पञ्चमहापातकों, यथा— सुवर्णचोर, सुरापान, गुरु की शय्या को अपवित्र करना, ब्रह्महत्या तथा पापकर्म में सहयोगी होना का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है।<sup>1</sup> पञ्चमहापातकों के अतिरिक्त ब्राह्मणेतर ग्रन्थों में पाप या अपराध के उस स्वरूप के भी उद्धरण मिलते हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मानव जीवन व समाज को प्रभावित करते हैं। इन अपराधों की जघन्यता व गम्भीरता का निर्धारण कर पाना दुष्कर कार्य है। इस कालविशेष में भ्रूण-हत्या एवं चोरी को जघन्यता की श्रेणी में रखा गया था।<sup>2</sup> शतपथब्राह्मण व अन्य समकालीन ग्रन्थों में सुरापान (मद्यपान) को घृणा की दृष्टि से देखा गया है।<sup>3</sup> छांदोग्योपनिषद् में वर्णित राजा अश्वपति कैकय की यह घोषणा कि उसके राज्य में न तो कोई चोर है और न ही कोई मद्यपान का सेवन करनेवाला— से इन दोनों बुराइयों के अपराधपरक स्वरूप की पुष्टि होती है।<sup>4</sup> मानव शरीर को प्रभावित करना, बड़े भाई से पूर्व स्वयं विवाह करना, अग्निहोत्र का त्याग— ये ऐसे गम्भीर प्रकृति के अपराध थे जिनके लिए मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता था।<sup>5</sup>

अपराधों के परिगणन पर वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रभाव व्यक्त होता है। वेद-विस्मरण, गुरु को धोखा देना, माता-पिता, पुत्र एवं अग्निहोत्र छोड़ना, निषिद्ध पेय एवं खाद्य का व्यवहार करना, दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण, अवैधानिक उपहार ग्रहण करना, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और गाय की हत्या, निषिद्ध वस्तु क्रय-विक्रय आदि पर प्रत्यक्ष सामाजिक प्रभाव नहीं होता है।<sup>6</sup> इसके विपरीत ब्राह्मणों को वेद पढ़ाना, वेदाध्ययन और अन्य धार्मिक कृत्यों की उपेक्षा, गन्दी पुस्तकों को पढ़ना, नास्तिकता, नृत्य-वृत्ति, सुरापान स्त्री से भोग आदि अपराधों पर सामाजिक प्रभाव स्पष्ट होता है।<sup>7</sup> निश्चय ही विद्वानों ने प्रत्यक्ष-परोक्ष सामाजिक प्रभावों में रखने की चेष्टा की है किन्तु उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर स्पष्ट भेद

1. 'तदेष्टे श्लोकः । स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति' — छांदोग्योपनिषद्, 5.10.8-9
2. तैत्तिरीयसंहिता, 2.5.1.2; 5.3.12.1-2; शतपथब्राह्मण, 13.3.1.1; छांदोग्योपनिषद्, 5.10.9; बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.12
3. शतपथब्राह्मण, 5.15.22; काठकसंहिता, 12.12
4. छांदोग्योपनिषद्, 5.10.9
5. मैत्रायणीयसंहिता, 31.7; कपिष्ठलसंहिता, 10.7.7; तैत्तिरीयब्राह्मण, 3.2.8-11
6. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य व न्यायपालिका, पृ 191
7. वही, पृ 191

कर पाना बहुत समीचीन नहीं जान पड़ता। कुछ अपराधों में वर्ण-बहिष्कार का प्रयोग किया जाता रहा। प्रतीत होता है कि इस काल में वर्ण-व्यवस्था रूढ़ हो चली थी। तत्कालीन समाज में वर्णों का विभाजन स्पष्टतः दिखाई पड़ता है और निश्चय ही इस प्रकार के विभाजन का प्रभाव अपराधसंहिता पर भी पड़ा।

उत्तर-वैदिककालीन न्यायिक-प्रशासन की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह दृष्टिगोचर होती है कि प्रथमतः इस काल में राजत्व के सिद्धान्त को मान्यता देते हुए राजा को न्याय के सर्वोच्च संरक्षक व अधिकारी के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया। द्वितीयतः इस कालविशेष में सभा व समिति-जैसी राजकीय संस्थाओं को न्यायिक संस्थाओं के रूप में मान्यता मिली। इसी के तदनुरूप उत्तर-वैदिक काल में सभा व समिति न्यायिक कार्य करती दिखाई देती है। इन दोनों संस्थाओं के साथ ही राजा को प्रजा व विधि के संरक्षक के रूप में महत्त्व मिलता है।<sup>1</sup> लेकिन सम्भवतः न्याय-प्रशासक के रूप में उसे विधायिका की शक्ति प्राप्त नहीं हुई थी। सामाजिक विधि की अवेहलना करने पर उसे तत्काल अपदस्थ कर दिया जाता था। वैदिक ग्रन्थों में अपदस्थ करने की इस प्रक्रिया को 'अवरुद्ध' कहा गया है।<sup>2</sup> इस प्रकार राजा भी धर्मरूपी सामाजिक विधि व सभा-समिति द्वारा शासित होता था। अथर्ववेद में सभा व समिति प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहीं गई हैं और साथ ही उनमें भिन्नता होने के बावजूद भी उनके आपसी सामंजस्य पर बल दिया गया है।<sup>3</sup> इसके अन्यत्र एक स्थान पर कहा गया है कि जो ब्राह्मण को सताता है, समिति उसे पसन्द नहीं करती।<sup>4</sup> यह कथन समिति की प्रतिष्ठापूर्ण स्थिति की और संकेत करता है। तैत्तिरीयब्राह्मण में 'सभापाल' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सायण ने सभा को द्यूत-भवन के अर्थ में ग्रहण किया है।<sup>5</sup> इस काल में सभा की वैधानिक स्थिति क्या रही होगी, इस विषय में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन उत्तर-वैदिक काल में 'सभा' शब्द का प्रयोग न्यायालय के अर्थ में किया जाने लगा; परन्तु इसे न्यायालय के स्थान पर न्यायिक संस्था के रूप में समर्पित करना

1. अथर्ववेद, 4.22.3.5; 8.7.16
2. अथर्ववेद, 3.3.4; काठकसंहिता, 2.3.1; मैत्रायणीयसंहिता, 2.3; शतपथब्राह्मण, 12.9.233
3. अथर्ववेद, 7.12.1; 19.9.2
4. तैत्तिरीयब्राह्मण, 3.7.4 तुलनीय धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ 616
5. अथर्ववेद, 5.9.15

अधिक उपयुक्त होगा। इसमें विवाद के निर्णय के साथ नीति-निर्धारण, राजा की नियुक्ति, पदच्युति आदि विविध प्रकार के कार्य सम्पन्न किए जाते थे।<sup>1</sup> सभा के निर्णय वाद-विवाद के उपरान्त होते थे। इसके विषयों में युद्ध-सन्धि, आय-व्यय तथा सार्वजनिक कार्य थे। यह न्यायिक विषयों के अंतर्गत भूमि, द्यूत-क्रीड़ा, ऋण, दायभाग, चोरी, चोट तथा हत्या के मामलों का निर्णय करती थी।<sup>2</sup> समिति को समान विचार से प्रकाशित होनेवाली संस्था मानते हुए श्री काशी प्रसाद जायसवाल (1881-1937) का कहना है कि जिस प्रकार 'समिति' राष्ट्रीय सभा के समान थी और उसमें उपस्थित रहना राजा का कर्तव्य था; उसी प्रकार सभा निर्वाचित लोगों की स्थायी संस्था थी जो समिति के अधिकारों के भीतर ही कार्य करती थी।<sup>3</sup> समिति के समान इसका भी उदय उत्तर-वैदिक काल में हुआ था। सभा व समिति— दोनों का उद्गम 'विद्थ' है और इसका कार्य विधि तथा न्यायिक था किन्तु इसमें राजनीतिक विषयों पर भी विमर्श होता था।<sup>4</sup>

प्राचीन भारतीय विधि-व्यवस्था में न्यायिक-प्रक्रिया के अंतर्गत 'साक्षी' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख उत्तर-वैदिककालीन ग्रन्थों में मिलता है जहाँ यह अखिल विश्व-द्रष्टा का द्योतक है।<sup>5</sup> लेकिन यहाँ इसका प्रयोग किन अर्थों में हुआ है, यह स्पष्ट नहीं है। इसके अनन्तर वैदिक व ब्राह्मण-ग्रन्थों में दिव्य साक्ष्य के बहुतेरे प्रमाण उपलब्ध हैं। *अथर्ववेद* से भी दिव्य साक्ष्य के प्रचलन की पुष्टि होती है।<sup>6</sup> दिव्य साक्ष्य का सर्वप्रथम प्राचीनतम उद्धरण *पञ्चविंशब्राह्मण* का वह कथानक है जिसमें दिव्य साक्ष्य के रूप में अग्नि का प्रयोग किया गया है।<sup>7</sup> *मनुस्मृति* में भी उक्त प्रसंग का उल्लेख मिलता है।<sup>8</sup> *छांदोग्योपनिषद्* में भी चोरी के अपराध के लिए

1. हरिहरनाथ त्रिपाठी, *प्राचीन भारत में राज्य व न्यायपालिका*, पृ. 164
2. *ऋण्यजुर्वेद*, 2.2.1; 2.6.1
3. *Hindu polity : a constitutional history of India in Hindu times*, p.11
4. हरिहरनाथ त्रिपाठी, *प्राचीन भारत में राज्य व न्यायपालिका*, पृ. 165
5. *एको देवः सर्वभूतेषु गूढः ..... साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च*  
—*श्वेताश्वतरोपनिषद्*, 6.11
6. 'आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि । अग्निः शरीरं वेवेत्वसुं वागपि गच्छतु'  
—*अथर्ववेद*, 2.12.8
7. *पञ्चविंशब्राह्मण* या *ताण्ड्यब्राह्मण*, 14.6.6
8. *मनुस्मृति*, 8.116

गर्म कुल्हाड़ी पकड़े जाने का निर्देश मिलता है।<sup>1</sup> इन उद्धरणों से स्वतः ज्ञात होता है कि तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया में पाप या अपराध को सिद्ध करने के लिए दिव्य साक्ष्य का सहारा लिया जाता था। इस प्रकार पूर्व-वैदिक काल की तुलना में तत्कालीन अपराध, विधि, न्यायिक-प्रशासन और प्रक्रिया से संबंधित धारणाएँ एक व्यवस्थित स्वरूप ग्रहण करती प्रतीत होती हैं। तत्कालीन नियम-विधानों के आलोक में सामाजिक व राजकीय संस्थाएँ विकास करती परिलक्षित होती हैं। ये संस्थाएँ व्यक्ति के अनुचित व्यवहारों और उसके तदनुरूप निर्मित होते सामाजिक विशृंखलन के विषादयुक्त वातावरण के निराकरण के लिए नियम-विधानों और उसके समानान्तर दण्ड की उचित व्यवस्था करती दृष्टिगोचर होती हैं। यह स्थिति उत्तर-वैदिक काल व उत्तरोत्तर समयावधि में अधिक-से-अधिक विकसित होती जाती है। इस प्रकार की अराजकता व वैमनस्यपूर्ण वातावरण के निवारणार्थ वैदिक व ब्राह्मण-ग्रन्थों में दण्ड के सिद्धान्त की व्याख्या मिलती है। इसलिए इस कालविशेष में दण्ड का दार्शनिक, सामाजिक व राजकीय स्वरूप उभरकर सामने आता है।

इस प्रकार के सन्दर्भों से उत्तर-वैदिककालीन चिन्तन में परिवर्तन होता दिखाई देता है, क्रमशः परिवर्तित हो रही परिस्थितियों में नियमन-संयमन हेतु शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता महसूस की गयी। इस काल में समाज की शक्तियाँ इस रूप में विकसित हो रही थीं कि उन्हें नियन्त्रित करने के लिए शक्ति की अपेक्षा थी।<sup>2</sup> ऐसी विषमपूर्ण स्थिति में शक्ति का यही प्रयोग इस काल में दण्ड के रूप में चरितार्थ हुआ। दूसरा रोचक प्रसंग *शतपथब्राह्मण* में उपलब्ध होता है जहाँ दण्ड का स्पष्ट उल्लेख है। *शतपथब्राह्मण* में सर्वप्रथम 'दण्ड' शब्द का प्रयोग शक्ति के अर्थ में हुआ।<sup>3</sup> यहाँ प्रयुक्त 'दण्ड' शब्द तीन समस्याओं पर प्रकाश डालता है— अपराध-निवृत्ति के लिए दण्ड की उत्पत्ति, धर्मरक्षा में देवस्वरूप दण्ड और धर्मशक्ति के क्रियान्वयन में सर्वोच्च शक्ति राजा के साथ उसका संबंध। वस्तुतः दण्ड-संबंधी ये तीन सिद्धान्त ही उत्तरवर्ती दण्ड के विकास व परिवर्द्धन में सहायक हुए। ध्यातव्य है कि दण्ड-संहिता के इस परिवर्द्धन ने प्रकारान्तर में दण्ड की दार्शनिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया। उत्तर-वैदिककालीन समाज में व्यक्ति

1. *छांदोग्योपनिषद्*, 6.16.2
2. हरिहरनाथ त्रिपाठी, *प्राचीन भारत में राज्य व न्यायपालिका*, पृ. 216
3. *शतपथब्राह्मण*, 5.4.4.7

के नैतिक स्वलन के कारण पाप व अपराध-जैसे भेद को महत्त्व मिला। जहाँ एक और सामान्य पापों के लिए प्रायश्चित्त करना श्रेयस्कर समझा गया, वहीं दूसरी ओर अपराध के प्रतिरोध में दण्ड की व्यवस्था हुई; किन्तु इस प्रकार का स्पष्ट विभेदीकरण भी कहीं-कहीं सम्भव नहीं लगता। अतः अनेक प्रकरणों में प्रायश्चित्त और दण्ड— दोनों का साथ निर्धारण मिलता है। ऋग्वेद में प्रायश्चित्त शब्द की सांगोपांग व्याख्या नहीं मिलती। लेकिन उत्तरवैदिक साहित्य में प्रायश्चित्त का दण्ड के पर्याय के रूप में बहुधा प्रयोग मिलता है। तैत्तिरीयसंहिता में ‘प्रायश्चित्त’ शब्द पापमयी (आपराधिक) कृत्यों के मार्जन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र यह यज्ञीय विधि में हुई त्रुटि व उसके शुद्धिकरण का भी सूचक है।<sup>2</sup> इसके अतिरिक्त शतपथब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि ‘क्योंकि स्वीकार कर लेने पर पाप कम हो जाता है; तब वह सत्य हो जाता है’।<sup>3</sup> उक्त उद्धरणों के आलोक में निःसन्देह कहा जा सकता है कि पूर्व-वैदिककाल की तरह ही इस काल में अपराध की उत्पत्ति के लिए व्यक्ति का चरित्र उत्तरदायी था। इसलिए इस कालविशेष में साधारणतः अपराधों के लिए प्रायश्चित्त करने का विधान मिलता है। उत्तर-वैदिक समाज में सुधारात्मक दण्ड का आधुनिक रूप नहीं मिलता। सुधारात्मक अंश का समावेश प्रायश्चित्त में किया जा सकता है। अन्तर यह है कि प्रायश्चित्त पाप का होता है और दण्ड अपराध का। इसलिए इस काल में अपराधी को प्रायश्चित्त व दण्ड— दोनों ही दिए जाते थे। प्रायश्चित्त सामाजिक विधि का एक अनुशासन था। चोरी, हत्या आदि अन्य अपराधों के लिए सामाजिक प्रायश्चित्त के साथ दण्ड भी दिया जाता था। इस प्रकार पाप होने से उनका प्रायश्चित्त होता है और अपराध होने पर उनका संबंध राज्य या राजदण्ड से होता है। इस प्रकार उत्तर-वैदिक काल में पूर्व-वैदिककालीन ऋत् का स्थान धर्म ने ले लिया और धर्म के आधार पर ही पाप व अपराध की अवधारणा विकसित हुई। पाप व अपराध-जैसी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए दण्ड-शक्ति व प्रायश्चित्त का सहारा लिया गया।

1. तैत्तिरीयसंहिता, 5.3.12.1; 2.1.2.4; 3.1.3.2; 5.1.9.3

2. ‘यद्वै यज्ञस्य स्खलितम् वा उल्बणं वा भवति । ब्रह्मण एव तत्प्राहुः ।

तत् स त्रय्या विद्यया भिषज्यति ।’ —कौषीतकिब्राह्मण, 6.6.3-5

3. शतपथब्राह्मण, 2.5.2.20

## 2.3 सूत्रकाल

कालान्तराल, क्षेत्र-विस्तार, आर्य-आर्येत्तर (वनवासी जातियाँ) संस्कृतियों के मिश्रण आदि के कारण समाज में अनेक परिवर्तन हुए और ब्राह्मण-युग तक आते-आते कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज और पारम्परिक ज्ञान को सुरक्षित रखना एक समस्या का रूप ले चुका था। वैदिक साहित्य को समझना और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को बनाए रखना कठिन हो गया। जहाँ वैदिक साहित्य को समझने के लिए वेदांग-साहित्य की रचना की गई, वहीं व्यक्ति व समाज के नियमन-संयमन की दृष्टि से सूत्र-साहित्य का महत्त्व बढ़ा। इसमें वैदिक साहित्य को समझने के लिए परम्पराओं व मान्यताओं के पुनर्स्थापन का ऋषियों ने सफलतम प्रयास किया। यत्र-तत्र बिखरे महत्त्वपूर्ण तथ्यों के संकलन के कारण इन ग्रन्थों को ‘सूत्र-साहित्य’ का नामाभिधान मिला। इनमें भारतीय-संस्कृति के अध्ययन और जनमानस के नियमन-संयमन की दृष्टि से ‘कल्पसूत्र’ साहित्य का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अपनी शाखा की वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों से सम्बद्ध ज्ञान के संकलन हैं। वेदांग-साहित्य में द्वितीय स्थान कल्प या कल्पसूत्र को प्राप्त है। कल्पसूत्र का शाब्दिक अर्थ है— ‘प्रयोग-विधि के यथार्थ प्रतिपादक ग्रन्थ’। प्राचीन धर्मग्रन्थों में कल्पसूत्र का भिन्न-भिन्न व्यावहारिक अर्थों में अर्थान्वयन हुआ है। कुमारिल भट्टपाद के व्याख्या-ग्रन्थ तन्त्रवार्तिक के कल्पसूत्राधिकरण में कल्पसूत्र को समग्रता के साथ विश्लेषित किया गया है— जिनसे सिद्ध प्रयोग का ज्ञान हो, कल्प है; और जो लक्षण प्रदर्शक है, वे सूत्र हैं। सिद्ध प्रयोगों के बोधक होने के कारण कल्प अनुष्ठान के साधक होते हैं। सूत्रों में प्रयोगों की सूचना होती है। कल्प ‘पठितसिद्ध’ है, अर्थात् उनके द्वारा जैसे पठित हुए हैं, वैसे ही प्रयोग का अनुष्ठान प्रत्येक यज्ञ में आवश्यक होता है।<sup>1</sup> जैमिनि ने सूत्रों को प्रयोगशास्त्र कहा है।<sup>2</sup> कल्पसूत्रों की रचना सूत्रकारों ने तीन रूपों में की है— 1. श्रौतसूत्र, 2. गृह्यसूत्र व 3. धर्मसूत्र। कल्पसूत्र के ये तीनों घटक मिलकर ही कल्पसूत्र को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं।

कल्पसूत्र के श्रौत, गृह्य और धर्म— तीनों अंग हैं जिनके संकलन का श्रेय ऋषि-मनीषियों को जाता है और ये अपने संकलनकर्ता ऋषियों के नाम से

1. तन्त्रवार्तिक, 1.3.11

2. ‘प्रयोगशास्त्रमिति चेत् । नासंनियमात्’ —पूर्वमीमांसादर्शन, 1.3.11-12

जाने भी जाते हैं। श्रौतसूत्रों का विषय यज्ञ है। इनमें प्राचीन काल से प्रचलित याज्ञिक क्रियाओं, आकार-प्रकार, विधि-निषेधों का वर्णन है। इनका स्वरूप नितान्त कर्मकाण्डीय है। जबकि गृह्यसूत्रों का प्रमुख विषय गृहस्थ-जीवन है। इनमें मनुष्यों के आचार, विचार, कर्तव्य, उत्तरदायित्व, दैनिक उपासना, यज्ञ, संस्कार आदि से संबंधित विविध नियम मिलते हैं। सूत्रों का तृतीय भाग धर्मसूत्र है जिसकी विषय-वस्तु गृह्यसूत्र के समतुल्य है। गृह्यसूत्र व धर्मसूत्र में विशेष अन्तर यह परिलक्षित होता है कि जहाँ गृह्यसूत्र जीवन के विधि-निषेधों का सविस्तार वर्णन करते हैं, वहाँ धर्मसूत्र अत्यन्त संक्षिप्त रूप में उनका उल्लेख करते हैं। परन्तु गृह्यसूत्रों की अपेक्षा उपनयन, विवाहादि संस्कार, ब्रह्मचर्याश्रम, श्राद्ध, मधुपर्क, अध्ययनादि का धर्मसूत्रों में विस्तार से वर्णन है।

कल्पसूत्रों से संबंध इन तीनों सूत्रों— श्रौत, गृह्य और धर्म की प्रकृति के अध्ययन से ऐसा अनुमान होता है कि जहाँ धर्मप्रवण आर्यों ने अपने धार्मिक अभ्यासों को सुरक्षित रखने के लिए श्रौत-साहित्य की रचना की, वहीं आर्य-आर्यतरों को बढ़ते मेल-मिलाप से हो रहे पारिवारिक जीवन में संक्रमण से बचने और अपने परिवार की विशेष प्रकार की आर्य-शैली को बनाए रखने के लिए गृह्यसूत्र विधानित हुए। विस्तृत होते परिवार और समाज से उनके मेल-मिलाप के कारण धर्मसूत्र-साहित्य की रचना की गयी। इस प्रकार श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्र का परस्पर घनिष्ठ संबंध है और ये परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। यही कारण है कि इन तीनों सूत्रों में संकलित नियम-विधान एक-दूसरे से प्रभावित हैं। सूत्र-साहित्य एक दीर्घावधि का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें सामान्य रूप में विद्वानों ने प्रारम्भिक सूत्रों— आश्वलायन, बौधायन, गौतम आदि को 800-500 ई पू के बीच रखा है पर कुछ ऐसे भी सूत्र हैं, जिन्हें ईसवी सन् की प्रारम्भिक शतियों तक ले जाया जा सकता है।<sup>1</sup> श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्र— ये तीन अवयव ही कल्पसूत्र को समग्र बनाते हैं जिनमें लोक, गृह्य एवं सामाजिक जीवन से संबंधित अनेक नियम-विधानों का संकलन है। कल्पसूत्र जहाँ समय और समाज के अनुरूप अनेक नियमों का निर्माण करते हैं, वहीं स्थानीय या पारम्परिक नियमों के पालन की भी अनुशंसा करते हैं।<sup>2</sup>

1. *India of Vedic Kalpasūtras*, by Ram Gopal, p.83

2. अनिता स्वर्णकार, *धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण (मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में)*, पृ 41

तत्कालीन समाज में बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव व प्रचार ने वैदिक धर्म के लिए बड़ा संकट उत्पन्न कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्र-साहित्य का एक बहुत बड़ा प्रारम्भिक भाग बौद्ध-प्रचार की प्रतिक्रियास्वरूप संकलित हुआ। इस काल में वेद-प्रामाण्य, दैवीय वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण-श्रेष्ठता, चतुराश्रम व्यवस्था, निर्वृत्तिमार्गी विचारधारा के विरोध में गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा, जायत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के भीतर वर्णसंकरों का संगठन, यज्ञ, कर्मकाण्डादि विषयों को लेकर सूत्रकारों ने पुनः आर्य-जगत् को एकसूत्र में बाँधने का महनीय प्रयास किया।<sup>1</sup> इस तरह धर्मसूत्रकारों ने अपने पूर्वजों के समय से चली आ रही प्रथा और नियमों को न केवल व्यवस्थित किया वरन् अपने समय की आवश्यकतानुसार समाधानात्मक नियमों का निर्माणकर संकलित कर लिया और कालान्तर के धर्मशास्त्र-साहित्य को जन्म दिया।<sup>2</sup> वस्तुतः जिस प्रकार श्रौतसूत्र ब्राह्मण-ग्रन्थों के, गृह्यसूत्र श्रौतसूत्र के और धर्मसूत्र गृह्यसूत्र के ऋणी हैं, जहाँ वैदिक काल सामाजिक संरचना के युग के रूप में उभरकर आता है, वहीं सूत्रकाल सामान्य नियम-विधानों के काल के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। वस्तुतः यही वह काल है जिसमें वर्णाश्रम, पुरुषार्थ, त्रिऋण, शौच-अशौच आदि से संबंधित नियम-विधान प्रथम बार अस्तित्व प्राप्त करते हुए, आगे के नियमों की प्रशस्त पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।<sup>3</sup>

सूत्र-साहित्य का स्वरूप विधि-निषेधात्मक है और इसके अंतर्गत कौन-सा आचरण करना उचित है अथवा अनुचित, व कौन-सा कार्य करणीय है और कौन-सा अकरणीय— इसका निर्देश प्राप्त होता है। यही विधि-निषेधात्मक कार्य धर्मशास्त्रों के काल तक अपराधों में परिगणित हो गये। धर्मशास्त्रों में अपराधों का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उस पर काल का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सूत्र-साहित्य का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। इसलिए इनमें पाप (अपराध) को लेकर मतान्तर दिखाई देता है, किन्तु यह मतान्तर संख्या व जघन्यता को लेकर है न कि अपराधों के स्वरूप को लेकर। वस्तुतः सूत्र-ग्रन्थ जिस कालविशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, उस कालविशेष में करणीय-अकरणीय

1. विमलचन्द्र पाण्डेय, *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास*, पृ 174

2. *India of Vedic Kalpasūtras*, by Ram Gopal, p.47

3. अनिता स्वर्णकार, *धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण (मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में)*, पृ 42



कृत्यों के रूप में पाप (अपराधों) का परिगणन किया है। लेकिन इस प्रकार के प्रयासों के अंतर्गत अपराध की सूची क्रमबद्ध व व्यवस्थित रूप में नहीं मिलती। सूत्रों में पापरूपी अपराध की अवधारणा उपदेशात्मक अभिव्यञ्जनाओं के रूप में देखने को मिलती है। यद्यपि सूत्रों से पाप या अपराध का जो स्वरूप प्रकट होता है, वह स्पष्टतः तत्कालीन समाज में होते नैतिक विशृंखलन व उससे उपजती अनैतिकता का द्योतक है। इस कालविशेष में परिगणित हुए अपराधों का विस्तृत उल्लेख धर्मसूत्रों में हुआ है। धर्मसूत्रों से पाप या अपराध के दो स्पष्ट स्वरूप उभरकर सामने आते हैं। आपस्तम्ब ने पाप या अपराध के इन दोनों स्वरूपों को तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों के आधार पर 'पतनीय' एवं 'अशुचिकर' अथवा 'पातक' और 'महापातक' कहकर सम्बोधित किया है। डॉ. काणे ने 'अशुचिकर' व 'महापातक' या 'पातक' शब्दों का क्रमशः अर्थ प्रथमतः वे पाप, जिनसे जातिच्युता की प्राप्ति होती है; द्वितीयतः वे पाप, जिनसे जातिच्युता तो प्राप्त नहीं होती है, किन्तु अशुचिता प्राप्त होती है<sup>1</sup> के रूप में किया है। ध्यातव्य है कि यहाँ जाति या वर्णविरुद्ध कार्यों को वर्ण-वृत्ति के विरुद्ध किए गए आचरण के रूप में लेना श्रेयस्कर होगा; क्योंकि यहाँ पापकर्म के लिए प्रयुक्त 'पातक' व 'महापातक' शब्द वर्णानुरूप निर्धारित कर्मों की वृत्ति का परिचायक है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में महापतनीय अर्थात् अपराधमूलक कर्मों के अंतर्गत स्वर्ण-स्तेय (चोरी), सामाजिक प्रतिष्ठा को धूमिल करना (मानहानि), सगोत्र-व्यभिचार, सुरापान, वर्जित लोगों (आचार्या (गुरु-पत्नी या शिक्षिका) या उसकी सहयोगी, अपरिचित स्त्री या किसी अन्य की पत्नी) के साथ अवैधानिक संबंध बनाना या संभोग करना, वैदिक ग्रन्थरूपी ज्ञान व विधि-विधानों का उपहास उड़ाना अन्यादि ऐसे कर्मों को, जो ग्रन्थ में अपराध-संहिता या सूची के रूप में उल्लिखित नहीं हैं, लेकिन इनका स्वरूप अपराधमूलक व जघन्य प्रतीत होता है, का प्रमुखता के साथ उल्लेख किया है।<sup>2</sup> इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ में अशुचिकर या पातकों की प्रकृति को भी स्थान दिया गया है। द्विजाति स्त्रियों के द्वारा शूद्रों के साथ शारीरिक संसर्ग करना, मानव, कुत्ता, शूकर-जैसे निषेध पशुओं का भक्षण, मानव का मल-मूत्र खाना, शूद्र या पतित का जूठा भोजन करना, दुराचारी स्त्रियों से संबंध बनाना आदि ऐसे अपराध हैं जो कि जघन्य प्रकृति के तो

नहीं थे, लेकिन इन्हें घृणास्पद माना गया है।<sup>3</sup> इसके अन्यत्र ग्रन्थ में अपराधी की मनोदशा व उसकी अपराधिक प्रवृत्तियों को विश्लेषित करते हुए उन्हें 'अभिशप्त' (लाक्षित) की संज्ञा से अभिहित किया गया है।<sup>4</sup> बोधायन ने भी पाप या अपराध के लिए 'पतनीय', 'उपपातक' एवं 'अशुचिकर'-जैसे शब्दों का उपयोग किया है।<sup>5</sup> आपस्तम्ब की तुलना में बोधायन द्वारा वर्णित अपराधों के क्रम व नामों में पृथक्ता का भाव प्रदर्शित होता है। बोधायन ने समुद्र-संयान, ब्राह्मण या किसी अन्य की सम्पत्ति पर अनधिकृत रूप से अधिकार करना, भूमि-संबंधी विवादों में असत्य साक्ष्य प्रस्तुत करना, क्रय-विक्रय में छल, शूद्रों की सेवा या उनसे सन्तानोत्पत्ति आदि को प्रथमदृष्ट्या अपराध माना है और इन्हें पतनीय माना है।<sup>6</sup> अपराधों की द्वितीय श्रेणी, जिसे ग्रन्थ में 'उपपातक' कहा गया है, में वर्जित या पतित स्त्रियों के साथ सहवास करना, गुरु-पत्नी के साथ इस प्रकार का आचरण करना, भेषज वृत्ति का पालन करना, नृत्य गान या अभिनय की दोषपूर्ण वृत्ति, अकामा कन्या के साथ सम्भोग करना आदि का संकलन मिलता है।<sup>7</sup> बोधायन ने अपराधों के तृतीय स्वरूप के अंतर्गत अशुचिकर पापों में द्यूत (जुआ), अभिचार, अग्निहोत्र का त्याग, खेत में गिरे अन्न से क्षुधा-वृत्ति, वेदाध्ययन के पश्चात् पुनः भिक्षावृत्ति करना, अध्ययन की समाप्ति के बाद पुनः गुरुकुल में चार माह से अधिक अवधि के लिए निवास करना, वेदज्ञ को पढ़ाना, तथा नक्षत्र-निर्देश (ज्योतिष द्वारा जीविकोपार्जन करना) परिगणन किया गया है।<sup>8</sup>

गौतमधर्मसूत्र में ऐसे निषिद्ध कार्यों का उल्लेख है जो पतित, पाप या अपराध की श्रेणी में आते थे। इन कार्यों में यजन के अयोग्य का यजन, अभक्ष्य-भक्षण, अनुचित वाणी का प्रयोग, शिष्ट क्रिया का उल्लंघन, निषिद्ध वस्तुओं का सेवन करना, ऐसे पिता का भी त्याग करना जो राजघातक, शूद्र के लिए यज्ञ करनेवाला, अपनी ओर से शूद्र के लिए यज्ञ करनेवाला, वेद के प्रति

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ 1020

2. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 17.21.7-11

1. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 1.7.12.18

2. वही, 2.9.24.6-9

3. बोधायनधर्मसूत्र, 2.2

4. बोधायनधर्मसूत्र, 2.2

5. वही, 2.20.60-61

6. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ 1021

विप्लवी, गर्भपाती, नीचवर्ण एवं इस वर्ण की स्त्री से संबंध रखनेवाला आदि।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र हीन वर्ण की सेवा को भ्रूण-हत्या के समान अपराध माना गया।<sup>2</sup> अपराधों के इसी निर्धारित क्रम में ब्रह्महत्या, सुरापान, स्तेय व अपराधियों को सहयोग करना-जैसे विषयों के प्रति जघन्यता का भाव प्रदर्शित होता है।<sup>3</sup> सूत्र-ग्रन्थों में सर्वप्रथम चौर्यकर्म (चोरी) को पारिभाषित किया गया है। एक व्यक्ति दूसरे के लोभ एवं बिना स्वामी की सम्पत्ति को उससे लेने से चोर हो जाता है।<sup>4</sup> प्रतीत होता है कि सभी सूत्रकारों ने यत्र-तत्र परिवर्तनों के साथ अपराधों की लगभग समान व्याख्या प्रस्तुत की है।<sup>5</sup> सूत्र-ग्रन्थों से न्यायिक-प्रक्रिया का सूत्रपात भी दृष्टिगोचर होता है। इसके अंतर्गत विधि-निषेध अकरणीय कार्यों के लिए दण्ड के रूप में प्रायश्चित्त का विधान किया गया। सूत्रों में विविध अपराधों के लिए विधि या कानून के स्रोत के रूप में वेद एवं धर्मग्रन्थ, आचार-नियम तथा परम्परा को मान्यता प्रदत्त की गई है। गौतमधर्मसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि न्याय-व्यवस्था का प्रतिपादन वेद, पुराण, धर्मशास्त्र और उसके विविध अंग, उपवेद तथा धर्मशास्त्रों की परम्परा से अविरुद्ध देश, जाति, कुलाचार को ध्यान में रखकर करना चाहिये।<sup>6</sup> इसके अन्यत्र उन्होंने एक स्थल पर तो यह भी कहा है कि कृषक, व्यापारी, पशुपालक, कलाकार आदि की परम्पराओं को उनके अपने वर्ग में प्रमाणित नियम मानना चाहिये।<sup>7</sup> आपस्तम्बधर्मसूत्र में वेद को विधि का स्रोत स्वीकार किया गया है, परन्तु प्रथम स्थान पर धर्मज्ञ, समयाचार्य का उल्लेख आपस्तम्ब ने किया है। बोधायन ने विधि के स्रोत के रूप में प्रथम स्थान वेद को,

1. 'अथ खल्वयं पुरुषो याष्येन कर्मणा लिप्यते यथैतदयान्यया जनमभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं शितस्याक्रियाप्रतिषिद्धसेवनमिति।'

— गौतमधर्मसूत्र, 10.1.2;

'त्यजेत् पितरं राजघातकं शद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं भ्रणहनं यश्चान्यावसायिभिः सह संवसेद्। अन्त्यावसायिन्यां च।' — वही, 10.2.1

2. 'कौटसाक्ष्यं राजगामि पैशुनमगुरोरनृताभिर्शंसनं महापातकसमानि'

— वही, 10.3.10

3. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 1.9.24.6-9; 2.5.17-21; वसिष्ठधर्मसूत्र, 20.34; गौतमधर्मसूत्र, 2.25; 21.3

4. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2.20.28-1

5. गौतमधर्मसूत्र, 21.1.3; आपस्तम्बधर्मसूत्र, 1.7.21.9-11

6. गौतमधर्मसूत्र, 11.19.20

7. वही, 11.21

मनु का दण्ड-विधान

द्वितीय स्थान स्मृति-परम्परा तथा तीसरे स्थान पर शिष्टाचार को रखा है।<sup>1</sup>

प्रायश्चित्त-नियमों व दाण्डिक सिद्धान्त के प्रतिपादन में स्रोत के रूप में इन्हीं साधनों का सहयोग लिया जाता था। प्रायश्चित्तों के सन्दर्भ में इन्हीं परिस्थितियों के आधार पर नियमों का निर्धारण किया जाता था। इस काल में प्रायश्चित्त व दण्ड-विधान की प्रमुख विशेषता यह रही कि इनके प्रतिपादन में वर्ण-व्यवस्था की श्रेष्ठता सोपान-क्रम में विचारणीय तथ्य था। निम्न वर्णवालों को अपने से उच्च वर्ण की अपेक्षाकृत कड़ी सजा दी जाती थी।<sup>2</sup> ऐसा अनुमान होता है कि इस समय तक वर्ण-व्यवस्था रूढ़ हो चली थी। एक ही अपराध में वर्णों के आधार पर दण्ड में भेद किया गया। एक क्षत्रिय की हत्या पर अपराधी को दोष-निवृत्ति के लिए एक हजार गाय और एक बैल; वैश्य की हत्या पर सौ गाय एक बैल एवं शूद्र की हत्या पर दस गाय और एक बैल देने का विधान मिलता था।<sup>3</sup> शूद्र और कुते को मारने पर समान दण्ड था।<sup>4</sup> निम्न जाति का व्यक्ति उच्च जाति के व्यक्ति को जिस अंग से हानि पहुँचाए, उसका वह अंग काट लिए जाने का नियम था।<sup>5</sup> इसी प्रकार का स्तर भेद पारुष्य<sup>6</sup> स्तेय<sup>7</sup> और उत्तराधिकार<sup>8</sup> के विषय में भी मिलता है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक— कोई भी ऐसा पक्ष नहीं दिखाई देता जहाँ न्याय में भेद न हो।<sup>9</sup> यह बात धर्मसूत्रों के नियमों से उभरकर सामने आती है। चोरी के अपराध में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को दुगुना, शूद्रों पर चौगुना या आठ गुना जुर्माने का प्रावधान था।<sup>10</sup> किन्तु यह तथ्य स्वीकारने योग्य नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि इस प्रकार के विधि-विधान विधि और दण्ड के भयात्मक सिद्धान्त के प्रवर्तन के फलस्वरूप निर्मित हुए थे। इस प्रकार के पक्षों की व्यवस्था करते समय भारतीय मानस या

1. बोधायनधर्मसूत्र, 1.12.4

2. अनिता स्वर्णकार, धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण (मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में), पृ 49

3. बोधायनधर्मसूत्र, 1.10.99, आपस्तम्बधर्मसूत्र, 1.9.24.1.4

4. वही, 1.10.19-6, आपस्तम्बधर्मसूत्र, 1.9.25-13

5. गौतमधर्मसूत्र, 12.1

6. वही, 12.11-3

7. विष्णुधर्मसूत्र, 9.11-4

8. बोधायनधर्मसूत्र, 2.3.3.10, गौतमधर्मसूत्र, 10-31.

9. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ 248

10. गौतमधर्मसूत्र, 12.15.16

चिति के दर्शन को ध्यान में रखना चाहिये। वस्तुतः दण्ड-विधान पर वर्ण-व्यवस्था के प्रभाव को हमें समसामयिक वातावरण में व्यक्ति की मानसिकता के साथ सम्बद्ध करके देखना चाहिये। शूद्र किसी जातिविशेष का प्रतिनिधि नहीं है। यह एक प्रकार की वृत्ति है जिसमें नैतिकता, सदाचार-जैसे मूल्यपरक, व्यक्तिगत, चारित्रिक विशेषताओं की कमी होती है। वस्तुतः यह एक प्रकार की दूषित मानसिक प्रवृत्ति है। यहाँ यह भी उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा कि अतीत का वर्णन हमेशा वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है। और सूत्रकालीन व्यवस्थाकार अपनी व्यवस्था से क्या व्यक्त करना चाहता है, इसपर भी हमारा चिन्तन होना आवश्यक है। किसी भी पक्ष की व्याख्या से पूर्व देश-काल-परिस्थितियों के अनुरूप व्याख्या भारतीय चिन्तन की मौलिक विशेषता रही है। इस प्रकार के नियम किन परिस्थितियों में बनाए गए, यहाँ कहना कठिन है। वैदिक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में की गई किसी भी व्यवस्था के लिए हमें हमारे सांस्कृतिक मानस को पकड़ने की चेष्टा करनी चाहिये और तब हम ऐसे विवादास्पद विषय में किसी अन्तिम निष्कर्ष के समीप पहुँचेंगे। बोधायन ने राज्य द्वारा न्यायपालिका के प्रबन्ध का परामर्श दिया है। सूत्रों में वेद, पुराण तथा शिष्टों के चरित्राचरण विधान माने गए हैं तथा सन्देह दूर करने के लिए वेद के पण्डित, मीमांसक तथा अन्य ब्राह्मण-विद्वानों से विचार-विमर्श करने का निर्देश है।<sup>1</sup> न्याय करते समय प्रदेशों की रीतियों का अनुसरण या गवाहों से बयान लेने की प्रथा थी।<sup>2</sup>

उपर्युक्त लिखित गवेषणा से स्पष्ट है कि सूत्रकाल में वैदिक काल की तुलना में सामाजिक परिवर्तन व्यापक रूप से हो रहा था और व्यक्ति व समाज को संयमित व अनुशासित रखने के लिए बृहत् रूप से सूत्रों के माध्यम से नियम-विधानों की रचना की गयी। किन्तु सूत्रकाल में न्यायिक क्षेत्र में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है क्योंकि इस काल में अपराधों का स्वरूप सामाजिक विधि के अंतर्गत था। इसलिए दण्ड का क्रियान्वयन भी प्रायः प्रायश्चित के माध्यम से होता था किन्तु फिर भी सूत्रकाल में राजकीय विधि की पूर्वपीठिका निर्मित हो चुकी थी जिसका कालान्तर में स्मृतिकाल में विकास हुआ। संक्षेप में सूत्र-साहित्य में वर्णित नियम-विधान, स्मृतिकालीन सुदृढ़ न्याय-व्यवस्था का प्रारम्भिक रूप है।

1. बोधायनधर्मसूत्र, 1.1.2.19.

2. वसिष्ठधर्मसूत्र, 16.13.15

# 3.

## मनु एवं मनुस्मृति का परिचय, उसका संकलन तथा संकलनकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

# सृ

ष्ट्रियुत्पत्ति के साथ ही पृथिवी पर निवास करनेवाले प्रत्येक प्राणी को प्रकृति ने नियमों से आबद्ध किया है। चाहे वह जीव-जन्तु, पेड़-पौधे हों या फिर मनुष्य— सभी को कहीं-न-कहीं नियम-विधानों से शासित होने की प्रेरणा मिलती है। इन नियम-विधानों का स्वरूप नैसर्गिक हो सकता है या फिर दैवीय। यही बात व्यक्ति व उसके द्वारा निर्मित संस्थाओं, परिवार, राज्य पर भी समान रूप से लागू होती है। व्यक्ति को अनुशासित करनेवाली इस आचार-संहिता के मूल में सदियों से पोषित संस्कृति, सभ्यता, परम्पराएँ, धार्मिक विधान मुख्य भूमिका का

निर्वहन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। जब भी व्यक्ति अपनी मूल परम्पराओं की अवेहलना करता है, तब उसका परिणाम सामाजिक विशृंखलन व संक्रमण के रूप में देखने को मिलता है। इसलिए प्रारम्भ से ही धर्मप्रवण भारतीय समाज के नियमन-संयमन एवं सर्वतोभावेन उत्थान के लिए समयानुरूप चिन्तकों-मनीषियों ने नियमोपनियमों का विधान किया और व्यवस्था, सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें ग्रन्थ के रूप में संहिताबद्ध कर लिया। इस प्रकृति के एक विशेष प्रकार के साहित्य को 'धर्मशास्त्र' साहित्य के नाम से अभिहित किया गया है। विस्तृत रूप में धर्मशास्त्रीय परम्परा में सूत्र-साहित्य, स्मृति-ग्रन्थों व समय-समय पर उन पर लिखी टीकाओं तथा धार्मिक निबन्धों को परिगणित किया जाता है। किन्तु अपने विशिष्ट भाव के कारण धर्मशास्त्र-साहित्य से 'स्मृतियाँ' अभिप्रेत हैं।<sup>1</sup> प्रस्तुत अध्याय के विषयानुरूप मनु की यह उक्ति ही अभीष्ट है कि 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।'<sup>2</sup> 'स्मृति' शब्द की व्युत्पत्ति 'स्मृकितन्' से हुई है जिसका अभिप्रायः स्मरण एवं प्रत्यस्मरण से लिया जा सकता है।<sup>3</sup> श्रुति अर्थात् वेद से इसका स्पष्ट भेद है। जहाँ श्रुति-साहित्य का आशय ऋषि-प्रणीत एवं ऋषि-दृष्ट वाङ्मय है, वहीं स्मृति से वेद को जाननेवालों को माना गया है।<sup>4</sup>

प्राचीन धर्मग्रन्थों में 'स्मृति' शब्द विशिष्ट व सामान्य अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। बोधायन व गौतम ने स्मृति को 'वेद के जाननेवालों का स्मरण' माना है।<sup>5</sup> पृष्ठ वृत्त काणे ने 'स्मृति' शब्द को विस्तृत रूप से पारिभाषित करते हुए लिखा है कि 'स्मृति का तात्पर्य वेद-वाङ्मय से इतर ग्रन्थों, यथा—पाणिनीय-व्याकरण, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रों, महाभारत, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति और अन्य ग्रन्थों से है।'<sup>6</sup> डॉ. राजदेव दुबे ने 'स्मृति' शब्द को संक्षिप्त रूप में पारिभाषित किया है। उनके अनुसार 'स्मृति का तात्पर्य संकुचित

अर्थ में केवल स्मृति-ग्रन्थों से ही लिया जा सकता है, यथा— मनु व याज्ञवल्क्यस्मृति आदि।'<sup>7</sup> वस्तुतः अपने व्यापक स्वरूप में स्मृति स्मरण का वह विषय है जो एक दीर्घकालिक परम्परा के अनुरूप धार्मिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। हिंदू जीवन-पद्धति को सर्वप्रथम आचार संहिता में आबद्ध करनेवाली विधिक संहिता को वैदिक व सूत्रकाल के पश्चात् समयानुरूप बदलते जन-जीवन के परिदृश्य के अनुरूप नियम-विधानों को संशोधित-परिवर्धित करते हुए स्मृति-ग्रन्थों के रूप में संहिताबद्ध कर लिया गया। इन स्मृतियों में वर्णित नियम-विधान ही व्यक्ति और समाज के लिए विधिक उपबन्ध थे। समाज के परिवर्तित होते स्वरूप के अनुरूप समय-समय पर विधि-विधानों के रूप में अनेक स्मृतियों का संकलन हुआ, जिसके प्रारम्भ का श्रेय मनुस्मृति को है।

स्मृतियों में मनुस्मृति को सर्वप्रथम प्राचीन स्मृति होने का गौरव प्राप्त है। वैसे तो यह ग्रन्थ मनु की विधिक मीमांसा के प्रस्तुतिकरण का प्रयास है और इसका मुख्य लक्ष्य सांस्कृतिक संक्रमण व सामाजिक धार्मिक, न्यायिक विशृंखलन के दौर में मनुस्मृति में वर्णित नियम-विधानों के आलोक में अपराध, न्याय एवं दण्ड-विधान की मूल्यपरकता को विश्लेषित करना है। सम्भवतः विधि के इस अनुपम-अद्वितीय ग्रन्थ के रचयिता महर्षि मनु के परिचय के बिना इस विषय की पूर्णता सम्भव नहीं है। अतः विषयानुकूल होने के कारण स्वयं मनु का परिचय व मनुस्मृति के संहिताबद्ध होने की अन्तिम तिथि एवं उसके गर्भ में निहित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, जिसे आगे वर्णित किया गया है, का वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है जिससे भारतीय संस्कृति के अनुरूप विकसित हुए विधिक उपबन्धों को मूल्यपरक बनाया जा सके।

### 3.1 मनु, मनुस्मृति का परिचय एवं संकलन-काल

वर्तमान भारतीय, पाश्चात्य विद्वानों के मस्तिष्क में मनु एवं मनुस्मृति को लेकर अनेक जिज्ञासाएँ सदैव बनी रहीं और इन जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयास अनेक बार चिन्तकों व मनीषियों द्वारा किया गया। किन्तु उनमें से अनेक जिज्ञासाओं का अन्तिम रूप से निराकरण वर्तमान तक नहीं हो सका है। मनु व मनुस्मृति आधुनिक इतिहास-लेखन की जिज्ञासा का विषय है, किन्तु समस्या नहीं। वस्तुतः पाश्चात्य इतिहास-लेखन की प्रपञ्चात्मक अवधारणा ने इस विषय

1. अनिता स्वर्णकार, धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण (मनु व याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में), पृ 26
2. मनुस्मृति, 2.10
3. वामन शिवराम आपटे, संस्कृत-हिंदी कोश, पृ 1153
4. अनिता स्वर्णकार, धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण (मनु व याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में), पृ 71
5. बोधायनधर्मसूत्र, 1.2; गौतमधर्मसूत्र, 1.1.3 तुलनीय राजदेव दुबे, स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति (याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में) पृ 1
6. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ 40

1. स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति : याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, पृ 1

को जटिल व समस्या का विषय बना दिया है। ध्यातव्य है कि भारत में इतिहास-लेखन की जो परम्परा रही है, उसका प्रारम्भ वैदिक ग्रन्थों से होता है जो कालान्तर में 17वीं शताब्दी तक अनवरत रूप से चलती रही। 18वीं शती में यूरोपीय विद्वानों ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने व अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए भारतीय इतिहास को जिस प्रकार से विकृत किया, उसी के परिणामस्वरूप इतिहास की विषय-वस्तु के रूप में समस्याओं का जन्म हुआ। वस्तुतः इन विद्वानों ने भारतीय इतिहास को भारतीय चित्ति के माध्यम से व्याख्यायित करने का प्रयत्न नहीं किया।<sup>1</sup> मनु और *मनुस्मृति* समस्या नहीं वरन् उसका बीज स्वार्थपूर्ण लेखन की वह दोषपूर्ण दृष्टि है, जिसके कारण भारतीय इतिहास-लेखन में वे त्रुटियाँ उत्पन्न हुईं जिसकी परिणति कालान्तर में मिथक के रूप में हुई। इस मिथक-परम्परा के कारण प्राचीन भारतीय धर्म-साहित्य वर्तमान विद्वानों को कपोल कल्पना लगने लगा, इसी के परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीय संस्कृति में उपजी व विकसित हुई व्यवस्थाओं के प्रति जनमानस में अविश्वास का भाव उत्पन्न हुआ। आधुनिक युग में विकसित हुए पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के माध्यम से विद्वानों के एक वर्गविशेष ने भारत की पुरातन सांस्कृतिक श्रेष्ठता को धूमिल करने का प्रयास किया। इतिहास-लेखन की इस विकृति के कारण वेद, ब्राह्मण, स्मृतियों, जैन, बौद्ध-जैसे अन्यादि धार्मिक ग्रन्थों की प्रामाणिकता को वर्तमान में सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है। वर्तमान में हो रहे नित नव-अनुसन्धानों ने भारतीय इतिहास व उसके घटक-तत्त्वों के प्रति विद्वानों की धारणा को बदला है। वर्तमान समय में यह अनुभव किया जाने लगा है कि भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में जो लिखा गया, वह भ्रमपूर्ण है। जबकि भारतीय संस्कृति में जन्मी व पोषित हुई परम्पराएँ, व्यवस्थाएँ, दर्शन, कालविषयक अवधारणाएँ व कालानुरूप घटनेवाली घटनाएँ वैश्विक सत्य हैं।

वस्तुतः स्मृतियों की विषय-वस्तु कालसापेक्ष है जिनमें कालानुरूप परिवर्तित हुई व्यवस्थाओं के लिए नियम-विधानों का विधान मिलता है। यह कथन *मनुस्मृति* के सन्दर्भ में भी उचित जान पड़ता है। मनु कौन थे एवं *मनुस्मृति* किसी मनु नामक व्यक्ति-विशेष की लिपिबद्ध कृति है या फिर उनके मंतव्यों का संशोधित-परिवर्धित रूप है? यदि *मनुस्मृति* का यह संस्करण संशोधित है तो इस स्वरूप का अन्तिम संशोधन किस काल में हुआ होगा? मनु कौन थे और उनका

काल क्या था? *मनुस्मृति* किसकी और किस काल की रचना है?— इस प्रकार के जटिल प्रश्नों का निराकरण अतीत के गर्भ में निहित साहित्यरूपी साक्ष्यों के आलोक में करने का प्रयास किया जा सकता है। मनु व *मनुस्मृति* को स्पष्ट करने के लिए उन दोनों पृथक् अवधारणाओं— प्रथमतः, भारतीय परम्परा में मनु व द्वितीयतः आधुनिक परम्परा में मनु का स्थान-जैसे विषय भी विचारणीय हैं।

### 3.2 भारतीय परम्परा में मनु

आर्य-जनसमुदाय के युगानुरूप परिवर्तित होती जीवनशैली की स्थिर, सुदृढ़ आधारशिला का न्यास करनेवाले अनेक युगद्रष्टा महापुरुषों में महर्षि मनु का नाम अप्रतिम प्रकाशपुञ्ज की तरह प्रकाशित है। इसलिए भारतीय लोक व शास्त्र-परम्परा में मनु प्रथम प्रजापति कहे जाते हैं। जनसामान्य के संवर्द्धन के लिए जिन प्रशस्त उदार नियम-विधानों की आवश्यकता होती है, उनके प्रतिपादन का प्रथमतः श्रेय मनु को ही जाता है।<sup>1</sup> इसलिए मनु सनातन आर्य-संस्कृति में सर्वप्रथम सम्मान के प्रतीक हैं। भारतीय समाज व संस्कृति की परिवर्तित होती इस प्रवाहमान धारा को नियमित व संयमित करने का जो श्रेय मनु को प्राप्त है, वह और किसी को नहीं। भारतीय परम्परा में मनु सर्वप्रथम विधि-निर्माता और निश्चित स्पष्ट आदर्शों के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठापित हैं। यदि उनकी कृति *मनुस्मृति* में वर्णित नियम-विधानों का मूल्यपरक अध्ययन करना है, तो उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म के स्वरूप को युक्तिसंगत रूप से समझना आवश्यक होगा। ग्रन्थ के आगामी अध्यायों में मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म को विस्तार से विवेचित करने का सार्थक प्रयास किया गया है।

धर्मग्रन्थों में मनु को सृष्टियुत्पत्ति के साथ सम्बद्ध करते हुए प्रथम समाज-व्यवस्थापक एवं आदिपुरुष के रूप में मान्यता प्रदत्त की गई है। निश्चित ही मनु वर्तमान में ऐतिहासिक तिथिक्रम से परे की संकल्पना हैं। मनु का विषय आते ही भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उस धुंधले प्रभात का स्मरण हो आता है जिसमें मानव और देवता— दोनों साथ-साथ विचरण करते दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि उस युग की गाथाओं के संकलन से इतिहास के तथ्य और कल्पना का विश्लेषण एक कठिन कार्य है,<sup>2</sup> तथापि गाथाएँ भी अपने अन्दर एक अभीष्ट

1. देखें, पृं दीनदयाल उपाध्याय-कृत 'एकात्म मानववाद' में चित्ति की अवधारणा

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण, *कला और संस्कृति*, पृ 3 से संबंधित लेख

2. वही



पारम्परिक सत्य को समाहित किए होती हैं, इसलिए युगानुरूप बदलती जीवनशैली के पश्चात् भी व्यक्ति व समाज के द्वारा उस पारम्परिक सत्य को स्वीकार किया जाता है, साथ ही उस स्वीकृति से उपजे आदर्शों के अनुसरण का प्रयास भी किया जाता है। इसी प्रकार से मनु की यथार्थता व कल्पना हमारे निजी जीवन में बहुत दूर तक ओतप्रोत है, इसलिए मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म का गहरा प्रभाव हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन पर पड़ा है। इसलिए वर्तमान में भी हिंदू जीवन-पद्धति की सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं और क्रियाकलापों पर मनु का प्रभाव देखने को मिलता है।

मनु व *मनुस्मृति* को समझने से पूर्व 'मनु' शब्द के निहितार्थ को समझना समीचीन होगा। 'मनु' शब्द 'मन्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका शाब्दिक अर्थ है— मनन करना, चिन्तन करना, विचार करना। इससे जो उत्पन्न हुआ, वह 'मनु' कहलाया।<sup>1</sup> इस प्रकार मनु, 'मन' से उपजा आदिपुरुष है। भारतीय परम्परा में नृवंश-परम्परा मनु से प्रारम्भ मानी जाती है। 'मानव' शब्द भी मनु का परिचायक है। इसके अन्यत्र मनुष्य को 'नर' भी कहा गया है, नर शब्द भी मनुष्य का पर्याय है। यद्यपि व्युत्पत्ति-भेद से 'नर' शब्द 'नारायण' से घटित हुआ है। *मनुस्मृति* में 'नारायण' शब्द का अभिप्राय है कि 'नार है अयन जिसका वही नारायण है' साथ ही 'नार' शब्द को जल के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है और जल को ही नारायण (ईश्वर) का मूलस्थान माना गया है।<sup>2</sup> मानव व मनुष्य भी मनु का परिचायक है। मनु से अंग्रेज़ी के 'मेन' शब्द का ध्वनि-साम्य और वर्णसादृश्य वास्तव में विचार-प्रेरित और अर्थवान् है तथा उर्दू के 'आदमी' शब्द की व्युत्पत्ति भी 'आदम' शब्द से हुई है।<sup>3</sup> प्रतीत होता है कि प्रथम पुरुष होने के कारण मनु से ही मानव को नामाभिधान मिला और मनुष्य को 'मानव' कहा जाने लगा। इसके अन्यत्र विश्व के लगभग सभी सम्प्रदायों व धर्मों में जलप्रलय का जो कथानक मिलता है, वह समान मत पर आधारित है। यह कथानक समान रूप से मनु से संबन्धित है। कुछ विद्वानों का विचार है कि जलप्रलयवाले 'नूह' का, जिसकी कथा प्राचीन बावेरु और सुमेरु-देशों के ग्रन्थों में है तथा ईसाई व

इस्लाम-सम्प्रदायों में पाई जाती है, का *शतपथब्राह्मण* में वर्णित जलप्रलय की कथा के साथ अवश्य कुछ संबंध है।<sup>4</sup> प्राचीन क्रीट द्वीप के आदि सम्राट् की संज्ञा 'मिनोस' भी मनु से मिलती-जुलती है।<sup>5</sup> मिस्र की परम्परा में भी प्रथम राजा का नाम 'मेनेस' (लगभग 3050 ई पू ) पाया जाता है, क्योंकि जिस प्रकार भारत में प्रलय से पूर्व की और प्रलयकाल के पश्चात् की वंशावली पुराणरूपी इतिहास में सुरक्षित रखी गई, उसी प्रकार मिस्र में प्राचीन राजाओं की वंशावलियाँ भी सुरक्षित रखी गई थीं। डॉ॰ शरद हेबाळकर (जन्म : 1943) का मानना है कि यह कोई संयोग की बात नहीं है। लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं के शासकों के साथ यही नाम जुड़ा है। भारतीय परम्परा में प्रथम शासनकर्ता मनु हैं। भारतीय जहाँ भी गए, सभ्यता का निर्माण करने की प्रक्रिया में प्रथम शासनकर्ता ने उसी नाम से शासन करने में गौरव अनुभव किया।<sup>6</sup> इसके अन्यत्र मयन्मार, थाईलैण्ड और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में विकसित बौद्ध विधि-संहिता को मनु से सम्बद्ध किया जाता है।<sup>7</sup> फिलिपीन्स के न्यायालय के विशाल कक्ष में मनु की एक स्फटिक-प्रतिमा है जिसपर अंकित है— 'मानव जाति का प्रथम महान् एवं श्रेष्ठ प्रज्ञासंपन्न विधि-निर्माता'।<sup>8</sup> यहाँ पी वी काणे के मत को प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है कि 'मनुस्मृति का प्रभाव भारत के बाहर भी गया। चम्पा (दक्षिण वियतनाम) के एक अभिलेख में बहुत-से श्लोक मनु से मिलते हैं, बर्मा में जो धम्मपट है वह मनु पर आधारित है। बालिद्वीप का कानून *मनुस्मृति* पर आधारित था'।<sup>9</sup> प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ॰ सत्यकेतु विद्यालंकार (1905-?) ने उल्लेख किया है कि फिलिपीन्स के निवासी यह मानते हैं कि उनकी आचार-संहिता मनु और लाओत्से की स्मृतियों पर आधारित है। इसलिए वहाँ की विधानसभा के द्वार पर इन दोनों की मूर्तियाँ भी स्थापित की गई हैं।<sup>10</sup> इसके अन्यत्र उनका मानना है कि चम्पा (दक्षिण वियतनाम) के अभिलेखों, राजकीय शिलालेखों से ज्ञात होता है कि

1. ठाकुर मौलाराम, 'मनु और हिमाचल का माहुण' (*वैवस्वत मन्वन्तर में मानव-सृष्टि तथा समाज-संरचना*), पृ 25
2. *मनुस्मृति*, 1.10
3. चतुर्वेदी, रामगोपाल, *मनु की विधिसंहिता*, पृ 4

1. अग्रवाल, डॉ॰ वासुदेवशरण, *कला और संस्कृति*, पृ 53
2. *वही*, पृ 53
3. *कृण्वन्तो विश्वमार्यम्*, पृ 231
4. *The Theosophist*, March 1981 तुलनीय डॉ॰ शरद हेबाळकर, *कृण्वन्तो विश्वमार्यम्*, पृ 230
5. गोळवळकर, श्री माधवराव सदाशिवराव, *विचार नवनीत*, पृ 10
6. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 1, पृ 47
7. *दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति*, पृ 47

वहाँ के कानून प्रधानतया मनु, नारद तथा भार्गव की स्मृतियों पर आधारित थे। एक अभिलेख के अनुसार राजा जयइन्द्रवर्मदेव मनु-मार्ग का अनुसरण करनेवाला था।<sup>1</sup> राजा जयवर्मन प्रथम के अभिलेख में दो मन्त्रियों का उल्लेख है, जो धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के ज्ञाता थे। मनुसंहिता-सदृश ग्रन्थों को 'धर्मशास्त्र' कहा जाता था। जो धर्मशास्त्र कम्बुज (कम्बोडिया) देश में विशेष रूप से प्रचलित थे, उनमें मनुसंहिता का विशिष्ट स्थान था।<sup>2</sup> आर्थर बेरिएडल कीथ (Arthur Berriedale Keith : 1879-1944) का मत है कि बर्मा, थाईलैण्ड, जावा आदि देशों में *मनुस्मृति* का प्रभाव और स्वीकार्यता एक प्रामाणिक, आधिकारिक और वहाँ के संविधान के स्रोत-ग्रन्थ के रूप में है। वहाँ के संविधान *मनुस्मृति* को आधार बनाकर लिखे गए हैं।<sup>3</sup>

ज्ञातव्य है कि ये वे स्थान हैं जहाँ प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का बीजारोपण हुआ था। दूसरे शब्दों में यह कहना इतिहाससम्मत होगा कि ये सभी क्षेत्र प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से वैदिक सभ्यता व संस्कृति के प्रभाव में थे। इसलिए इन क्षेत्रों के निवासियों ने मनु को ही प्रथम शासक के रूप में स्वीकार किया। प्रकारान्तर से सूदुर क्षेत्रों में प्रादुर्भूत हुए सम्प्रदायों ने अपने धर्मग्रन्थों में जलप्रलय से नष्ट हुई सृष्टि के घटनाक्रम को अपने ग्रन्थों का विषय बनाया। वस्तुतः इन सम्प्रदायों के उद्भव का मूलाधार वैदिक संस्कृति रही है। थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक-सदस्य कोलेनेल हेनरी स्टील ओल्कोट (Colonel Henry Steel Olcott : 1832-1907) का मत इस विचार को और अधिक पुष्ट करता है कि 'प्राचीन इजिप्सियन्स निष्कासित भारतीय थे। ज्यूधर्मी मोझेस से लेकर यूनानी-विद्वान् प्लेटो तक लगभग सभी विख्यात तत्त्ववेत्ताओं ने मिस्र जाकर उनसे ज्ञान प्राप्त किया था।'<sup>4</sup>

भारतीय-धर्मग्रन्थों व अन्य साहित्यिक स्रोतों में भी मनु को प्रथम पुरुष, शासक, विधि-निर्माता के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। ऋग्वेद में मनु को समाज के पिता या पालक के रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए मनुष्पिता अर्थात्

1. दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति, पृ 254

2. वही, पृ 198

3. *A History of Sanskrit Literature* (1920), p.445

4. Olivelle, Patrick, *Manu's Code of Law*, Introduction (2005), p.61

मानव जाति का पिता कहा गया है।<sup>1</sup> साथ ही वे अन्य दृष्टान्तों में पथ-प्रदर्शक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा में ऋषि यह प्रार्थना करते हुए दर्शित है कि वह मनु के द्वारा निर्देशित पथ से विचलित न हो जाये।<sup>2</sup> ऋग्वेद में ही अन्यत्र कहा गया है कि मनु ने ही विश्व में अग्नि प्रज्वलित करके सर्वप्रथम (सप्त होत्रिय) यज्ञ किया।<sup>3</sup> इसके अतिरिक्त भी ऋग्वेद में 'मनु' शब्द का व्यापक अर्थों में उल्लेख हुआ है। एक स्थल पर उन्हें ईश्वरीय शक्ति के परिचायक के रूप में देखने की चेष्टा की गई है।<sup>4</sup> 'मनु' शब्द मनुष्य का पर्यायवाची है।<sup>5</sup> वस्तुतः मनु स्वयं वेद को ईश्वरप्रदत्त (अपौरुषेय) मानते हैं। इसलिए सृष्टियुत्पत्ति के प्रारम्भ में ईश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य के माध्यम से वेद का ज्ञान दिया। इस प्रकार के मनु-वचनों से यही सम्भावना फलीभूत होती है कि वेद का ज्ञान पूर्णतः ज्ञेय न होकर अपरिमित है।<sup>6</sup> ऋग्वेद के उक्त उद्धरणों से मनु की प्राचीनता तो सिद्ध होती है, साथ ही ये ऋचाएँ मनु को सृष्टि व समाज के प्रथम शासक और विधिवेत्ता के रूप में स्थापित करती हैं। *तैत्तिरीयसंहिता* व *काठकब्राह्मण* के श्लोक भी समान अर्थों में मनुष्य को मनु के वंशज के रूप में निरूपित करते हैं।<sup>7</sup> यास्क ने भी इसी मान्यता का समर्थन किया है कि मनु की संतान (मनोष्पत्य मनुष्य) होने के कारण मानव मनु का वंशज कहलाता है। *तैत्तिरीयसंहिता* के 'यद्वै किं च मनुश्वरदत्तद भेषजम्'-जैसे मनु-विषयक सन्दर्भों से मनुवचन भैषज्य (ओषध) के रूप में कष्ट-निवारक है।<sup>8</sup> *ताण्ड्यमहाब्राह्मण* में भी मनु के इसी स्वरूप का वर्णन है।<sup>9</sup> *शतपथब्राह्मण* में मनु को प्रलय के साथ निर्दिष्ट किया गया है।<sup>10</sup> यास्क ने भी मनु एवं *मनुस्मृति* का उल्लेख किया है।<sup>11</sup>

1. ऋग्वेद, 2.33.1; 8.63.1

2. वही, 1.80.16, 1.1.4.2, 2.33.3, 8.30.1, 8.631, 10.63.7

3. वही, 10.63.7

4. वही, 1.80.16 पर स्वामी दयानन्द का भाष्य

5. वही, 4.26.4; 5.2.12; 6.21.11; 8.47.4

6. *मनुस्मृति*, 1.23; 1.4

7. *काठकसंहिता*, 5.1.5.66 व *तैत्तिरीयसंहिता*, 2.30.1 ( तः इमाः मानव्यः प्रजाः )

8. *तैत्तिरीयसंहिता*, 22.10.2

9. *ताण्ड्यमहाब्राह्मण*, 23.16.17

10. *शतपथब्राह्मण*, 11.12.12; 7.4.24

11. *निरुक्त*, 3.14

कालान्तर में महाकाव्य-युग, विशेषकर *वाल्मीकीयरामायण* में भी मनु को आदि राजा के रूप में मान्यता प्रदत्त की गई है। दशरथ आदिराजा स्वायम्भुव मनु के समान स्नेह से प्रजाओं का पालन-पोषण करते हैं।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र एक अन्य प्रसंग में अयोध्या के यशस्वी राजा राम बालि-वध को न्यायोचित सिद्ध करने के लिये *मनुस्मृति* के दो श्लोकों को प्रचलित व मान्य विधि के रूप में ग्राह्य करते हैं कि पाप व अपराध करने के उपरान्त राजा द्वारा दण्डित किए जाने पर दुराचारी सदाचारी के रूप में पहचाने जाते हैं। राजा के द्वारा दण्डित अथवा निर्दोष सिद्ध करने के बाद चोर चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है। यदि राजा अपराधी को दण्ड न दे तो वह भी अपराध का दोषी माना जाता है।<sup>2</sup> दोनों ग्रन्थों में निहित श्लोकीय समदृश्यता के आधार पर कहा जा सकता है कि रामायण-काल में भी मनु की दण्ड-संहिता प्रचलन में थी। इसी अभिमत की पुष्टि *महाभारत* के सन्दर्भों से भी होती है जिसमें एक स्थल पर कथानक मिलता है कि प्रारम्भ में अराजकता से पीड़ित प्रजा ने भगवान् ब्रह्मा से राजा की नियुक्ति के लिए प्रार्थना की। इसी के फलस्वरूप ब्रह्मा ने मनु को जनता की रक्षा और राज्य-सञ्चालन के निमित्त राजपद स्वीकारने का निर्देश दिया।<sup>3</sup> इस प्रकार *महाभारत* से भी मनु के आदिराजा होने की पुष्टि होती है। *महाभारत* में भी प्राचेतस् और स्वायम्भुव नामक दो मनुओं का उल्लेख हुआ है जो क्रमशः धर्मशास्त्र एवं राजधर्म के प्रणेता के रूप में वर्णित हैं।<sup>4</sup> प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये दोनों ग्रन्थ एक ही ग्रन्थ के दो भाग हों या फिर दोनों स्वतन्त्र ग्रन्थ रहे हों। *भगवद्गीता* में भी विवस्वान् मनु का उल्लेख हुआ है।<sup>5</sup> कुछ विद्वान् तो *भगवद्गीता* को ही *मनुस्मृति* का आद्य स्वरूप मानने के पक्ष में हैं। *नारदस्मृति* में उल्लेख आया है कि नारद ने भी धर्म का ज्ञान मनु से प्राप्त किया और बाद में मार्कण्डेय ऋषि को इसका ज्ञान कराया।<sup>6</sup>

#### 1. 'आदिराजो मुनरिव प्रजानां परिरक्षिता'

—बालकाण्ड, 6.4 (पश्चिमोत्तर संस्करण)

- वही, किष्किन्धाकाण्ड, 18.30.32 व *मनुस्मृति*, 8.316, 318
- महाभारत*, शान्तिपर्व, 67.20, 23, 32
- वही, शान्तिपर्व, 21.12
- भगवद्गीता*, 7.18
- चतुर्वेदी, रामगोपाल, *मनु की विधि-संहिता*, पृ 5

पुराण, जो स्वयमेव इतिहास ही है, में पुराणकारों ने अपनी विषयवस्तु में मनु के सन्दर्भों को विस्तार से व्याख्यायित किया है। पुराणों में कम-से-कम चौदह मनुओं का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः सभी पुराण मनु को लेकर एकरूपता लिए हुए हैं। कहीं-कहीं अन्तर है तो वह मनुओं के नामों को लेकर है। निश्चित ही एक दीर्घकालावधि में पुराणों की रचना या संकलन का कार्य सम्पन्न हुआ है। इसलिए यह अन्तर पुराणों में दिखाई देता है। *मत्स्यमहापुराण* में वैवस्वत मनु<sup>1</sup> को प्रलय व पुनर्सृष्टियुत्पत्ति के साथ सम्बद्ध करते हुए पूर्व के छः मनुओं—स्वायम्भुव, स्वरोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष के विषय में विस्तार से वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त *मत्स्यमहापुराण* में पूर्व के छः मनुओं और उनसे संबंधित देवताओं, सप्तर्षियों का भी उल्लेख मिलता है।<sup>2</sup> उक्त पुराण में ही स्वायम्भुव मनु को सृष्टि के प्रारम्भ के साथ सम्बद्ध करते हुए उनके वंश-वृक्ष के अंतर्गत आग्नीध्र, अग्निबाहु, सह, सवन, ज्योतिषमान, द्युतिमान, हव्य, मेधातिथि, मेधा और वसु को उनके पुत्र के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की गई है।<sup>3</sup> *मत्स्यमहापुराण* में वैवस्वत मनु को इक्ष्वाकु वंश के आद्य पूर्वज के रूप में मान्यता प्रदत्त की गई है।<sup>4</sup> महाकवि कालिदास ने भी वैवस्वत मनु को इक्ष्वाकु वंश के साथ सम्बद्ध करते हुए इसी प्रख्यात वंश के कर्मठ राजर्षियों के लिए 'सो हमा जन्म शुद्धानाम्' आदि विशेषणात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। ध्यातव्य है कि इसी वैवस्वत मनु से संबंधित इक्ष्वाकु वंश की राज-परम्परा ही भारतीय इतिहास के तिथिक्रम का आधार है। *विष्णुमहापुराण* में भी मनु की उत्पत्ति के संबंध में वर्णित है कि ब्रह्मा ने अपने स्वायम्भुव स्वरूप को प्रजा के पालन के लिए मनु के रूप में नियुक्त किया।<sup>5</sup> शतरूपा को उनकी पत्नी व प्रियव्रत और उत्तानपाद को उनके पुत्र तथा प्रसूति और आकूति को उनकी पुत्री के रूप में वर्णित किया गया है।<sup>6</sup> *विष्णुमहापुराण* में भी पूर्व के छः मनुओं और उनके वंश-वृक्ष तथा भविष्य के मनुओं का ऐसा ही व्यवस्थीकरण किया गया है। भविष्य के सात अन्य मनुओं—

- मत्स्यमहापुराण*, 1.12; 13.9-26
- वही, 9.2-39
- वही, 9.5
- वही, 1.29-30
- विष्णुमहापुराण*, 1.7.16
- वही, 32.4.15; 1.7.21; 3.1.5-7

सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, रुचि, भौम को क्रमशः आठवें, नवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें मनु के रूप में मान्यता प्रदत्त की गई है।<sup>1</sup> इसी पुराण में मनु के ज्येष्ठ पुत्र राजा प्रियव्रत और उनके वंशजों का वर्णन मिलता है और अंतिम शासक विष्णुज्योति सहित 27 पीढ़ियों का उल्लेख हमें प्राप्त होता है।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र उल्लेख मिलता है कि विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा व सूर्य से द्वितीय मनु की उत्पत्ति हुई और अग्रज मनु सवर्ण होने के कारण मनु सावर्णि नाम से प्रसिद्ध हुए।<sup>3</sup> *विष्णुमहापुराण* में वर्णित मनु के जन्म के दो प्रसंग मिथक नहीं हो सकते, क्योंकि भारतीय परम्परा में ऐसे चौदह मनुओं का उल्लेख आया है जो भारतीय कालगणना के पर्याय हैं। *मनुस्मृति* में ही स्वायम्भुव मनु के अलावा छः और मनुओं— स्वरोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष का उल्लेख हुआ है।<sup>4</sup> इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर सातवें मनु के दस पुत्रों— इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त प्रांशु, नाभाग, दिष्ट, करुष और पुरुष का उल्लेख मिलता है।<sup>5</sup> इस सूची के प्रमाण के रूप में *मत्स्यमहापुराण* को भी साक्ष्य के रूप में ग्राह्य किया जा सकता है।<sup>6</sup> कौटिल्य ने भी मनु को प्रथम शासक के रूप में स्वीकार किया है।

पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि सृष्टि के आदिकाल में स्वायम्भुव मनु को प्रथम शासक और समाजनियन्ता के रूप में वर्णित किया गया है। वह जिस महाद्वीप के शासक बने, उस स्थान को पुराणों में 'ब्रह्मावर्त' कहा गया है, साथ ही उन्हें सात समुद्रोंवाली पृथिवी का शासक माना गया है, और बर्हिष्मतिपुरी को उनकी राजधानी के रूप में निरूपित किया गया है।<sup>7</sup> *भागवतमहापुराण* में तो उनके राज्य-सञ्चालन के निमित्त पुरोहितों व सप्तर्षियों का भी वर्णन प्राप्त होता है।<sup>8</sup> *मत्स्यमहापुराण* को उक्त प्रसंग के प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है।<sup>9</sup> *कूर्ममहापुराण* में ब्रह्मा के पुत्र विराट को स्वायम्भुव मनु कहा

1. *विष्णुमहापुराण*, 3.2.14-49

2. *वही*, 2.1.5-6

3. *वही*, 3.2.2-4; 3.2.11-13

4. *मनुस्मृति*, 1.61-63

5. *विष्णुमहापुराण*, 4.1.6-7

6. *मत्स्यमहापुराण*, 1.30

7. *भागवतमहापुराण*, 3.22.28; 3.21.22,25,33-34

8. *वही*, 6.7.17

9. *मत्स्यमहापुराण*, 9.3-4; 65.32

गया है। इसके अलावा छठे मन्वन्तर के प्रतिनिधि-शासक चाक्षुष मनु और उनकी पत्नी नड्वाल तथा उनसे उत्पन्न दस पुत्रों— उरु, पुरु, शतद्युम्न, तपस्वी, सत्यवाक्, शुचि, अग्निष्टुत, अतिरात्रि, सुद्युम्न तथा अभिमन्युक का उल्लेख भी हुआ है। इसके अन्यत्र इक्ष्वाकु वंश और उनके वंशज अयोध्यानरेश श्रीराम का वर्णन भी उक्त पुराण में आया है।<sup>1</sup> अंततः इन पौराणिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही मनु भारतीय-परम्पराओं में प्रथम आद्य पुरुष, प्रजापति या शासक, व्यवस्थापक के रूप में प्रतिष्ठापित हैं। ठीक उसी प्रकार से कालान्तर में सेमेटिक मत (ईसाइयत व इस्लाम) में एडम (आदम) हुए थे।

### (अ) मनु और हिमाचल

भारतीय जनश्रुतियों और परम्पराओं में मनु का संबंध प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान हिमाचलप्रदेश से जोड़ा जाता है। हिमाचली समाज में ऐसी मान्यता है कि जलप्रलय के पश्चात् मानव-जीवन का सर्वप्रथम अंकुरण यही हुआ था। मान्यता है कि जलप्रलय के पश्चात् प्रारम्भिक दिनों में महर्षि मनु हिमाचलप्रदेश के कुल्लू ज़िले में मनाली नामक स्थान पर रहे। मनाली का प्राचीन नाम 'मन्वालय' है जिसका अर्थ है मनु का आलय अर्थात् मनु का घर। यही मन्वालय शब्द ही ध्वनि-परिवर्तन के भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुरूप मनाली हो गया। मनाली में ही मनु ने आदर्श मानव-समाज की स्थापना के लिए अद्वितीय विधि-विधान निर्मित किए जो वर्तमान समय में भी प्रासंगिक हैं।<sup>1</sup> जनश्रुतियों के अनुसार जलप्रलयोपरान्त मानव जाति के सृजन की घटना का सीधा संबंध हिमालय क्षेत्र से संबंधित है। विभिन्न पुराणों व *महाभारत* में वर्णित आख्यानों के अनुसार अथाह जलप्रवाह से गुजरती नाव हिमालय के जिस शिखर पर आकर रुकी, उस पर्वत को हेमकूट पर्वत बताया गया है जो हिमाचल में स्थित है। इस कालविशेष में इस क्षेत्र को 'कुलान्त पीठ' के नाम से भी जाना जाता था। सन् 1869-'71 तक कुल्लू के असिस्टेंट कमिशनर रहे अल्फ्रेड फ्रेडरिक पोलॉक हार्कोर्ट (Alfred Frederick Pollock Harcourt : 1836-1910) ने अपनी पुस्तक 'कुल्लू लाहौल एण्ड स्पीती' में कुलान्त पीठ का सन्दर्भ देते हुए कहा है कि यह वर्तमान

1. *कूर्ममहापुराण*, 8.8.10; 13/5.7-8; अध्याय-9

2. ठाकुर, विद्याचन्द, 'मनु महाराज का घर मनाली' (*वैवस्वत मन्वन्तर में मानव-सृष्टि तथा समाज-संरचना*), पृ. 97

कुल्लू का नाम है।<sup>1</sup> डॉ. हीरानन्द शास्त्री ने *आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट* (1907-'08) में प्रकाशित अपने लेख में लिखा है, 'कुलान्त पीठ जालन्धर के उत्तर-पूर्व में स्थित है। व्यास का पवित्र स्थान इसके उत्तर में है और बन्धन पर्वत इसके दक्षिण में स्थित है। व्यास नदी इसके पश्चिम में बहती है और पशुपति (शिव) इसके पूर्व में हैं। वादी की मुख्य देवी शबरी हैं। इन्द्रकील प्रमुख पवित्र स्थल है। इसी क्षेत्र में शिव ने शबर के भेष में अर्जुन के साथ युद्ध किया था। प्रतीत होता है कि प्रलय काल के पश्चात् मानव जाति के पुनः सृजन के लिए मनु ने स्वयं का निवास इसी क्षेत्र (मनाली) में बनाया था। आज भी यहाँ मनु का प्राचीन मन्दिर (देखें चित्र-कृ. 2) है जहाँ मनु को ऋषि, देवता और आदिपुरुष के रूप में पूजा जाता है।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र मनु का एक दूसरा मन्दिर कुल्लू जिले की (देखें चित्र-कृ. 3) सैंज घाटी के शैशर क्षेत्र के धारा देहरा नामक स्थान पर स्थित है। यह मन्दिर 5 छतोंवाले पैगाडा शैली में है। इसका निर्माण राजा बहादुर सिंह (1532-1559) के समय स्थानीय निवासी हूल ठाकुर द्वारा किया माना जाता है। ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण भारत में कुल्लू ही एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ मनु की देव रूप में पूजा होती है। इस प्रकार कुल्लू के साथ मनु का सीधा संबंध स्पष्ट हो जाता है।

इसके अन्यत्र जलप्रलय के बाद मनाली से मनु महाराज द्वारा मानव-सृष्टि का सञ्चालन करना एक लोक मान्यता से भी सिद्ध होता है। व्यास नदी की बायीं ओर मनाली से सात किलोमीटर की दूरी पर 'जगतसुख' नाम का गाँव है जहाँ पर वेदमाता गायत्री का प्राचीन मन्दिर है। मान्यता है कि महर्षि मनु ने ही यहाँ गायत्री माता की स्थापना करके 'ग्यारी' जलायी। स्थानीय क्षेत्रीय भाषा में 'ग्यारी' शब्द से छोटे स्तर पर हवन-यज्ञ की प्रक्रिया ही अभिप्रेत है। ऋग्वेद से भी इस मत की पुष्टि होती है कि मनु ने पृथिवी पर सर्वप्रथम यज्ञ किया। इसके प्रमाण के रूप में *शतपथब्राह्मण* के उस कथन को अभिमत के रूप में ग्राह्य किया जा सकता है जिसमें मनु को प्रथम यज्ञकर्ता के रूप में वर्णित किया गया है। अन्यत्र ही स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया गया है कि मनु का अनुसरण करके सब प्रजाएँ यज्ञ करती हैं।<sup>3</sup> इसके अलावा इसी ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि

1. ठाकुर, मौलूराम, 'मनु और हिमाचल का माहणु' (वैवस्वत मन्वन्तर में मानव-सृष्टि तथा समाज-संरचना), पृ. 39
2. वही, पृ. 41
3. *शतपथब्राह्मण*, 1.5.1.7

प्रजापति मनु को प्रमाण करता हूँ। मनु निश्चय ही प्रजापति हैं। मनु ने ही सर्वप्रथम विश्व की व्यवस्थाओं का निर्माण किया और सर्वप्रथम यज्ञानुष्ठान को क्रियात्मक रूप में परिवर्तित किया।<sup>1</sup> *तैत्तिरीयसंहिता* में भी इसी प्रकार की अभिव्यञ्जना देखने को मिलती है।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र *तैत्तिरीयब्राह्मण* में वर्णन हुआ है कि यजमान श्राद्धदेव मनु की ओजस्वी वाणी यज्ञ के रूप में शस्त्रों में प्रविष्ट होकर असुरों का संहार करनेवाली थी।<sup>3</sup> यहाँ याज्ञिक क्रिया को नियम-विधानों के रूप में लेना भी समीचीन जान पड़ता है। इन साक्ष्यों के प्रकाश में यह निष्कर्ष लगाया जा सकता है कि मनु आदि स्वायम्भुव, आदि समाज-व्यवस्थापक थे, और व्यक्ति को अनुशासित करने के लिए उन्होंने अपने राज्य में धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि विविध विषयों से संबंधित नियमानुधानों की रचना की जिससे व्यक्ति और समाज को सुसभ्य व सुसंस्कृत बनाया जा सके। विद्वानों का मत है कि यज्ञ का प्राथमिक स्वरूप यही रहा होगा जो कुल्लू में आज भी प्रचलित है। कुल्लू की भाषा का 'ग्यारी' शब्द यज्ञ-क्रिया का स्थानीय रूप है।<sup>4</sup> इसके अलावा हिमाचली भाषा में आदमी या पुरुष के लिए 'माहुण' शब्द प्रचलित है। यह संज्ञा 'मानव' शब्द से व्युत्पन्न कही जा सकती है, परन्तु मूलरूप में यह 'मनु' का पर्यायवाची शब्द है। यही 'माहुण' आदिकाल का 'मनु' है। इसी माहुण ने सर्वप्रथम मनु के सिद्धान्तों, नियमों और विधि-विधानों का अनुपालन किया था।<sup>5</sup> अतः भारतीय, विशेषकर हिमाचली-मान्यताओं में वर्तमान सृष्टि का प्रारम्भ वैवस्वत मनु से माना जाता है। ज्ञातव्य है कि भारतीय इतिहास के कालक्रम के मान को मनवन्तर में विभाजित किया गया है जो मनु का परिचायक है और जिसकी विस्तृत व्याख्या आगे की जायेगी। मनु ही आद्य पुरुष हैं और उनसे ही पुराण-साहित्यों में वर्णित राजवंशों का प्रारम्भ माना जाता है। जल-प्लावन के पश्चात् सृष्टि-निर्माण की घटना मिथक नहीं हो सकती क्योंकि इसके बहुतेरे प्रमाण अनेक स्रोतों में उपलब्ध हैं जिनकी पुष्टि अन्य सम्प्रदायों के साहित्यिक स्रोतों से होती है। इस प्रकार भारतीय परम्परा में मनु एक शाश्वत सत्य से उपजे

1. *शतपथब्राह्मण*, 6.6.1.19

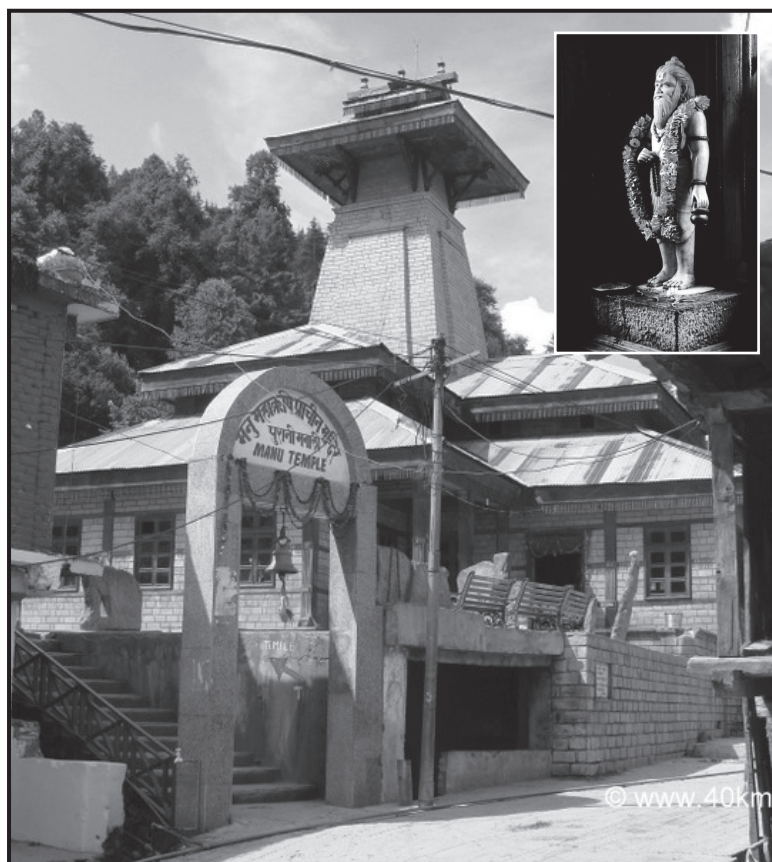
2. *तैत्तिरीयसंहिता*, 2.5.9.1

3. *तैत्तिरीयब्राह्मण*, 3.2.6.9

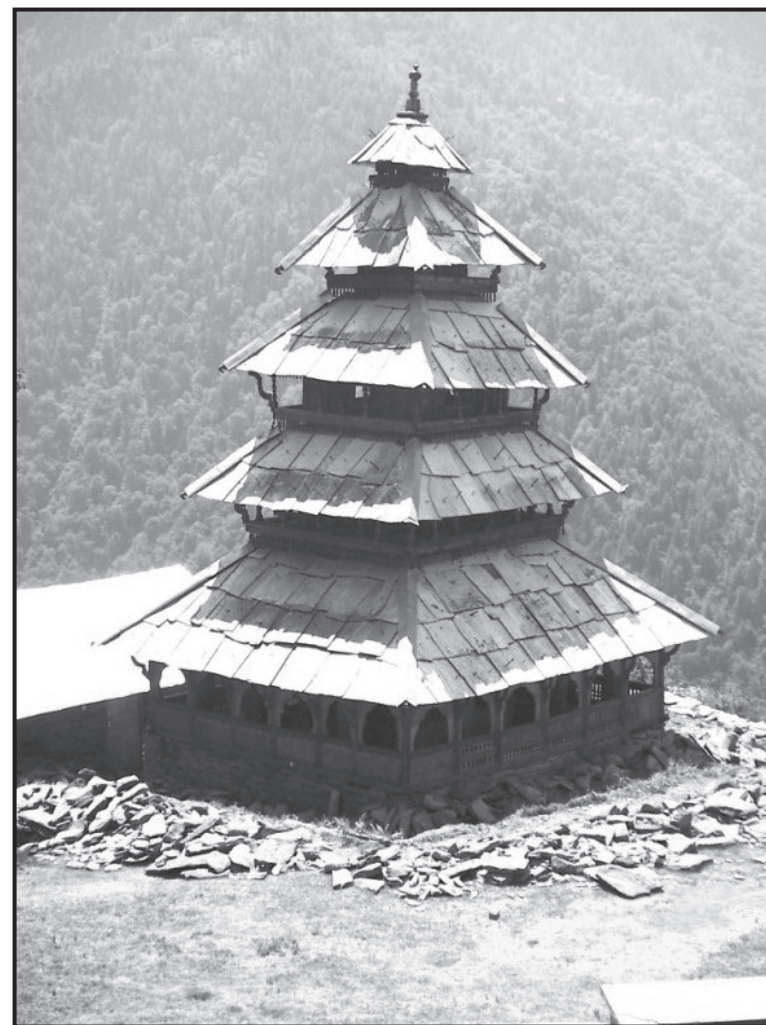
4. ठाकुर, विद्याचन्द, 'मनु महाराज का घर मनाली' (वैवस्वत मन्वन्तर में मानव-सृष्टि तथा समाज-संरचना), पृ. 103

5. ठाकुर, मौलूराम, *वैवस्वत मन्वन्तर में मानव-सृष्टि तथा समाज-संरचना*, पृ. 32





चित्र-क्र० 2 : मनाली ( हिमाचलप्रदेश ) में मनु का प्राचीन मन्दिर  
मन्दिर के मुख्यद्वार पर अंकित है :  
'मनु महाऋषि प्राचीन मन्दिर, पुरानी मनाली  
**MANU TEMPLE**'  
इनसेट में मन्दिर के गर्भगृह में मनु-प्रतिमा

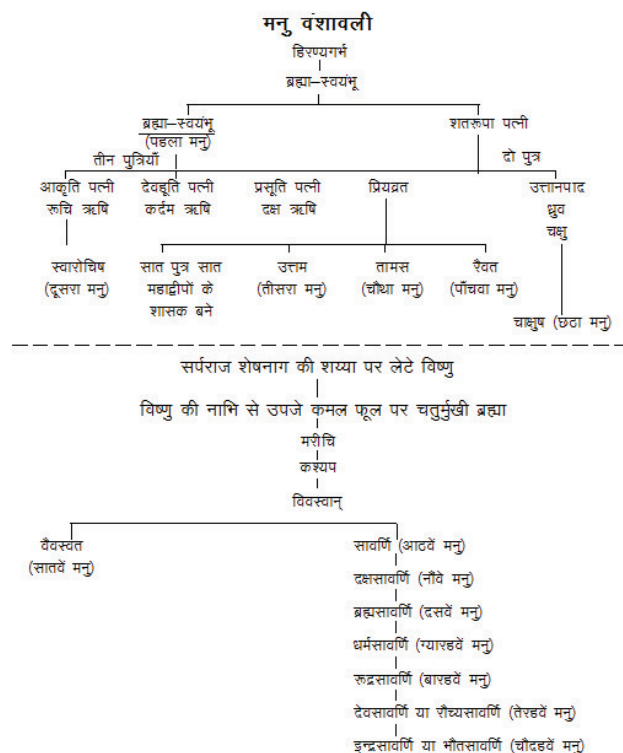


चित्र-क्र० 3 : कुल्लू ( हिमाचलप्रदेश ) के  
धारा देहुरा, सैज घाटी में  
मनु का प्राचीन मन्दिर

आदिपुरुष हैं न कि प्राण या प्रतीकमात्र, क्योंकि मान्यताओं व परम्पराओं में कहीं-न-कहीं मिथक के साथ सत्य भी समाहित होता है। इसी आधार पर यह एक ऐतिहासिक तथ्य है और मनु के आविर्भाव को भी ऐतिहासिक घटना कहा जा सकता है।

## (ब) मनु व मन्वन्तर

भारतीय शास्त्र-परम्परा और लोक-मान्यताओं में मनु का द्वितीय स्वरूप काल का प्रतीक है। सृष्टि व मानव जाति के प्रथम आदि पुरुष, शासक व विधि-निर्माता होने के कारण धर्मग्रन्थों में मनु को एक कालवाची संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। धर्मग्रन्थों में चौदह मनुओं का बार-बार उल्लेख हुआ है। यद्यपि कहीं-कहीं नामांतर दर्शित होता है, तथापि मनु के यह चौदह कालप्रतीक सम्बोधन समानता लिए हुए हैं। भारतीय परम्परा में प्रचलित चौदह मनुओं के नामों को अग्रलिखित मनु वंशतालिका से स्पष्ट किया जा सकता है—<sup>1</sup>



1. ठाकुर, मौलूराम, *वैवस्वत मन्वन्तर में मानव-सृष्टि तथा समाज संरचना*, परिसंवाद, पृ 30

उक्त तालिका से स्वतः ही यह परिलक्षित होता है कि 'मनु' शब्द आदिपुरुष के रूप में युगबोध का परिचायक है। मनु के कालवाची स्वरूप को स्पष्ट करने से पूर्व 'मन्वन्तर' शब्द का अर्थान्वयन आवश्यक है। 'मन्वन्तर' शब्द मनु और अन्तर का सन्धि योग है, जिसका अर्थ है दो मनुओं के बीच का समय। अर्थात् प्रत्येक मनु जिस अवधि तक शासक रहा, वही अवधि उसका मन्वन्तर है। प्रत्येक मन्वन्तर का प्रवर्तक मनु कहलाता है और इसी मनु के नाम पर संबंधित मन्वन्तर का नाम पड़ता है। उक्त मनु-वंशावली में उल्लिखित चौदह मनुओं में से छः मनुओं के काल बीत चुके हैं और इस समय सातवाँ मन्वन्तर (मनु) चल रहा है। भारतीय समाज में कोई भी नवीन कार्य करने से पूर्व संकल्प-पाठ करने की परम्परा वर्तमान में भी विद्यमान है जो कालगणना का परिचायक है। इस संकल्प-पाठ के द्वारा कल्पादि से आज तक भारतीय-कालगणना पूर्णतया संरक्षित रही है जिसके अनुसार इस समय भगवान् ब्रह्मा की आयु के द्वितीय परार्द्ध में 'श्वेतवाराह' नामक कल्प के अंतर्गत वैवस्वत नामक मन्वन्तर के 28वें चतुर्युग के कलियुग का प्रथम चरण चल रहा है। संकल्प-पाठ इस प्रकार है—

‘हरिॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः । ॐ नमः परमात्मने श्रीपुराणपुरुषोत्तमस्य श्रीविष्णोराज्ञया प्रवर्तमानसाद्य श्रीब्रह्मणोद्वितीयपराधे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे...’<sup>1</sup>

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्तमान समय में वैवस्वत मनु का शासन है। *भगवद्गीता* को इस कथन के अभिमत के रूप में लिया जा सकता है। प्रत्येक मन्वन्तर की अवधि या फिर एक मनु का समय बीतने के पश्चात् दूसरे मनु का काल प्रारम्भ होता है और इसी को मन्वन्तर कहा गया है। *मनुस्मृति* में इस कालगणना को गणितीय रूप में पारिभाषित किया गया है।<sup>2</sup> इसी को आधार बनाकर स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883) ने इस कालगणनात्मक संख्या का विश्लेषण किया है। स्वामी दयानन्द ने कालगणना की यह अवधारणा संवत् 1933 अर्थात् सन् 1890 में प्रस्थापित की थी। यह जो वर्तमान सृष्टि है, इसके सातवें मनु अधिपति हैं, इससे पूर्व छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। ये छः मनु स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुस बीत गए हैं और सातवाँ

1. *हेमाद्रिपुराण*

2. *मनुस्मृति*, 1.61-86

वैवस्वत चल रहा है तथा सावर्णि आदि मन्वन्तर आगे आयेंगे। ये सब मिलकर 14 मन्वन्तर होते हैं और 71 चतुर्युगों का नाम 1 मन्वन्तर रखा गया है। ऐसे में 14 मन्वन्तर एक ब्राह्मदिन होता है और इतना ही परिमाण ब्राह्मरात्रि का भी होता है। यह गणना इस प्रकार से है कि 17,28,000 (सत्रह लाख अट्ठाइस हजार) वर्षों का नाम सत्ययुग है। 12,96,000 (बारह लाख छियानबे हजार) वर्षों का नाम त्रेता है। इसके अन्यत्र क्रमशः द्वापर व कलियुग है जिसका समय क्रमशः 8,64,000 (आठ लाख चौंसठ हजार) वर्ष और 4,32,000 (चार लाख बत्तीस हजार) वर्ष है।<sup>1</sup> वस्तुतः भारतीय चिन्तकों व मनीषियों द्वारा प्रतिपादित कालगणना का यह सिद्धान्त मूलतः ज्योतिषीय व नक्षत्रीय गणना पर आधारित है किन्तु आधारिक रूप में यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है। ध्यातव्य है कि प्राचीन चिन्तकों ने समय व कालावधि की जो सूक्ष्म गणना की है, उसे क्षण, निमिष और वर्ष कहा गया है। इन चार युगों की जो 43,20,000 वर्ष की कालावधि है, उसे 'चतुर्युगी' संज्ञा से अभिहित किया गया है। 71 चतुर्युगों के काल को 'मन्वन्तर' कहा जाता है जिसकी अवधि 30,67,20,000 वर्ष (तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्ष) होती है। भारतीय कालगणना के अनुसार अभी तक छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। वर्तमान समय मनु वैवस्वत का है जिसमें कलियुग के 5,114 वर्ष भोगे जा चुके हैं और अभी 4,26,886 वर्षों का उपभोग किया जाना शेष है।

इस प्रकार विश्लेषणात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि मनु अपने मन्वन्तरिक काल का प्रतिनिधि पुरुष होता है और भारतीय परम्परा में उसे ही युगविशेष के प्रथम शासक के रूप में मान्यता प्राप्त है। वस्तुतः भारतीय चिन्तकों व मनीषियों ने बहुत ही व्यवस्थित ढंग से सृष्टिक्रम तथा मन्वन्तरों की व्याख्या की है। यह कहना युक्तिसंगत होगा कि कालगणना की सूक्ष्मता तथा व्यापकता को आत्मसात करना और उसका वैज्ञानिक कसौटी पर परीक्षण निःसन्देह कठिन कार्य है। इसीलिए भारतीय धर्मग्रन्थों में निहित कालक्रम को पाश्चात्य विद्वान् स्पष्टतः हल नहीं कर सके और कालगणना की यह पद्धति उन्हें मिथक प्रतीत हुई। ब्रिटिश काल में जिन इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास का अध्ययन व लेखन किया, वे भारतीय संस्कृति व मान्यताओं से अनभिज्ञ थे और साथ ही इतिहास-लेखन के पीछे छिपी उनकी साम्राज्यवादी मंशा को भी नकारा नहीं जा सकता। इसलिए इतिहास को मात्र साकार घटनाक्रम समझकर उसकी खण्डित

1. भारतीय कालगणना, पृ. 46

व्याख्या भारतीयों के समक्ष प्रस्तुत की गयी।

प्राचीन ग्रन्थों व जनश्रुतियों, परम्पराओं, मान्यताओं के ये उद्धरण इस ओर संकेत करते हैं कि मनु एक व्यक्ति के रूप में आदिपुरुष थे, जिन्होंने अपनी बुद्धि, ज्ञान और विवेक से मनीषा प्राप्त करके चिन्तक के रूप में मान्यता प्राप्त कर ली, तदनुरूप अपने वैचारिक व्यक्तित्व से ऐतिहासिकता को प्राप्त हो गये। प्रकारान्तर में युगानुरूप संकलित उनके वैचारिक अभिधान को *मानवधर्मशास्त्र* या *मनुस्मृति* नाम मिला।

### 3.3 आधुनिक अवधारणा में मनु व मनुस्मृति

वर्तमान *मनुस्मृति* पर विचार करने से पूर्व इस ऐतिहासिक विचारणा को ध्यान में रखना होगा कि स्मृतियों की विषयवस्तु कालसापेक्ष है। इसलिए युगविशेष में बदलती सामाजिक परिस्थितियों के कारण स्मृतियों में वर्णित मूल नियम-विधानों को समयानुरूप संशोधन-परिवर्द्धन के साथ चिन्तकों-मनीषियों द्वारा स्वीकार कर लिया गया। यही कारण है कि इन स्मृतियों में यत्र-तत्र क्षेपक व प्रक्षेपक पाए जाते हैं। यही बात *मनुस्मृति* के विषय में भी उचित जान पड़ती है।

वर्तमान *मनुस्मृति* या *मानवधर्मशास्त्र* 12 अध्यायों में 2,685 (दो हजार छः सौ पिचासी) श्लोकों में आवृत्त है। *मनुस्मृति* के अंतरंग साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि मनु की उत्पत्ति विराट् पुरुष से हुई मानी जाती है। ब्रह्मा से दस ऋषियों—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, भृगु, वसिष्ठ और नारद की उत्पत्ति हुई और मनु ने इन दस ऋषियों को ब्रह्मा से प्राप्त ज्ञान की शिक्षा दी।<sup>1</sup> *मनुस्मृति* में अन्यत्र यह वर्णन मिलता है कि महात्मा मनु से कुछ ऋषियों ने यह जिज्ञासा व्यक्त की कि वह उन्हें वर्णधर्म के विषय में ज्ञान प्रदत्त करें, किन्तु कुछ समय तक धर्म का निरूपण करने के पश्चात् महात्मा मनु अपने मनीषी शिष्य भृगु को शास्त्र ज्ञान के लिये निर्देशित करके प्रस्थान कर जाते हैं।<sup>2</sup> वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान *मनुस्मृति* का संस्करण मानव चरण के भृगुवंशी आचार्यों ने किया होगा। इसके पक्ष में एक प्रमाण यह है कि *मनुस्मृति* और *महाभारत* में गहरी समानता है। बुहलर (Professor Johann Georg Bühler : 1837-1898) ने *महाभारत* के शान्तिपर्व, अनुशासनपर्व और वनपर्व

1. *मनुस्मृति*, 1.34-35

2. वही, 1.12, 62



के साथ *मनुस्मृति* की तुलना करके यह स्पष्ट किया है कि इन दोनों ग्रन्थों के लगभग 250 श्लोकों में समानता पाई जाती है और यह संख्या उपलब्ध *मनुस्मृति* का दसवाँ भाग है।<sup>1</sup> भाण्डारकर प्राच्यविद्या शोध-संस्थान, पुणे के पूर्व अध्यक्ष डॉ. विष्णु एस. सुकथंकर ने अपने 'भृगु' शीर्षक लेख में बहुत खोज और विद्वत्ता के साथ, जिसका समर्थन डॉ. कीथ ने भी किया है, *महाभारत* का वर्तमान संस्करण भार्गववंशी ब्राह्मणों के द्वारा तैयार किया गया था। प्रतीत होता है कि भार्गववंशी ब्राह्मणों ने ही इन दोनों ग्रन्थों में समान श्लोकों को समाहित किया किन्तु निश्चित हेतु के अभाव में यह कह पाना सम्भव नहीं है कि किस ग्रन्थ में किसका, कितना समायोजन किया गया है।

*मनुस्मृति* व *महाभारत* की श्लोकीय समानता से यह प्रश्न सदैव जिज्ञासा का विषय रहा है कि *मनुस्मृति* का पूर्व-रूप क्या रहा होगा? अधिकांश विद्वानों का अभिमत है कि इस ग्रन्थ का प्राचीन नाम *मानवधर्मसूत्र* था, जिसमें प्रातिशाख्यों की तरह श्लोक और सूत्र— दोनों अंतर्निहित थे। कालविशेष में इस *मानवधर्मसूत्र* का संबंध *कृष्णयजुर्वेद* की मैत्रायणीय शाखा से था और इसी शाखा के अंतर्गत मानवों का एक चरण था। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल (1904-1966) का मत है कि प्राचीन परिभाषा में चारण वैदिक परिषद् या आचार्य विशेष के चारों और पनपनेवाले विद्या संस्थान को कहते थे।<sup>2</sup> मानव आचार्यों के चारण में जिस आचार्य विशेष के चारों और धर्मसूत्र की रचना हुई, उसी के आधार पर वर्तमान *मनुस्मृति* का अधिकांश भाग बना मालूम होता है।<sup>3</sup> *तैत्तिरीयसंहिता*, *मैत्रायणीयसंहिता* व *काठकसंहिता* में समान रूप से वर्णन आया है कि मनु का जो वचन है वह 'सब ओषधियों की ओषधि' है। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि मनु द्वारा व्यक्ति, समाज को नियम-विधानों (ओषधि) से शासित करनेवाली नीति ही नीतियों में परम नीति है। *मनुस्मृति* की महत्ता इस कथन से ज्ञात होती है कि मानव-समुदाय के विधि-निषेधपरक कर्तव्यावबोधन से संबंधित *मनुस्मृति* को स्मृतियों में प्राचीनतम और सर्वप्रामाणिक होने का गौरव प्राप्त है। बाद की प्रायः सभी स्मृतियाँ— याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, विष्णु, नारदादि

इसके मंतव्यों का ससम्मान उल्लेख करती हैं और उन सभी पर इसका प्रभाव है।<sup>1</sup> *बृहस्पतिस्मृति* में तो इसके 160 श्लोकों का संकलन है और सम्भवतः कतिपय विद्वानों ने इसे 'मनुस्मृति का वार्तिक' कहकर सम्बोधित किया है।<sup>2</sup>

पूर्वल्लिखित वैदिक उद्धरणों को आधार बनाकर विद्वानों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि ऐतिहासिक मनु जब एक चिन्तक-मनीषी के रूप में मान्यता प्राप्त कर गये तो सामाजिक नियमन-संयमन के लिए मनु द्वारा प्रतिपादित विधि-विधानों का संकलन किया गया। *मनुस्मृति* में मनु की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है किन्तु इतिहास की विषयवस्तु के रूप में किसी भी दैवीय सिद्धान्त को प्रमाण के रूप में ग्राह्य नहीं किया जा सकता है, लेकिन इतिहास के एक विशेष आयाम के रूप में उसे अस्वीकृत भी नहीं किया जा सकता। *मनुस्मृति* का स्रोत कोई जरायुध मरणधर्मा व्यक्ति नहीं है। *शतपथब्राह्मण* में 'प्राणा वा ऋषया' की युक्ति में सृष्टि के कारण प्राण को ऋषि कहा गया है और यह मनु भी वही ऋषि प्राण है जो एक सम्पूर्ण मन्वन्तर में विकसित और प्रवाहित प्राण का मूल केन्द्र है जिसका स्वरूप दैहिक न होकर एक सुनिश्चित प्राण-परम्परा है। इसलिए मनु और *मनुस्मृति* का वर्तमान स्वरूप किसी एक समय का न होकर शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों का प्रतिनिधित्व करता है जिसे किसी एक व्यक्ति की विचारणा या रचना कहना उचित प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार *मनुस्मृति* का वर्तमान स्वरूप मनु की रचना न होकर उनके द्वारा प्रतिपादित नियम एवं सिद्धान्तों के आवश्यक मंतव्यों का संकलन है। मनु द्वारा प्रतिपादित इन नियम-विधानों में समयानुरूप बदलते समाज के परिवेशानुरूप उनमें आवश्यक संशोधन-परिवर्द्धन किए गये। इसके अतिरिक्त उन विधानों को, जो थे तो वस्तुतः मनु-वचन, किन्तु बदलते समय और समाज के लिए अनुपयोगी हो जाने के कारण उन्हें *मनुस्मृति* में स्थान नहीं दिया गया।<sup>3</sup> यही कारण है कि यत्र-तत्र मनु-वचन के रूप में उद्धृत मान्यताओं का *मनुस्मृति* में उल्लेख नहीं है किन्तु उसमें नवीन नियमों व उपनियमों का समावेश दिखाई देता है।

1. 'The laws of Manu' translated ('The Sacred Books of the East', Vol. XXV, 1886), p.54
2. कला और संस्कृति, पृ. 55
3. वही, पृ. 55

1. स्वर्णकार, अनिता, धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण : मनु व याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, पृ. 26
2. The Cultural heritage of India, Vol. 2, p. 336-337
3. स्वर्णकार, अनिता, धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक-विश्लेषण : मनु व याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, पृ. 26

## (अ) मनुस्मृतिका संकलन-काल

प्रारम्भ से ही मनुस्मृति का देश-काल निर्धारण भी विद्वानों के लिए समस्या का विषय रहा है। मनुस्मृति के काल-निर्धारण को लेकर विद्वानों में मतान्तर है। यद्यपि विद्वानों ने समय-विशेष में मनुस्मृति में प्रयुक्त हुए अंतरंग व बाह्य साक्ष्यों के आधार पर विधि के इस अद्वितीय ग्रन्थ के काल को निर्धारित करने का सार्थक प्रयास किया है। वर्तमान में भी अधिकांशः विद्वान् पाश्चात्य इतिहासकार प्रो. बुहलर द्वारा निर्धारित मनुस्मृति के तिथिक्रम— 200 ई पू से 100 ई पू को मान्यता प्रदान करते हैं, लेकिन इस प्रकार का पूर्वाभिमत नूतन अनुसन्धानों के प्रकाश में तथ्यहीन ज्ञात होता है। वर्तमान में हो रहे पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान, भूगोल, ज्योतिष, तिथिक्रम (क्रोनोलॉजी)-संबंधी अनेक नूतन अनुसन्धानों ने भारतीय इतिहास-संबंधी अनेक भ्रांत अवधारणाओं का पटाक्षेप कर दिया है। डॉ. सुरेन्द्र कुमार का मत है कि 'परम्परागत सम्पूर्ण वैदिक एवं लौकिक भारतीय साहित्य मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र को मूलतः मनु स्वायम्भुव द्वारा रचित मानता है और मनु का काल वर्तमान मानव-सृष्टि का आदिकाल माना जाता है। इस प्रकार आदिकालीन स्वायम्भुव मनु की रचना होने से मनुस्मृति का काल भी वेदों के बाद वर्तमान मानव-सृष्टि का आदिकाल है।'

मनुस्मृति में जिस भौगोलिक क्षेत्र का वर्णन हुआ है, उससे इस ग्रन्थ के प्रचलन व प्रभाव-क्षेत्र का आभास होता है। मनुस्मृति में सरस्वती तथा द्वषद्वती नाम की देवनादियों के मध्य के क्षेत्र को 'ब्रह्मवर्त' कहा गया है। इसके अन्यत्र कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाल, और शूरसेन को 'ब्रह्मर्षि' क्षेत्र के रूप में प्रदर्शित किया गया है। हिमाचल और विंध्याचल के मध्य, कुरुक्षेत्र के पूर्व तथा प्रयाग के पश्चिम के क्षेत्र को 'मध्यदेश' कहा गया है। पूर्व तथा पश्चिम समुद्र और इन्हीं दो पर्वतों के मध्य में स्थित क्षेत्र को 'आर्यावर्त' के नाम से सम्बोधित किया गया है, कृष्ण मृग के विचरण करने के कारण इस क्षेत्र को याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिए विशेष महत्ता प्रदान की गई है।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र शेष सभी क्षेत्रों को शूद्र-निवासित होने के कारण त्याज्य बताया गया है। प्रतीत होता है कि यह त्याज्य क्षेत्र मलेच्छ या बौद्ध व जैन-सम्प्रदाय के प्रभाव-क्षेत्र में रहे होंगे। मनुस्मृति में वैदिक सरस्वती नदी का

वर्णन आया है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व में प्रचलित मनुस्मृति का इस वैदिक नदी से अवश्य संबंध रहा होगा। मनुस्मृति में जिन भौगोलिक क्षेत्रों का वर्णन आया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि निश्चित ही इस ग्रन्थ के संकलनकर्ता को सीमान्तर देशों का ज्ञान रहा होगा। मनुस्मृति में पौण्ड्रक, चौड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पहलव, चीन, किरात, शकादि अन्य जातियों का उल्लेख भी आया है जो क्षत्रिय होते हुए भी अपने शूद्रक क्रियाकलापों के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हो गई थीं।<sup>2</sup> इन सभी जातियों को 'दस्यु' की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। यह भी सम्भव है कि इस सम्बोधन के पीछे इन जातियों का विदेशी मूल का होना था। अशोक के पाँचवें शिलालेख में यवन और कम्बोज का उल्लेख हुआ है। इसी आधार पर बुहलर इन शब्दों की मनुस्मृति के साथ समता स्थापित करते हुए इस ग्रन्थ की उत्तरकालीन तिथि द्वितीय शताब्दी स्वीकार करते हैं।<sup>3</sup> इसके विपरीत विद्वानों के एक वर्ग की यह मान्यता है कि मनुस्मृति की रचना से पूर्व भारतवासियों का उक्त जातियों से परिचय हो चुका था। इसलिए वे मनुस्मृति के वर्तमान स्वरूप को मौर्यकाल से पूर्व का संकलन मानते हैं। लेकिन डॉ. सुरेन्द्र कुमार का मत है कि भारतीयों का यवनों से सम्पर्क मौर्यकाल से बहुत पूर्व हो चुका था, क्योंकि महाभारत में जहाँ सम्राट् युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ का वर्णन आया है और इसके अन्यत्र जहाँ कौरव-पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है, उन प्रकरणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कितने विदेशी राजा उक्त समय पर भारत आए थे। वहाँ स्पष्ट लिखा कि विडालाक्ष नामक यवन राजा भारत आए थे।<sup>4</sup> महाभारत के अनेक स्थलों पर यवन, काम्बोज व शक जाति का उल्लेख हुआ है।<sup>5</sup> इसलिए इन जातीय समूहों के आधार पर यह कहना इतिहाससम्मत नहीं होगा कि मनुस्मृति, महाभारत के पश्चात् अथवा 200 ई पू की रचना है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि वर्तमान के शोधकार्यों के परिणामस्वरूप ऋग्वेद की तिथि और महाभारत-युद्ध की तिथि का भी निर्धारण हो चुका है। इससे भारतीय धर्मग्रन्थों के तिथि-निर्धारण में उल्लेखनीय सफलता मिली है। महाभारत के कतिपय स्थलों पर मनुस्मृति के

1. महर्षि मनु बनाम अम्बेडकर, पृ 27

2. मनुस्मृति, 2.17-24

1. मनुस्मृति, 10.44

2. 'The laws of Manu' तुलनीय काणे, पृ वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ 46

3. महर्षि मनु बनाम अम्बेडकर, पृ 112

4. महाभारत, अनुशासनपर्व, 33.21; शान्तिपर्व, 65.13; अनुशासनपर्व, 35.18



अनेक श्लोकों को स्वायम्भुव मनु के नाम से उद्धृत किया गया है।<sup>1</sup> इन स्थलों पर उन श्लोकों को 'मनुप्रोक्त' कहकर उद्धृत किया गया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि *मनुस्मृति*, *महाभारत* से पूर्व की रचना है। प्राचीन भारत में 'यवन' शब्द का उपयोग सर्वमान्य रूप से यूनानियों के लिए हुआ है। *अष्टाध्यायी*, जो *मनुस्मृति* के बाद की रचना है, में भी यवन व कम्बोज जातियों का उल्लेख हुआ है, किन्तु पहलव जाति का उल्लेख नहीं हुआ है।<sup>2</sup> पतञ्जलि के *महाभाष्य*, जो *अष्टाध्यायी* पर लिखी गई टीका है, में 'शकायवन' नाम से शक और यवन— दोनों का संयुक्त रूप से उल्लेख मिलता है।<sup>3</sup> प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक भारत में शक संवत् को मान्यता प्राप्त है। 94 ई पू से 22 तक इतिहास में प्रथम शक राजा मौस का शासन रहा है।<sup>4</sup> बुहलर ने अन्यत्र अपना एक और अभिमत देते हुए स्पष्ट किया है कि *मनुस्मृति* के अनन्तर के ग्रन्थों में इस ग्रन्थ के उद्धरणों के बाहुल्य प्रयोग को प्रमाण मानते हुए इसे याज्ञवल्क्य से बहुत पूर्व की रचना मानना होगा।<sup>5</sup> यहाँ बुहलर के दोनों प्रमाणों में विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। इसलिए उनका तिथि-निर्धारण का यह मत स्पष्ट रूप से ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। इन साक्ष्यों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि *मनुस्मृति* के वर्तमान स्वरूप का संकलन प्रथम शताब्दी ई पू से बहुत पहले हो चुका था।

कतिपय विद्वानों ने मुद्राशास्त्र का साक्ष्य के रूप में प्रयोग करते हुए *मनुस्मृति* का तिथि-निर्धारण करने का प्रयास किया है। इन विद्वानों का मत है कि *मनुस्मृति* में दण्ड के रूप में सुवर्ण तथा माषक के अधिरोपण का विधान किया गया है।<sup>6</sup> ध्यातव्य है कि *मनुस्मृति* में दण्ड के लिए 'धन' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।<sup>7</sup> इस कथन को साक्ष्य के रूप में ग्रहण करने पर स्पष्ट होता है कि इस कालविशेष में 'माषक' व 'सुवर्ण' शब्द मुद्रा के लिए ही प्रयुक्त किए जाते थे। *मनुस्मृति* के पश्चात्पूर्वी ग्रन्थों में भी 'माषक' शब्द का उपयोग मुद्रा के लिए

1. *महाभारत*, वनपर्व, 130. 30,75
2. *अष्टाध्यायी*, 4.1.49; 4.1.275
3. *महाभाष्य*, 2.4.10
4. *The Law Code of Manu*, A new translation by Patrick Olivelle, Published by Oxford University Press, New Delhi
5. बुहलर, तुलनीय काणे, पी वी, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 1, पृ 47
6. *मनुस्मृति*, 8.213, 361, 393
7. *वही*, 8.129

किया गया है।<sup>1</sup> विद्वानों का मत है कि भारत में स्वर्ण-मुद्रा का प्रचलन कुषाण-शासक कदफिसस के शासनकाल में प्रारम्भ हुआ।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र इन विद्वानों के द्वारा यह मत भी प्रस्तुत किया जाता है कि कुषाण-शासक कदफिसस द्वितीय के काल में महत्वपूर्ण मुद्रा-सुधार हुआ तथा रोमन-मुद्रा के समान मूल्य की स्वर्ण-मुद्राओं का प्रचलन प्रारम्भ हुआ।<sup>3</sup> ज्ञातव्य है कि भारतीय इतिहास में कुषाण-वंश का काल प्रथम शताब्दी ई पू निर्धारित किया गया है। *मनुस्मृति* के काल-निर्धारण के लिए यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में विनिमय के लिए स्वर्ण-मुद्राओं के उपयोग से संबंधित जानकारी मिलती है। इसके ठोस प्रमाण के रूप में अर्थशास्त्र के इस कथन को लिया जा सकता है कि कोषाध्यक्ष या मुद्रा के पारखी व्यक्तियों के द्वारा स्वर्ण-मुद्रा का संग्रह किया जाना चाहिए तथा इन मुद्राओं में जो स्वर्ण न हो, उसका छेदन करना चाहिए जिससे उसका पुनः उपयोग न किया जा सके।<sup>4</sup> दिनेश चन्द्र सरकार का मत है कि भारत में आहत तथा टंकित मुद्रा का प्रचलन चतुर्थ शताब्दी ई पू होता था।<sup>5</sup> उत्खनन से प्राप्त मौर्यकालीन मुद्राओं को 'कर्ष' या 'कर्षापण' (रजत और ताम्र), 'कार्काण' (ताम्र) व 'सुवर्ण' कहा गया है। उपर्युक्त साक्ष्यों को ग्राह्य करते हुए डॉ रामगोपाल चतुर्वेदी ने चतुर्थ शताब्दी ई पू को *मनुस्मृति* के संकलन की उच्चतम सीमा के रूप में निरूपित किया है जो अनुकूल भी लगता है।<sup>6</sup>

यूरोपीय विद्वान् एलफिंस्टन (Mountstuart Elphinstone : 1779-1859) ने *मनुस्मृति* में वर्णित सामाजिक परिदृश्य को केन्द्र में रखकर स्पष्ट किया है कि सामाजिक दशा के स्वरूप का प्रथम चित्रांकन जिस मनु के धर्मशास्त्र से ज्ञात होता है और वह ग्रन्थ निश्चित ही नवम शताब्दी ई पू में निर्मित हुआ था।<sup>7</sup> इसके अलावा इतिहासज्ञ डॉ हंटर (Sir William Wilson Hunter : 1840-1900) ने *मनुस्मृति* को संकलित ग्रन्थ मानते हुए उसमें संकलित नियम-विधानों के प्रचलन के आधार पर पाँचवीं शताब्दी ई पू का समय

1. *अर्थशास्त्र*, द्वितीय अधिकरण, अृ 34; प्रकरण 51.52
2. *Study in Indian coins*, p.129
3. सरकार, दिनेश चन्द्र, *भारत का इतिहास*, पृ 84-85, टिप्पणी 33
4. *अर्थशास्त्र*, द्वितीय अधिकरण, अृ 5 प्रकरण 21
5. सरकार, दिनेश चन्द्र, *भारत का इतिहास*, पृ 114 पाद-टिप्पणी 33
6. चतुर्वेदी, रामगोपाल, *मनु की विधि-संहिता*, पृ 25
7. *History of India*, p.11-12

मनुस्मृति के लिए निर्धारित किया है, लेकिन वह वर्तमान में उपलब्ध विधिक संहिता के लिये सौ से पाँच सौ ई के मध्य की समय सीमा को मान्यता प्रदान करते हैं।<sup>1</sup> सर विलियम जोन्स (Sir William Jones : 1746-1794) का अभिमत भी कुछ इसी प्रकार का है कि मनु का राजनियम अधिक सम्भव है कि सोलन तथा लाइकरगास के राजनियमों से भी अधिक पुरातन हो, यद्यपि लेखबद्ध होने से पूर्व मनु के राजनियम प्रचलित हो जब मिस्र तथा भारत में प्रथम राज्य स्थापित हुए हों।<sup>2</sup>

इसके अलावा कुछ अन्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति के काल-निर्धारण के लिए अपने मत प्रस्तुत किए हैं, जिनका उल्लेख करना समीचीन होगा। कृ. एल्ट दफ्तरी ने स्वयम्भुव मनु का काल 2670 ई पू माना है।<sup>3</sup> श्री व्यं. गु. काले ने पुराणों के आधार पर मनु का काल 3102 ई पू निर्धारित किया है।<sup>4</sup> यास्क द्वारा मनुस्मृति का उल्लेख किए जाने के आधार पर ठाकुर महोदय ने इसकी प्राचीनतम सीमा को लगभग 1000 ई पू माना है।<sup>5</sup> काशी प्रसाद जायसवाल ने मनुस्मृति एवं उस काल के राजवंशों को समय की परिस्थिति से प्रभावित माना है।<sup>6</sup> उन्होंने अपने मत के लिए सशक्त प्रमाण प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से

‘सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदहति ॥”

का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इसमें उन्होंने बृहद्रथ को मारकर सेनापति पुष्यमित्र शुंग द्वारा राजा बन बैठने के अवसर की छवि को देखने की चेष्टा की है जो तर्कसम्मत दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि मनुस्मृति का संकलन बौद्ध व जैन-सम्प्रदाय के कारण धूमिल होती सनातन धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के उद्देश्य से किया गया था। इसीलिए वेदशास्त्र-विरोधियों तथा

पाखण्डियों के राज्य-निष्कासन के नियम की पृष्ठभूमि में जैन एवं बौद्ध-सम्प्रदाय से संबंधित अनुयायियों को देखा गया है और इसे उचित भी कहा जा सकता है।<sup>7</sup> इस प्रकार के मत पूर्ण रूप से भले ही सत्य न हों, परन्तु चतुर्थ शताब्दी ई पू से प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई तक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मनुस्मृति में प्रतिबिम्बित है। अतः इसके वर्तमान स्वरूप की अधिकतम समय-सीमा को स्वीकृत किया जा सकता है लेकिन इसे किसी भी रूप में प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई पू के बाद नहीं रखा जा सकता। मनुस्मृति को इसी कालावधि का संशोधित-परिवर्धित रूप मानना अधिक उपयुक्त होगा।

वर्तमान में चल रहे नूतन अनुसन्धानों के प्रकाश में कुछ नवीन तथ्य प्रकाश में आए हैं, जिनसे मनुस्मृति के रचनाकाल को लेकर एक इतिहाससम्मत निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। मनुस्मृति में सरस्वती के जिस स्वरूप का वर्णन आया है, वह एक प्रवाहमान नदी के अस्तित्व में होने की ओर संकेत करता है और मनु प्रायश्चित्त के लिए सरस्वती के प्रवाह-मार्ग के गमन का परामर्श देते दृष्टिगोचर होते हैं।<sup>8</sup> नवीन पुरातात्विक खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि महाभारत के युद्ध के समय लगभग 5,152 वर्ष पूर्व सरस्वती सूखने लगी थी।<sup>9</sup> इस मत के प्रमाण के रूप में महाभारत के उस श्लोक को लिया जा सकता है जिसमें बलराम सरस्वती-गमन के दौरान इस प्रवाहमान नदी के सूखने का उल्लेख करते हैं।<sup>10</sup> अखिल भारतीय इतिहास-संकलन-योजना व समानान्तर की विश्वस्तरीय संस्थाओं के अथक प्रयासों से निर्विवाद रूप से यह सिद्ध हो चुका है कि महाभारत-युद्ध 5,152 वर्ष पूर्व हुआ था। इसके अन्यत्र महाभारत के कतिपय स्थलों पर मनु व मनुस्मृति के प्रभावों की पुष्टि हो चुकी है। इन प्रमाणों से यही सम्भावना बलवती होती दिखाई देती है कि महाभारतकालीन सामाजिक संरचना में मनुस्मृति के विधानों को मान्यता प्राप्त थी अथवा उस कालविशेष में मनुस्मृति प्रचलन में थी। इस प्रकार यहाँ मनुस्मृति के प्रचलन में होने की तिथि को 3139-38 ई पू में रखा जा सकता है। यद्यपि यह तथ्य भी विचारणीय है कि

1. *The Indian Empire : Its People, History, and Products*, p.11-12

2. *Institutes of Hindu law*, 1796, preface, p.10

3. दफ्तरी, कृ. एल्ट, *रामचन्द्र-कालनिर्णय*, पृ. 55

4. *पुराण-निरीक्षण*, मराठी-ग्रन्थ संग्रहालय, थाणे, 1953, पृ. 315

5. ठाकुर, लक्ष्मीदत्त, *प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन*, पृ. 30-31

6. *Manu and Yajnavalkya : A Comparison and a Contrast: a Treatise on Basic Hindu Law*, 1930, Introduction, p. 27, 42-43

7. मनुस्मृति, 12.100

1. मनुस्मृति, 9.224

2. वही, 10.71

3. महाभारत, सभापर्व, 80.118-तुलनीय देवेन्द्र सिंह चौहान, *पुण्यसलिला सरस्वती नदी : भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की सृजन-स्थली*, पृ. 40-42

4. महाभारत, 9.36.1, 3.130.4 तुलनीय वही

स्मृतियों की विषय-वस्तु कालसापेक्ष है और इसलिए उनमें होनेवाले युगानुरूप संशोधन-परिवर्द्धन को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, तथापि इससे यही सम्भावना फलीभूत होती है कि *मनुस्मृति* के वर्तमान संस्करण का संकलन चतुर्थ से प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई पू के मध्य हुआ होगा। डॉ. शिवाजी सिंह ने *मनुस्मृति* के संकलनकाल के पक्ष में अपना सशक्त मत प्रस्तुत करते हुए उक्त तिथि की ग्राह्यता पर बल दिया है।<sup>1</sup> मत-पुष्टि व भाव-सम्बलन के अनेक प्रयासों के पश्चात् भी वस्तुतः ऐसे ग्रन्थों का समय निर्धारित करनेवाले विद्वानों के मतों में विविधता है। इसका मूल कारण यह है कि इतिहास की विषय-वस्तु के रूप में किसी भी ऐतिहासिक घटना या तथ्य की गवेषणा अन्तिम सत्य नहीं होती और ऐतिहासिक व्याख्याएँ नवीन शोधों से प्राप्त साक्ष्यों व तथ्यों के आलोक में परिवर्तित होती रहती हैं। फिर भी विविधताओं के आलोक में *मनुस्मृति* के लिए लगभग चतुर्थ से प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई पू तक का समय देना उचित प्रतीत होता है।

## (ब) *मनुस्मृति* की विषयवस्तु

प्राचीन भारतीय परम्परा में *मनुस्मृति* को सर्वप्रथम विधिक ग्रन्थ की उपमा से अभिहित किया गया है। जनश्रुतियों और मान्यताओं का अनुसरण करने से स्वतः ही ज्ञात होता है कि वर्तमान *मनुस्मृति* पूर्व *मानवधर्मशास्त्र* का ही संक्षिप्त संशोधित-परिवर्धित रूप है। प्राचीन मान्यता है कि प्रारम्भ में यह *मानवधर्मशास्त्र* एक लाख श्लोकों के रूप में आवृत्त था और मनु ने नारद को यह ग्रन्थ ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए प्रदत्त किया था किन्तु वर्तमान में यह ग्रन्थ 12 अध्यायों व 2,685 श्लोकों के रूप में समायोजित है। *मनुस्मृति* का वर्तमान संस्करण चतुर्थ से प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई पू में संकलित किया गया आभासित होता है। निःसन्देह युगानुरूप परिवर्तित होते समाज, समाजिक विकास और रुढ़ होती परम्पराओं के चलते इसमें संशोधन-परिवर्तन किया गया। व्यक्ति, समाज व उसके घटक तत्त्वों के नियमन-संयमन के लिए निर्मित विधानों का ही इस विधिक ग्रन्थ में वर्णन है। इसलिए कालान्तर से प्रकारान्तर तक जनसामान्य के संवर्धन के लिए जिन प्रशस्त और उदार नियमों की आवश्यकता होती है, उनमें मनु व

*मनुस्मृति* का नाम इस सनातन संस्कृति के अनुयायियों के लिए एक अनुशासन का प्रेरक प्रतीक बन गया है। *मनुस्मृति* में वर्णित आन्तरिक साक्ष्यों और उसके तदनुरूप बाह्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ के वर्तमान स्वरूप का संकलन उन विषम परिस्थितियों के उन्मूलनार्थ हुआ जो सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उपजी थी। यह वह काल था जिसमें सामाजिक व्यवस्थाओं की परिणति अव्यवस्थाओं के रूप में हो रही थी। बौद्ध और जैन-सम्प्रदाय के अवैदिक गृहस्थ-त्यागी चिन्तन के फलस्वरूप वैदिक तत्त्व-दर्शन, परम्पराओं के प्रति अनास्था या विद्रोह हो चुका था। इन्हीं विषम परिस्थितियों के उन्मूलन के लिए वैदिक नियम-विधानों की *मनुस्मृति* के रूप में पुनर्व्याख्या की गयी।

*मनुस्मृति* में उल्लिखित विधि-विधान के आशय को समझने के लिए मनु द्वारा आख्यायित धर्म की सांगोपांग गवेषणा करना अपरिहार्य होगा। धर्म ही मुख्यतः इस विधि-ग्रन्थ की विषयानुक्रमणी का मूलाधार है। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से 'धर्म' शब्द को गवेषित करना कठिन कार्य है। भारतीय दर्शन में धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक न होकर आचरण की संहिता का पर्याय है। यहाँ धर्म का उद्देश्य ऐसे आचारवान्, संस्कारित, अनुशासित व्यक्ति का निर्माण करना है जिससे वह नैतिक मूल्यों का अनुपालन करके आदर्श समाज और राष्ट्र की संकल्पना को साकार कर सके। वस्तुतः मनु के धर्म का प्रेरक तत्त्व वैदिक दर्शन पर ही आधारित है। मनु ने स्वयं वेद तथा स्मृतियों पर आधारित धर्म के अनुसरण का आग्रह किया है।<sup>1</sup> *मनुस्मृति* में धर्म एक ऐसे बृहत् निकाय के रूप में वर्णित है जिसमें व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त नियम-विधानों से आवद्ध किया गया है। यहाँ धर्म व्यक्ति के आचारमूलक कर्मों व विधिक संहिता का पर्याय है। मनु का धर्म, वैदिक कर्मयोग का प्रतिपालक है जो दृढ़ संकल्प, व्रत, तप, नैतिकता व संकल्प पर आधारित है। धर्म का यह स्वरूप उस वर्ग का पथ-प्रदर्शन नहीं करता जिन्हें संसार से विरक्ति हो। *मनुस्मृति* में उल्लेख हुआ है—

‘ऋणानि त्रिऋणयपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्’<sup>2</sup>

अर्थात्, त्रिऋणों के सिद्धान्त के अनुकरण के द्वारा वर्ण, संस्कृति, पितृभूमि और मानववंश या प्रजाति की यथासेवा के पश्चात् ही मनुष्य को यह अधिकार मिलता

1. *Evolution of the Smriti Law : A Study in the Factors Leading to the Origin and Development of Ancient Indian Legal Ideas*, 1972. p.27

1. *मनुस्मृति*, 1.108-110

2. *वही*, 6.35, तुलनीय अग्रवाल, वासुदेवशरण, *कला और संस्कृति*, पृ 52

है कि वह मोक्ष-निर्वाण की चिन्ता में लगे। इस प्रकार मनु का धर्म व्यक्ति व वर्णों के नित्य आचारमूलक कर्तव्यों की अनुशंसा करता है। कर्तव्यों की अवधारणा मूलतः वर्णाश्रम धर्म, पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष), त्रिक्रण (देव, ऋषि, पितृ), षोडश संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, आश्रम-व्यवस्था, नित्य श्राद्ध, भक्ष्याभक्ष्य भोजन, स्त्रियों व पुरुषों के धर्म, राजधर्म, अपराध, न्याय-विधान, प्रायश्चित्त व उसके क्रियान्वयन की प्रक्रिया, वर्णसंकरों की उत्पत्ति, आपद्धर्मादि विधि-विधानों पर आधारित है।<sup>1</sup>

*मनुस्मृति* में वर्णित धर्मरूपी विधान और व्यवस्थाओं को निम्नलिखित अध्यायों की विषय-वस्तु के रूप में समाविष्ट किया गया है—

**प्रथमोऽध्यायः—** ऋषिगणों के द्वारा वर्णाश्रम-धर्म की शिक्षा के निमित्त महर्षि मनु से किए गए आत्मनिवेदन के साथ ही *मनुस्मृति* की विषयवस्तु का प्रारम्भ होता है। महर्षि मनु कुछ समय तक आत्मज्ञान से विश्व-सृष्टि का ज्ञान देते हैं। इस ग्रन्थ में सृष्टि व मानवोत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त की परिकल्पना को अंगीकार किया गया है। भारतीय वाङ्मय में यह अवधारणा प्रचलित रही है कि विश्व स्वयं एक सावयव पौरुषेय सत्ता है, और इसी पौरुषेय सत्ता से विराट् पुरुष की और उससे महर्षि मनु व तदनुरूप मनु से दस ऋषियों की उत्पत्ति हुई। कुछ समय तक मनु ने ऋषियों को ज्ञान प्रदत्त किया तदनन्तर महर्षि भृगु को ज्ञान देने के लिए निर्देशित करके प्रस्थान कर जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्वायम्भुव मनु से अन्य छः मनुओं की उत्पत्ति व काल के प्रातिनिधिक स्वरूप मन्वन्तर का इसमें उल्लेख मिलता है। मन्वन्तर व उसके अनुरूप चतुर्वर्णों की उत्पत्ति, उनके करणीयाकरणीय कृत्यों, तदनुरूप चतुर्युगों में क्रमशः धर्मावनति, युगानुरूप धर्म, उद्देश्य, वर्णों के अधिकार-कर्तव्य, आचारमूलक धर्म, राजधर्म, अपराध व दण्ड, न्यायिक-प्रशासन और सम्पूर्ण शास्त्र की विषय-सूची की ओर निर्देश ही *मनुस्मृति* का प्रथम अध्याय है।

**द्वितीयोऽध्यायः—** *मनुस्मृति* के द्वितीय अध्याय में धर्म को विस्तृत रूप से पारिभाषित करते हुए धर्म के उपादानों के रूप में वेद, स्मृति, आत्मतुष्टि की गवेषणा की गई है। वस्तुतः वैदिक धर्म की स्थापना का प्रयास ही *मनुस्मृति* है। इसलिए वेदवर्णित धर्म, संस्कृति, जीवन-मूल्यों, दर्शन, परम्पराओं, आचार-विचार

को प्रमुखता के साथ ग्रन्थ में उल्लिखित किया गया है। मनु ने वैदिक धर्म के उद्देश्यों की प्राप्ति व व्यक्ति को अनुशासन की परिधि में आबद्ध रखने के निमित्त इस अध्याय में जनसामान्य के लिए कर्मयोग की महत्ता का प्रतिपादन किया है। धार्मिक क्रियाकलापों के लिए अनुकूल भौगोलिक क्षेत्रों व इस प्रकार के कार्यों व इस धर्मग्रन्थ पर किस प्रकार के लोगों का अधिकार हो, को स्पष्ट किया गया है। भौगोलिक क्षेत्रों को चिह्नित करते हुए आर्यावर्त के अंतर्गत ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेशादि अन्य क्षेत्रों को देवभूमि के रूप में महत्ता प्रदत्त की गई है। इस परिक्षेत्र में निवासित जनसमुदाय के द्वारा पालित किए जानेवाले अन्यान्य विविध क्रियाकलापों व रीति-रिवाजों के अनुरूप षोडश संस्कार, चतुर्वर्णों के लिए उपनयन का उचित काल, उचित मेखला, जनेऊ, दण्ड, मृगछाल, ब्रह्मचर्याश्रम, गुरु-शिष्य परम्परा का निर्वहन, आचार्य-शिष्य संबंधों, कर्तव्यों, अधिकारों से संबंधित नियम-विधानों को इस अध्याय की विषयवस्तु के रूप में वर्णित किया गया है।

**तृतीयोऽध्यायः—** *मनुस्मृति* में शिक्षा या ब्रह्मचर्य की अवधि (3, 6, 9 एवं 18वें वर्ष) की पूर्णता के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश हेतु विधि-विधानों को तृतीय अध्याय की विषयवस्तु के रूप में सम्मिलित किया गया है। समावर्तन-संस्कार के पश्चात् विवाहयोग्य वर-वधु गोत्र-परम्परा, वर्णानुसार विवाह व उसके 8 प्रकार— क्रमशः ब्राह्म, दैव, आर्य, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच— की रीति-नीति और उसके परिणामों का इस अध्याय में विवेचन मिलता है। इसके अन्यत्र विवाहोपरान्त किए जानेवाले पञ्चयज्ञों, दाम्पत्य जीवन के कर्तव्यों व उसकी महत्ता व श्राद्ध-संबंधी विविध विधिक उपबंधों का वर्णन है।

**चतुर्थोऽध्यायः—** *मनुस्मृति* के चतुर्थ अध्याय में ब्राह्मणों से संबंधित विधिक उपबंधों, गृहस्थ-जीवन की प्रशंसा, विधिसम्मत जीवन-वृत्ति, आचार-व्यवहार, शास्त्राध्ययन, भक्ष्याभक्ष्य भोज्य एवं पेय पदार्थों के नियमों को समग्रता के साथ वर्णित किया गया है। वस्तुतः यह अध्याय उन्हीं आदर्शों का संपोषण करता है जो जीविकोपार्जन की वृत्ति, अपरिहार्य कर्तव्यों व अधिकारों के विधिसम्मत अनुपालन से संबंधित हो। इसके अन्यत्र गृहस्थ स्नातकों के लिए वर्जित विधि-निषेधों की संकल्पना को भी इस अध्याय में चरितार्थ होता पाते हैं। स्नातक को चाहिए कि जीर्ण व मैले वस्त्रों, अशोभनीय केश, नखादि का परित्याग

1. *मनुस्मृति*, 1.111-116

करे, साथ ही नग्न स्नान, सार्वजनिक स्थलों को गंदा या अपवित्र न करना, निर्जन घर में शयन की मनाही, वेदाध्ययन के लिए विधि-निषेध, हिंसा-परित्याग, पाखण्डियों का परित्याग, तिरस्कार, अभक्ष्य भोजन, निषिद्ध आचरण की वर्जना की व्याख्या मिलती है।

**पञ्चमोऽध्यायः—** मनुस्मृति की इस पाठ-योजना में भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों, अशुद्धिकाल (सूतक) की परम्परा का निर्वहन, स्पर्शात्मक वस्तुओं से हुई अशुद्धि का निवारण, शास्त्रोक्त तथा शुद्ध वस्तुएँ, मल-मूत्रादि के विसर्जन से अशुद्ध अंगों की शुद्धि, आचमन, मुण्डन, स्नान, स्त्रीधर्म, विधवा के कर्तव्यों की सांगोपांग विवेचना ही अभिप्रेत है।

**षष्ठोऽध्यायः—** इस अध्याय में वर्णित विधि-विधानों के अंतर्गत वानप्रस्थाश्रम का निर्वहन कर रहे व्यक्तियों से संबंधित कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। चतुर्थ व पञ्चम अध्याय में वर्णित गृहस्थाश्रम का निर्वहन करने के पश्चात् गृहस्थ को जीवनोद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त किस प्रकार की जीवन-वृत्ति को अपनाना चाहिए व किस प्रकार के नियमों का अनुकरण करना चाहिये— इसे भली-भाँति स्पष्ट किया गया है। वानप्रस्थी को आहार तथा परिच्छेद, अर्थात् गौ, गज, वाजि तथा शय्या का त्यागकर वन में जाने की इच्छुक पत्नी को साथ लेकर वनागमन करना चाहिए तथा शास्त्रोक्त विधि द्वारा निर्धारित नित्य कर्मों का पालन करना चाहिये। वानप्रस्थी व संन्यासी के लिए वस्त्र-विन्यास, पञ्चमहायज्ञों का संपादन, खाद्य-पदार्थ, शारीरिक संयम, संन्यासाश्रम व धर्म के दस लक्षण व उनके अनुपालन का विधान आदि से संबंधित नियमों की विस्तृत गवेषणा ही अभीष्ट है।

**सप्तमोऽध्यायः—** मनुस्मृति के सातवें अध्याय में राजधर्म की विशद व्याख्या मिलती है। ग्रन्थ में मनु को राजधर्म का प्रणेता भी कहा गया है। इस अध्याय का प्रारम्भ राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त से हुआ है जिसमें मत्स्यन्याय के फलस्वरूप प्रादुर्भूत हुई अराजकतापूर्ण स्थितियों के निराकरण के लिए राज्य व राजा की महती आवश्यकता पर बल दिया गया है। इस अध्याय में राजा की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त, दण्ड की आवश्यकता, राजा के गुण-दोष, सद्गुण व ज्ञानार्जन, मंत्री-परिषद् व उसका संगठन, राज्याधिकारियों व राजदूतों की योग्यता व नियुक्ति से संबंधित अन्य विविध विधानों का उल्लेख मिलता है। इसके अन्यत्र

दुर्ग-निर्माण की महत्ता, राजधानी, विविध विभागों से संबंधित पदाधिकारी, युद्ध-नीति, दण्ड के चार प्रकार, शासन-नीति, राज्य-संगठन, वेतन-निर्धारण, कर तथा शुल्क, न्याय-निर्णयन, प्रजारक्षण, राजा के कर्तव्य, षाड्गुण्य नीति, युद्ध के समय परामर्श, विजयी राजा के कार्य तथा मध्याह्न व सायंकालीन कार्यों की विवेचना ही अभिप्रेत है।

**अतमोऽध्यायः—** ग्रन्थ के इस अध्याय में अपराध, दण्ड, न्याय का स्वरूप, प्रकृति और न्यायिक-संगठन, निर्णय-प्रक्रिया-जैसे अन्य विषयों को स्पष्ट करने का महनीय प्रयास किया गया है। विषयवस्तु व श्लोक-संख्या की दृष्टि से यह अध्याय अन्य अध्यायों की तुलना में अधिक बृहत् है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में सर्वप्रथम अपराधों की जो व्यवस्थित सूची देखने को मिलती है, उसका सर्वप्रथम सूत्रपात मनु ने इसी अध्याय में किया है। मनु ने न्याय सभा में राजा के प्रवेश से लेकर अठारह प्रकार के अपराधों के विचारण व निराकरण-संबंधी विधि-विधानों की इस अध्याय में विस्तृत रूप से विवेचना की है। विभिन्न अपराधों व उससे फलीभूत होती अराजकता की स्थिति के उन्मूलनार्थ व सुशासन की स्थापना के निमित्त राजा द्वारा किए जानेवाले कार्यों से संबंधित विधिक प्रावधानों का विश्लेषण है। इन प्रावधानों के अंतर्गत न्याय का आदर्श, लक्ष्य, सत्यान्वेषण, न्यायिक संगठन, न्यायाधिकारियों की योग्यता-अयोग्यता, विधवा, अवयस्क व असहायजन— इनके प्रति राजा के कर्तव्यों का विस्तृत मूल्यांकन किया गया है। इसके अन्यत्र साक्षियों की पात्रता, शपथ, झूठी गवाही व उसके लिए दण्ड एवं प्रकार, दण्ड से विमुक्ति व अठारह प्रकार के अपराधों व नैतिक आचरण से संबंधित विधिक उपबंध-जैसे अन्य विविध विषयों के धर्मानुकूल निर्णय के विधान का विवेचन किया गया है।

**नवमोऽध्यायः—** ग्रन्थ के नवम अध्याय में मुख्य रूप से पति-पत्नी के सधर्म कर्तव्यों, संयोग-वियोग, निषिद्ध कर्मों को संपादित करनेवाली स्त्रियों की भर्त्सना, पाबन्दी, पातिव्रत्य-महिमा, संतान पर अधिकार, नियोग-विधि, विवाह-नियम, कपट, विवाहिता का भरण-पोषण, पत्नी-परित्याग, द्वितीय विवाह, पत्नी की ज्येष्ठता, दुहिता, विक्रय-निषेध, दायभाग, ज्येष्ठाधिकार, उत्तराधिकार-विधि व प्रतिकूल परिस्थितियाँ, पुत्र के प्रकार, दत्तक पुत्र की मान्यता, नियोग व वर्णसंकर संतानें, सम्पत्ति पर राज्याधिकार, स्त्री की सम्पत्ति व धन, संयुक्त परिवार में उत्तराधिकार-संबंधी नियम-जैसे गूढ़ व वर्तमान



आधुनिक विधि के लिए प्रासंगिक विषयों की व्याख्या मिलती है। वस्तुतः यह अध्याय पारिवारिक विधि से संबंधित विधानों पर दिया गया आख्यान है, लेकिन इसमें द्यूत-समाह्व भ्रष्ट अधिकारियों को दण्ड, महापातक व उसका प्रायश्चित्त-विधान, ज्ञात एवं अज्ञात चोर, चातुर्वर्ण्य के कर्तव्यों से संबंधित अन्य विषयों का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

**दशमोऽध्यायः—** इस अध्याय में वर्णों व वर्णसंकर जातियों के (विशेषाधिकार), आपद्धर्म को युक्तिसंगत रूप से अभिव्यक्त किया गया है। वर्णसंकर जातियों की उत्पत्ति, स्थिति, मिश्रित (विदेशी) जातियाँ क्रमशः मलेच्छ, यवन, कंबोज और उनके लिए धर्मानुकूल व्यवस्था का प्रतिपादन, धर्मयुक्त अर्जन व वृत्ति, राज्य के कर का अनुपात, शूद्रों की जीविका व श्रेष्ठता से संबंधित विधि-विधानों को इस अध्याय की विषयवस्तु के रूप में प्रमुखता के साथ समाहित किया गया है।

**एकादशोऽध्यायः—** इस अध्याय की प्रमुख विषयवस्तु अकरणीय कृत्यों (पाप व अपराध) के फलस्वरूप किए जानेवाले प्रायश्चित्त-संबंधी विधान है। इसके अलावा दान की उपयोगिता, क्षुधार्त व्यक्ति द्वारा स्तेय (चोरी) का विधान, यज्ञ-धन के स्रोत, ब्राह्मण के धन की अक्षुण्णता, अग्निहोत्र-प्रक्रिया, पञ्चमहायज्ञ, उपपातक, गुप्त पाप और उसके तदनुरूप किया जानेवाला प्रायश्चित्त-विधान, सार्वजनिक स्थानों की क्षति व दूषित करने पर दण्ड, प्रायश्चित्त-संबंधी विविध व्रतों के विधानों का विश्लेषण ही इस अध्याय की विषय-योजना है।

**द्वादशोऽध्यायः—** इस अध्याय में वर्तमान जन्मों के शुभाशुभ कर्मों, कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए उनसे संबंधित फलादेशों, विभिन्न योनी की कोटियाँ और उनके दस कारक, क्षेत्रज्ञ, भूतात्मा, जीव, स्वर्ग-नरक की अवधारणा, नरक के कष्ट, व्यक्ति की त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति, कर्मानुसार मुक्ति, आत्मज्ञान, प्रवृत्त एवं निवृत्त मार्ग, वेद-स्तुति, शिष्ट एवं परिषद् त्रयोदश, मोक्षमार्ग, मानवधर्मशास्त्र व स्मृतियों का माहात्म्य-जैसे अलौकिक व आध्यात्मिक विषयों का विवेचन किया गया है।

पूर्वोक्लिखित *मनुस्मृति* की विषयवस्तु से स्वतः ही स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ भारतीय चिन्तकों व मनीषियों की अद्वितीय मनीषा और उससे प्रादुर्भूत हुए

चिन्तन का सुफल है। यह ग्रन्थ ज्ञानरूपी प्रकाश का एक अलौकिक प्रकाश-पुञ्ज है जो मनुष्य के लिए धर्मानुकूल लौकिक कृत्यों का प्रतिपादन करता है। यह ग्रन्थ सिर्फ पारलौकिकता, सात्त्विकता, वैराग्य-दर्शन का परिचायक नहीं वरन् यह व्यक्ति के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, वैचारिक विकास का द्योतक है। यह संहिता व्यक्ति को नैतिक विधिक उपबंधों से शासित करती है जिससे वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी नैतिक सम्बल प्राप्त कर सके। इस ग्रन्थ की अनुपम विषय-योजना व्यक्ति व समाज के सर्वतोभावेन उत्थान का मार्ग प्रशस्त करती है।

वस्तुतः *मनुस्मृति* में निहित धर्मरूपी विधि-विधानों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसमें व्यक्ति से संयमित व नैतिक आचरण की अपेक्षा की गई है जिससे वह अपने कर्तव्यों का समुचित पालन कर सके। आचरण के विरुद्ध किए गए कार्य ही अपने विस्तृत अर्थों में अपराध कहलाते हैं। ऐसे आचरण-विरोधी कृत्यों के लिए मनु ने धर्मसम्मत दण्ड के विधान का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः ग्रन्थ में वर्णित नियम-विधानों का निहितार्थ अपराध व दण्ड को व्याख्यायित करना नहीं अपितु उस आचारसंहिता का प्रतिपादन करना है जो नैसर्गिक मानवीय प्रवृत्ति के अनूकूल हो और जिससे वह स्वयं के परिवार व समाज और राष्ट्र के विकास में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सके। इस ग्रन्थ से धर्मरूपी उच्च कोटि की नैतिकता, आदर्शवाद, सदाचार के संपोषण का भाव परिलक्षित होता है। वर्तमान में भी इसी प्रकार के नियम-विधानों की आवश्यकता है जिससे भौतिक व पाश्चात्य दर्शन से उपजी समस्याओं का निराकरण हो सके।

### (स) धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में *मनुस्मृति* का स्थान

प्राचीन धर्मग्रन्थों में *मनुस्मृति* को एक विशिष्ट विधिक ग्रंथ की उपमा प्राप्त है। इसमें निहित विषयवस्तु ने न सिर्फ भारतीय, अपितु इससे कहीं अधिक भारतेतर विद्वानों को अपनी मूल्यपरक विशेषताओं से प्रभावित किया। भारतीय धर्मग्रन्थों में जो प्रतिष्ठा वैदिक ग्रन्थों को प्राप्त है, वही प्रतिष्ठा विधिक ग्रन्थों में *मनुस्मृति* को प्राप्त है। *मनुस्मृति* की लोकप्रियता व विधिक मान्यता का विश्लेषण इसी बात से हो जाता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भी इस विधिक ग्रन्थ में वर्णित विधि-विधानों की प्रासंगिकता को भारतीय-विधि में कुछ आवश्यक संशोधन के साथ स्वीकार किया गया है। हिंदू-विधि के क्षेत्र में हिंदू-विवाह अधिनियम, 1955; हिंदू-उत्तराधिकार अधिनियम, 1956; हिंदू अप्राप्तवयता और

संरक्षता-अधिनियम, हिंदू-दत्तक और भरण-पोषण अधिनियम का मूलाधार इसी ग्रन्थ से लिया गया है। यद्यपि न्यायिक निर्णयों में इसके विधानों का अनुशीलन सीमित हो गया है, तथापि इसके नियम-विधानों को अनुपयोगी नहीं कहा जा सकता। प्राचीन धर्म व धर्मेतर ग्रन्थों के उद्धरणों से भारतीय दर्शन में इस ग्रन्थ की महत्ता पर प्रकाश पड़ता है।

महाभारत में मनु के प्रति विशिष्ट व प्रामाणिक विधिवेत्ता व स्मृतिकार के रूप में महत्ता प्रदर्शित की गई है। इस ग्रन्थ में मनुवचनों का तादात्म्य वेद, पुराणों के साथ सम्बद्ध करते हुए निर्देशित किया गया है कि पुराण, मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म वेद और आयुर्वेद की आज्ञा प्रमाण है और इन चारों का हेतु शास्त्र का आश्रय लेकर कुतर्कादि के द्वारा खण्डन नहीं करना चाहिये।<sup>1</sup> ऐसा ही भाव बृहस्पतिस्मृति से भी प्रदर्शित होता है। वेदार्थानुरूप रचित होने के परिणामस्वरूप समस्त स्मृतियों में मनुस्मृति ही सर्वप्रधान एवं प्रशंसनीय है। जो स्मृति मनु के मत से विपरीत है, वह ग्राह्य करने योग्य नहीं है। व्याकरण, तर्कशास्त्रादि शास्त्रों की शोभा तभी तक है जब तक धर्म, अर्थ, मोक्ष का उपदेश देनेवाला मनु धर्मशास्त्र को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र प्राचीन भारतीय-परम्परा के प्रवर्तक व परिचायक सभी ग्रन्थों में समान रूप से मनुस्मृति की प्राचीनता व महत्ता को वर्णित किया गया है।

इसके अन्यत्र आधुनिक विद्वानों के मतों से इस विधिक ग्रन्थ की महत्ता व उपयोगिता को स्पष्ट किया जा सकता है। विभिन्न विद्वानों ने मनुस्मृति का संबंध वैदिक काल से जोड़ते हुए प्राचीन भारतीय सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक व्यवस्थाओं पर उसके प्रभाव व महत्ता को स्वीकार किया है। केवल मोटवानी, मनु का संबंध आर्य जाति एवं वैदिक काल से जोड़ते हैं। उनका मत है कि मनु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त, जो मानवधर्मशास्त्र में संकलित है, भारत में इतिहास के आरम्भिक काल से ही प्रयुक्त होते रहे हैं।<sup>3</sup> मनुस्मृति न केवल धर्मशास्त्रों में, ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है, अपितु मनु द्वारा निर्धारित धर्म भारत से बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया में भी लोकप्रिय हुआ और वहाँ के लोगों की जीवन-पद्धति को

भारतीयों के अनुकरण के समान अपनाया माना जा सकता है।<sup>4</sup> बुहलर का मत है कि मनुस्मृति सामाजिक विधान की सर्वाधिक प्राचीन पुस्तक है।<sup>5</sup> पृ० राघवन के अनुसार जिस प्रकार पाणिनि ने सभी कालों के लिए संस्कृत के स्वरूप को निर्धारित कर दिया है, उसी प्रकार मनु ने हिंदू-आचरण को सभी कालों के लिए निर्धारित कर दिया।<sup>6</sup> मनुस्मृति भारतीय समाज-दर्शन को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास है, और इसलिए प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक विभिन्न मत-मतान्तरों के पश्चात् भी अनेक दृष्टियों से भारतीय समाज-व्यवस्था के लिए इस ग्रन्थ को अब भी सर्वोत्तम प्रामाणिक आधार माना जाता है। काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि हिंदू-विधि के संबंध में मनुस्मृति आधार-ग्रन्थ है और न्याय-व्यवस्था के लिए इसके प्रमाण को सर्वोपरी महत्त्व दिया गया है।<sup>7</sup> एनी बेसेंट (Annie Besant : 1847- 1933) के अनुसार यह ग्रन्थ भारतीय एवं आंग्ल— दोनों के लिए समान रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि इसमें सर्वाधिक मूल्यवान् विचार उन सभी लोगों के लिए हैं जो समाज-चिन्तक हैं।<sup>8</sup> प्रो० जॉली (Professor Julius Jolly : 1849-1932) के अनुसार सम्पूर्ण भारत में विधि के संबंध में स्मृतियों को ही महत्त्व दिया गया है और उसमें भी सबसे प्रामाणिक मानवधर्मशास्त्र को माना गया है।<sup>9</sup> इस महान् धर्मग्रन्थ की श्रेष्ठता जर्मन दार्शनिक नीत्से (Friedrich Wilhelm Nietzsche : 1844-1900) के शब्दों से स्पष्ट होती है— ‘मनुस्मृति को पढ़ने से लगता है कि बायबिल की अपेक्षा यह किसी बहुत बड़े मस्तिष्क की उपज है व वैदिक दृष्टि से लिखा गया यह उच्च कोटि का ग्रंथ है और इसमें उच्च कोटि की नैतिकता मिलती है। मानवता के पुनरुत्थान के लिए विश्व को मनु का अनुसरण करना चाहिए।’<sup>10</sup> उन्हीं का एक अन्य मत है कि ‘मनुस्मृति, बायबिल से बहुत उत्तम ग्रन्थ है। बायबिल से अश्लीलता और बुराइयों की दुर्गंध आती है।’ इसके अन्यत्र उन्होंने कहा कि ईसाइयत दासों का है और मनु का धर्म शक्ति और प्रतिभा का है। बायबिल को

1. महाभारत, अनुशासनपर्व, पृ. 92
2. बृहस्पतिस्मृति, संस्कारखण्ड, 13.14
3. मोटवानी, केवल, मनु धर्मशास्त्र, पृ. 56

1. मोटवानी, केवल, मनु धर्मशास्त्र, पृ. 432
2. The laws of Manu, p.114-116
3. The cultural heritage of India, Vol. II, p.335
4. Manu and Yajnavalkya, p.19
5. The science of social organization, Introduction, p. 27
6. Hindu Law and Custom, p.17
7. Das, R.M., Women in Manu and his seven commentators, p.4

बंद करके *मनुस्मृति* का अध्ययन करना चाहिये।<sup>1</sup> इसके अलावा ए. बी. कीथ ने भी विधि के इस अनुपम अद्वितीय ग्रन्थ की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि मनुचित स्मृति किसी एक समुदाय के लिए ही जीवन का पथ-प्रदर्शक नहीं है, बल्कि वह संसार के सभी समाजों के लिए समान रूप से जीवन का पथ-प्रदर्शन करनेवाली है।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् पॉल थॉमस वाइकर्स (Paul Thomas Vickers, b. 1964) ने लिखा है कि मनु की विधि-संहिता का सर्वोच्च स्थान है, वेदों के बाद उसी को सर्वोच्च महत्त्व प्राप्त है।<sup>3</sup> *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ दि सोशल साइंसेज़* में उल्लेख हुआ है कि पूर्वी देशों में सुदूर तक मनु का नाम विधिवेत्ता के रूप में जाना जाता है। मनु की विधि-संहिता भी प्रामाणिक है। परवर्ती समय में मनु का नाम इतना प्रसिद्ध हो गया कि उन देशों के संविधान-निर्माताओं को 'मनु' नाम की उपाधि प्राप्त होने लगी।<sup>4</sup> ए. ए. मैकडॉनल (Arthur Anthony Macdonell : (1854 - 1930) अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि स्मृतियों में सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण *मानवधर्मशास्त्र* है जिसको 'मनु की विधिसंहिता' कहा जाता है।<sup>5</sup> आर्. एनू गिलक्राइस्ट (Robert Niven Gilchrist : 1888-1972) के अनुसार *मनुस्मृति* हिंदू-कानून के रूप में सबसे प्रभावशाली संविधान है।<sup>6</sup> लुईस रेनो (Louis Renou : 1896-1966) का मत है कि मनु के कानूनी विधान बहुत ही प्रभावी व अच्छी शिक्षा देनेवाले हैं। वे शिक्षाएँ भारतीय साहित्य से संबंधित हैं।<sup>7</sup> मनु की पुस्तक एक सैवधानिक पुस्तक है जिससे हमें कानूनी विधि-विधानों की समुचित जानकारी प्राप्त होती है।<sup>8</sup>

वर्तमान भारतीय नीति-निर्माताओं और विधिशास्त्रियों ने भी *मनुस्मृति* के प्राचीनतम व विधि के आदिमोत होने के प्रमाणों का समर्थन किया है। पुं

1. Nietzsche, Friedrich, *The Will to Power*, Vol. I, part 2, p. 126
2. *A History of Sanskrit Literature*, p.432
3. *Hindu Religion, Customs and Manners: Describing the Customs and Manners, Religious, Social and Domestic Life, Arts and Sciences of the Hindus*, 9.102
4. *Encyclopædia of the Social Sciences*, p.260
5. *A History of Sanskrit Literature*, p.432
6. *Principle of Political Science*, p.163
7. *Religions of Ancient India* (1968), p. 49
8. *The Discovery of India*, Oxford University Press, 1994, p.118

जवाहरलाल नेहरू (1889-1964) ने मनु को प्राचीनतम और 'कानून का आदिदाता' कहकर सम्बोधित किया है।<sup>1</sup> सत्यजीत अतुल देसाई ने भी मनु को मूल विधिदाता और आदिपुरुष माना है।<sup>2</sup> डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी कृति '*भारतीय दर्शन*' में लिखा है कि स्मृतियों में मनु के संविधान की सर्वोच्च स्थिति है और सर्वोच्च प्रामाणिकता है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर (1891-1956) का मत है कि मनु सर्वप्रथम वह व्यक्ति था जिसने उन कर्तव्यों को व्यवस्थित और संहिताबद्ध किया, जिनका अनुशीलन करने के लिए हिंदू बाध्य थे।<sup>3</sup>

इस प्रकार अक्षरशः यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों में जो स्थान मनु व *मनुस्मृति* का है, वह किसी दूसरे ग्रन्थ का नहीं। वास्तव में यह ग्रन्थ केवल नियम-विधानों से संबंधित न होकर सम्पूर्ण मानवीय क्रियाकलापों से संबंधित है। इसमें सृष्टि-विद्या, धर्म-दर्शन, मानव शरीर, विज्ञान, मनोविज्ञान, कूटनीति, राजस्व, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, करणीयाकरणीय कार्यों का भी समावेश किया गया है। वस्तुतः सामाजिक व्यवस्थाओं के नियम-विधानों के अतिरिक्त *मनुस्मृति* न्यायिक प्रक्रिया को सुगठित करने का प्रयास है। ध्यातव्य है कि कालान्तर की स्मृतियों में न्याय, दण्ड व अपराध का जो व्यवस्थित व क्रमबद्ध विवेचन प्राप्त होता है, वह मनु के प्रयासों का सुफल है।

### 3.4 संकलनकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

चिन्तन सदैव ही युग और समाज की मांग का परिमाण होता है। प्रत्येक युग में निर्धारित की गई व्यवस्थाओं में जब विकृति उत्पन्न होने लगती है, तब उन विकृतियों के उन्मूलन के लिए चिन्तकों व मनीषियों द्वारा नवीन व्यवस्थाओं का प्रतिपादन किया जाता है एवं उन व्यवस्थाओं के अंतर्गत तत्कालीन जनसमुदाय को नियमित-संयमित करने के लिए करणीयाकरणीय कार्यों का विधान किया जाता है। इसी प्रकार *मनुस्मृति* भी वैदिक व्यवस्थाओं की पुनर्स्थापना के लिए मनीषियों द्वारा किए गए प्रयासों का सुफल है। वर्तमान में उपलब्ध *मनुस्मृति* के संकलन अथवा उसकी रचना के पीछे छिपे निहितार्थ को स्पष्ट करने से पूर्व ऐतिहासिक परिदृश्य के अंतर्गत तत्कालीन भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक,

1. Mulla : *Principles of Hindu Law*, p.19
2. अम्बेडकर वाङ्मय, खण्ड 7, पृ. 226
3. *मनुस्मृति*, 2.17, 24

राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषण करना समीचीन होगा।

## भौगोलिक पृष्ठभूमि

मनुस्मृति में वर्णित क्षेत्रविशेष के नामों व उनके स्थलों के प्रति प्रदर्शित पवित्रता के भावों के आधार पर तत्कालीन भौगोलिक पृष्ठभूमि का आकलन किया जा सकता है। मनुस्मृति में आर्य-संस्कृति एवं वैदिक धर्म की श्रेष्ठता का भान होता है। इसमें आर्य-संस्कृति अर्थात् वैदिक धर्म के प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत चार क्षेत्रों— ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश एवं आर्यावर्त का वर्णन मिलता है।<sup>1</sup> ब्रह्मावर्त के अंतर्गत सरस्वती तथा दृषद्वती नामक नदी के मध्यभाग एवं ब्रह्मर्षि देश को कुरुक्षेत्र, मत्स्य, शूरसेन नामक क्षेत्र से सम्बद्ध किया गया है।<sup>2</sup> इसके अतिरिक्त इस काल में उत्तर-दक्षिण में हिमाचल से लेकर विन्ध्याचल के मध्य भाग तथा सरस्वती नदी के पूर्वी व प्रयाग के पश्चिमी क्षेत्र को 'मध्यदेश' के नाम से अभिहित किया जाता है।<sup>3</sup> इसी प्रदेश को, जिसकी सीमा पूर्वी समुद्र तट से पश्चिमी तट व हिमाचल से विन्ध्याचल के क्षेत्र को 'आर्यावर्त' की संज्ञा दी गई है।<sup>4</sup> वस्तुतः मनुस्मृति के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि मनुस्मृति के संकलन-काल तक यह क्षेत्र वैदिक धर्म व वैदिक संस्कृति के प्रभाव में था। इसके अन्यत्र अन्य क्षेत्रों का भी परिज्ञान होता है जो 'म्लेच्छ देश' के नाम से जाने जाते थे। सम्भवतः यह क्षेत्र या तो विदेशी शासकों के आधिपत्य या फिर बौद्ध-संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र में रहे होंगे।

## राजनैतिक पृष्ठभूमि

यह युग राजनैतिक दृष्टि से अस्थिरता व विकेन्द्रीकरण का था। मौर्य-शासकों के अकुशल व दुर्बल नेतृत्व ने मौर्य-साम्राज्य को पतन की ओर अग्रसर किया। किन्तु मौर्य-साम्राज्य के पतन के मूल में अशोक की अहिंसा की नीति मुख्य रूप से उत्तरदायी थी क्योंकि अशोक की युद्ध-परित्याग की नीति से सीमान्त प्रदेश के शासकों की स्वतन्त्र राज्य-स्थापना की प्रवृत्ति ने मौर्यों के पतन को अवश्यम्भावी बना दिया। पश्चिम सीमा पर यवन-आक्रमण से इस प्रकार की प्रवृत्ति को और

अधिक बढ़ावा मिला। ऐसे में मौर्य-साम्राज्य को विघटित एवं खण्ड-खण्ड होने से बचाए रखना सम्भव नहीं था।<sup>1</sup> सम्राट् अशोक की धार्मिक नीतियों से ब्राह्मण वर्ग में तो असन्तोष व्याप्त था किन्तु राज्य से लाभप्राप्ति की आशा से संघदीक्षित, सिद्धान्तहीन बौद्ध-भिक्षुओं से उसे अधिक बल मिला। इन विषम परिस्थितियों का लाभ उठाकर मौर्य-सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ का वध करके राजपद प्राप्त किया और शुंग-वंश की स्थापना की।<sup>2</sup> मनुस्मृति का यह उद्धरण कि धर्म से विचलित राजा अपने समस्त बन्धु-बान्धवों के साथ वध को प्राप्त होता है<sup>3</sup>— साक्ष्य के रूप में राजपद परिवर्तन की इस प्रक्रिया को प्रामाणिकता प्रदान करता है। शुंगवंशीय शासकों ने प्राप्त साम्राज्य को स्थायीत्व प्रदान करने का पूर्ण प्रयास किया, परन्तु उन्हें अपने इस उद्देश्य में पूर्णरूपेण सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। यही बात कण्व-शासकों के प्रयासों पर भी चरितार्थ होती है। राजनैतिक विध्वंखलन के कारण इस काल में औदुम्बर, आर्जुनायन, मालव, यौधेय, कुणिन्द-जैसे गणराज्य व अहिच्छत्र, पाञ्चाल, तक्षशिला, शूरसेन, मथुरा, कौशाम्बी, अयोध्या-जैसे नगर-राज्यों का उदय इस काल की प्रमुख घटना थी।<sup>4</sup> इस युग में दक्षिण में आन्ध्र-सातवाहनों का प्रभुत्व बढ़ा व साथ ही नागवंश-जैसे राजवंशों का प्रादुर्भाव हुआ। कलिंग-शासक खारवेल ने भी सुदूर उत्तर तक के क्षेत्र को अपने प्रभाव में लेने का प्रयास किया। यवन, शक, शक-क्षत्रप एवं पहलव-जैसी विदेशी जातियाँ भी भारत में प्रवेशकर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शासन करने लगीं।<sup>5</sup> कालान्तर में कुषाणों ने भी भारत में साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

अन्ततः यह युग राजनैतिक दृष्टि से गणराज्यों, छोटे-छोटे राज्यों और राजवंशों के प्रादुर्भाव का था जो अपने साम्राज्य व प्रतिष्ठा की वृद्धि करने के लिए स्वार्थवश आपस में संघर्षरत थे। उनकी इसी प्रवृत्ति का लाभ उठाने का प्रयास

1. मनुस्मृति, 2.19 व 21

2. वही, 2.23

3. वही, 2.24

4. तुलनीय चौधरी, हेमचन्द्र राय, प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ 23

1. स्वर्णकार, अनिता, धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण : मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, पृ 79

2. मनुस्मृति, 7.3-14

3. स्वर्णकार, अनिता, धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण, मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, पृ 79

4. वही, पृ 80

5. पाण्डे, विमलचन्द्र, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग 1, पृ 510

विदेशी आक्रमणकारियों ने किया और भारत में साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा की।

## सामाजिक पृष्ठभूमि

सामाजिक दृष्टि से यह युग वैदिक सामाजिक मान्यताओं के विध्वंस एवं उसकी पुनर्स्थापना का था। बुद्ध एवं महावीर के सिद्धान्तों ने वैदिक समाज-व्यवस्था पर प्रबल आक्षेप किया जिसके परिणामस्वरूप समाज का स्वरूप विकृत होने लगा था। कर्मकाण्डीय सामाजिक व्यवस्था पर जिस प्रकार का आक्षेप हुआ, उससे वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति जनसामान्य की श्रद्धा का हास हुआ। पूर्व में सामाजिक विधान के द्वारा निर्धारित वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना होने लगी। अशोक द्वारा बौद्ध-अनुयायियों को दी जानेवाली दान-दक्षिणा और सद्धर्म के प्रोत्साहन ने इस प्रवृत्ति को अधिक बढ़ावा दिया। अनेक लोगों में अश्रद्धा के बावजूद भी अशोक द्वारा प्रदत्त मान-सम्मान व दक्षिणा के लाभ के कारण बौद्ध संघ में दीक्षित होने लगे थे। यही बात स्त्रियों के संघ-प्रवेश के संबंध में भी कही जा सकती है।<sup>1</sup> इन सब क्रियाओं के परिणामस्वरूप समाज में बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया का वातावरण निर्मित हो रहा था। इसी प्रतिक्रिया ने मौर्य-साम्राज्य के पतन को अवश्यम्भावी बना दिया। तत्कालीन परिस्थितियों में शुंग वंश की स्थापना हुई, जिससे वैदिक समाज-व्यवस्थाओं के पुनरुत्थान के व्यापक प्रयास प्रारम्भ हुए। इन प्रयासों के अंतर्गत वर्णोत्तर विवाहों अथवा शिथिलाचार से उत्पन्न सन्तानों का सामाजिक स्थान एवं विदेशियों का भारतीय-संस्कृति व समाज में जो समायोजन हो रहा था, उनका समाज में क्या स्थान हो-जैसी इन तत्कालीन समस्याओं के निराकरण का प्रयास किया गया। इसके अन्यत्र वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि व ब्राह्मणों के घटते महत्त्व तथा बढ़ते भौतिकवाद; वर्णानुमोदित कर्म के प्रति घटते विश्वास के कारण क्या पुनर्व्यवस्था की जाये— यह असामञ्जसपूर्ण हो गया था। इसके कारण समाज में व्याप्त समस्याओं के निराकरण व विशृंखलित समाज को नियमित-संयमित करने के लिए एक निश्चित विधान की आवश्यकता महसूस की गयी। *मनुस्मृति* का संकलन इसी आवश्यकता का परिणाम प्रतीत होता है। वर्णाश्रम-धर्म की पुनर्स्थापना, ब्राह्मणों की वरेण्यता, अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों की समुचित व्यवस्था, वर्णसंकर सन्तानों को स्वीकृति आदि इसी प्रकार के विधान

सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के प्रयासों का सुफल थे। इस प्रकार यह काल विशृंखलित होती सामाजिक व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण का था और इसी पुनर्निर्माण के चिन्तन ने *मनुस्मृति* के संकलन को सार्थक बनाया।

## आर्थिक पृष्ठभूमि

किसी भी युग व काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के निर्धारण में तात्कालिक अर्थव्यवस्था का विश्लेषण भी महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि अर्थ से ही किसी भी राज्य की वस्तुस्थिति का आकलन किया जाता है। मनुस्मृतिकालीन परिस्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए तात्कालिक आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करना युक्तिसंगत होगा। *मनुस्मृति* के संकलन की दीर्घकालीन अवधि में आर्थिक स्थिति परिवर्तनशील बनी रही। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* से विदित होता है कि नवगठित मौर्य-साम्राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ व स्थायीत्व प्रदान करने के लिए कौटिल्य ने अभिनव आदर्शों का प्रतिपादन किया व परम्परागत आर्थिक सिद्धान्तों में संशोधन-परिवर्द्धन किया जिससे वाणिज्य-व्यापार में वृद्धि हुई। मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था सुदृढ़ थी किन्तु अशोक के जनकल्याणकारी कार्यों, अहिंसा एवं युद्ध-परित्याग की नीति ने मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था को जर्जर कर दिया। उसके धर्म-प्रचार से राजकोष रिक्त होता गया। लोकोपकारिता, धर्मशालाएँ बनवाना, कुएँ खुदवाना, चिकित्सा-व्यवस्था-संबंधी कार्यों तथा स्तूपों, विहारों आदि के निर्माण धर्म-प्रचार के लिए धम्ममहामात्र-जैसे अधिकारियों की नियुक्ति, स्थान-स्थान पर स्तम्भों को बनवाने, उन पर लेख उत्कीर्ण करवाने आदि में धर्म-प्रचार के लिए विदेशों तक में विविध प्रकार के प्रचारकों एवं अधिकारियों को भेजने आदि में विपुल धनराशि व्यय हुई।<sup>1</sup> इन अतिव्यय के कार्यों ने अर्थव्यवस्था के हास का मार्ग प्रशस्त किया।

युद्ध-परित्याग की नीति से पश्चिमोत्तर एवं पश्चिमी प्रदेश, जो वाणिज्य-व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, के स्वतन्त्र होते ही बाह्य व्यापार को क्षति पहुँची। मौर्य-साम्राज्य की क्षीण आर्थिक स्थिति पर नवनिर्मित शुंग-साम्राज्य के शासकों ने आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ता प्रदान करने का प्रयास किया जिसमें उन्हें आंशिक सफलता प्राप्त हुई। कृषि व पशुपालन-जैसे परम्परागत व्यवसायों के साथ उद्योग एवं व्यापार-वाणिज्य का भी विकास हुआ। मौद्रिक व्यवस्था और

1. Sinha, Binod Chandra, *History of the Śunga dynasty*, 1977, p.163-166

1. विद्योगी, पण्डित मोहनलाल महतो, *जातककालीन भारतीय संस्कृति*, पृ. 185-193



अधिक सशक्त हुई। शुंगवंश के समकालीन पतञ्जलि के *महाभाष्य* से विभिन्न प्रकार के सिद्धों, माप-तौल की अनेक इकाइयों, विविध व्यावसायिक वर्गों, कारीगर, ताम्रकार, हाथी-दाँत का काम करनेवाले बढ़ई, लोहार, मिट्टी के बर्तन बनानेवालों की जानकारी प्राप्त होती है। यवन, शक, पहलव आदि जातियों के आक्रमण और उसके सम्पर्कों से वाणिज्य और व्यवसाय के क्षेत्र में नूतन आयाम विकसित हुए। किन्तु आर्थिक स्थिति में निरन्तर असमानता का भाव भी परिलक्षित होता है। निश्चय ही शुंग काल में पत्थर, मसाले, मोती, इत्र आदि का व्यापार विश्व के अनेक देशों से होता था। व्यापारिक वर्ग एवं व्यापारिक केन्द्र समृद्ध थे।<sup>1</sup> परन्तु शुंगों के काल में ही पड़ोसी, विदेशी एवं भारतीय राज्यों व नगर-राज्यों के भी शासन थे, जिनमें समान आर्थिक संपन्नता की बात नहीं की जा सकती। बौद्ध-जातक कथाओं में तो जनसामान्य की दीनता और विपन्नता का चित्र भी अधिक दिखाई देता है।<sup>2</sup> वस्तुतः राजनैतिक परिस्थितियाँ भी इसके लिए उत्तरदायी थीं। ध्यातव्य है कि शासन की एकसूत्रता के अभाव में यह स्थिति स्वाभाविक प्रतीत होती है। कण्व-शासन में ऐसी स्थिति अधिक दिखाई देती है, किन्तु कुषाणों के आगमन के साथ उनके बाहरी समर्थकों से भारतीय आर्थिक परिवेश को पुनः व्यापक क्षितिज प्राप्त हुआ और व्यापार-वाणिज्य में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

### धार्मिक पृष्ठभूमि

छठी शताब्दी ई पू में बौद्ध व जैन-सम्प्रदायों के उदय व प्रसार ने वैदिक धर्म व संस्कृति को प्रभावित किया। प्रकारान्तर में मौर्य काल में सम्राट् अशोक द्वारा बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिए जाने के पश्चात् एवं उनकी बौद्ध-मत-विषयक नीतियों के फलस्वरूप बौद्ध-मत की परिणति राजधर्म के रूप में हुई। कालान्तर में बौद्ध-मत के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप पुण्यमित्र शुंग ने राजपद प्राप्त किया और वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना के प्रयास किये। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में जो कार्य जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य ने किया, उसे पुण्यमित्र शुंग ने उनके हजारों वर्ष पहले कर दिया।<sup>3</sup> उसके शासनकाल में वैदिक यज्ञों को

पुनर्प्रतिष्ठित किया गया जिससे वैदिक धर्म पुनः एक बार राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। ध्यातव्य है कि बौद्ध-मत के प्रभाव के कारण जब एक बार यज्ञों की परिपाटी शिथिल पड़ गई, तब उसका पूर्णतया पुनरुत्थान नहीं हो सका। इस काल में अश्वमेध-यज्ञ पुनः प्रारम्भ किए गये।<sup>4</sup> जैसा कि *महाभाष्य* के 'इही पुण्यमित्र याजयामः' से स्पष्ट होता है,<sup>5</sup> परन्तु वैदिक यज्ञों की धूमिल हो चुकी प्रतिष्ठा इस काल में उस वैभव पर पुनः आसीन न हो सकी जैसा कि वैदिक व सूत्रकाल में थी। प्राचीन भारत के इतिहास में इस युग की एक महान् विशेषता यह परिलक्षित होती है कि इस युग में वैदिक परम्पराओं की पुनर्स्थापना हेतु सार्थक प्रयास किए गये। इन प्रयासों में एक ऐसा चिन्तन पूर्णरूप से स्थान नहीं पा सका जो वैदिक मान्यताओं के विरोध में था। अतः भारतीय आस्था एवं विश्वास के अनुकूल न होने के कारण तात्कालिक समाज में बौद्ध-धर्म का प्रभाव व प्रतिष्ठा कम हुई। किन्तु इन प्रयासों के पश्चात् भी बौद्ध-धर्म समाज में प्रचलित रहा। इसके अन्यत्र भक्तिमार्ग का उदय भी इस काल की प्रमुख विशिष्टता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसी भक्तिमार्ग के परिणामस्वरूप भारत में भागवत सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ। कालान्तर में तक्षशिला के हिंद-यूनानी शासक अन्तलिखित (Antialcidas Nikephoros : 130 BCE) का दूत हेलिओडोरस (Heliodorus : 113 BCE) यद्यपि यूनानी राजदूत था तथापि उसने भागवत सम्प्रदाय का प्रचार किया तथा भगवान् वासुदेव के सम्मान में 110 ई पू में विदिशा (बेसनगर, मृ पृ ) में 'गरुडध्वज' (हेलिओडोरस स्तम्भ) की स्थापना की थी।<sup>6</sup> निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भक्ति के प्रादुर्भाव के कारण भारतीयों के साथ-साथ विदेशियों को भी भागवत सम्प्रदाय ने प्रभावित किया। यद्यपि शुंग-शासक वैदिक धर्म के अनुयायी थे तथापि उनमें अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी सहिष्णुता का भाव था। बौद्धों से उनका मतैक्य किन्हीं विशेष विषम परिस्थितियों में हुआ, किन्तु अन्य सम्प्रदायों को शुंग-शासकों ने प्रोत्साहित किया। पुण्यमित्र शुंग ने बौद्ध-मंत्रियों को नौकरी से पृथक् नहीं किया, दरबार में 'पण्डित कौशिकी' का बड़ा सम्मान था।<sup>7</sup> शुंगों के काल में भरहुत-जैसे

1. पाण्डेय, आरु एम् , *प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास*, पृ 343
2. रायचौधरी, हेमचन्द्र, *प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास*, पृ 343
3. चौधरी, राधाकृष्ण, *प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास*, पृ. 233

1. Sinha, Binod Chandra, *History of the Śunga dynasty*, 1977, p.135-136
2. *मालविकाग्निमित्रम्*, कालिदास, अंक 1, तुलनीय स्वर्णकार, अनिता, पृ 79
3. सिंह, राजकिशोर, *प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति*, पृ 100
4. पाण्डेय, उमेशचन्द्र, *भारतीय साहित्य*, पृ 278

बौद्ध-स्तूपों का निर्माण हुआ और साँझी-जैसे प्रभावी विष्णु-स्तूपों का रूप निर्धारित हुआ। कुछ क्षेत्रों में शैव-सम्प्रदाय के प्रचलन व प्रभाव के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। प्रारम्भिक कुषाण-शासकों के समय में शैव-सम्प्रदाय को व्यापक प्रचार-प्रसार मिला तो दूसरी ओर कुषाण-राजा कनिष्क के संरक्षण में बौद्ध-सम्प्रदाय की महायान शाखा का शुभारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त बौद्ध-सम्प्रदाय के इतिहास में साक्षात् बुद्ध को मूर्तरूप में अंकित करना इस काल में प्रारम्भ हुआ। कनिष्क की ताम्र व सुवर्ण-मुद्राओं से इस कथन को अभिप्रमाणित किया जा सकता है। अन्ततः यह युग वैदिक धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान का युग था। यद्यपि इस काल में याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रचलन तो हुआ तथापि वह प्राचीन गौरव को प्राप्त नहीं कर सका। इसी प्रकार देवी-देवताओं की पुनर्प्रतिष्ठा के साथ उनकी पूजा-पद्धति में आवश्यक संस्कार-परिष्कार किया गया। साथ ही अभिनव देवी-देवताओं का प्रचलन बढ़ा एवं भक्तिवाद की व्यापक प्रतिष्ठा स्थापित हुई।

### साहित्य और कला की पृष्ठभूमि

राजनैतिक अस्थिरता एवं सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अव्यवस्थाओं के कारण साहित्य एवं कला के विविध पक्ष भी अव्यवस्थाओं के इस प्रभाव से अछूते नहीं रहे। सर्वप्रथम यह प्रभाव शैक्षणिक व्यवस्थाओं पर परिलक्षित होता है। बौद्ध एवं जैन शिक्षा-पद्धति के व्यापक प्रसार-प्रभाव के कारण कर्मकाण्डीय वैदिक शिक्षा के प्रति जनसामान्य में अभिरुचि घट रही थी। परम्परागत वैदिक शिक्षा केवल वर्गविशेष तक ही सीमित रही। श्रमण-प्रधान शिक्षा-पद्धति मूलरूप से ‘बहुजन हिताय बहुजन सुखाय’ पर आधारित थी। इन सम्प्रदायों के नेता अपनी शिक्षा-प्रणाली के अंतर्गत घर-घर जाकर शिक्षा देने के पक्षधर थे। अतः ऐसी स्थिति में बौद्ध व जैन-शिक्षा का प्रसार होना अवश्यम्भावी था। श्रमण-शिक्षाप्रणाली के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप वैदिक शिक्षा-पद्धति के प्रति घटते सम्मान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसी विषम परिस्थिति में वैदिक चिन्तक व मनीषियों ने वैदिक शिक्षा व मान्यताओं के प्रसार व पुनर्स्थापन के प्रयत्न किये। ब्राह्मणवंशीय शुंगकाल में इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला, परिणामतः वैदिक परम्परा को समझने के लिए विविध कार्य-योजना निर्मित हुई। इस कार्य-योजना में वैदिक संस्कृति को जनसामान्य के समक्ष स्पष्ट करने के लिए व्यापक अभियान चलाया गया। महाभाष्य को इन्हीं प्रयासों के

परिणाम के रूप में लेना चाहिए। भाषा के क्षेत्र में वैदिक संस्कृत के स्थान पर लौकिक संस्कृत के प्रयोग की परम्परा विकसित हुई। लौकिक संस्कृत में संकलित *मनुस्मृति* को इसी का परिणाम मानना चाहिए।<sup>1</sup>

*मनुस्मृति* को युगविशेष में वैदिक पुनरुद्धार व धर्म की पुनर्स्थापना के लिए किए गए प्रयासों के परिणामों के रूप में लेना युक्तिसंगत होगा। प्रतीत होता है कि चिन्तकों व मनीषियों ने समाज में नवीन व्यवस्था को अपनी वर्तमान आवश्यकताओं से सामञ्जस्य स्थापित कराने के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में यत्र-तत्र परिवर्तन करने का प्रयास किया। शुंगकाल में *महाभारत* का जो संशोधन-परिवर्द्धन किया गया, वह मनीषियों की इसी चेष्टा का सुफल था। कुछ विद्वान् कालिदास और उनकी रचनाओं को भी इसी काल का मानते हैं। किन्तु साक्ष्याभाव में यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। कालिदास की रचनाओं को इस काल में सम्मिलित नहीं किया जाए तो भी यह युग भाषा-साहित्य के समग्र विकास का था। इस युग में भी साहित्यिक उपलब्धियों के विषय में विद्यालंकार महोदय ने लिखा है ‘यद्यपि यह काल राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, विद्रोह और अशान्ति का काल था, तथापि साहित्य-ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में निरन्तर उन्नति हो रही थी। इस युग के विशाल साहित्य द्वारा इस समय के सामाजिक जीवन, धर्म, सभ्यता, संस्कृति और आर्थिक दशा के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।’<sup>2</sup> शुंग और शुंगोत्तर काल से लेकर प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई तक का समय पाली-प्राकृत-संबंधी साहित्य की रचनाओं का भी युग था, धेर-धेरीगाथा, जातक कथा आदि इसी युग की देन है। हिंद-यूनानी शासक मिनाण्डर (Menander I Soter : 165/155-130 BCE) और बौद्ध-भिक्षु नागसेन के मध्य हुए संवाद ‘*मिलिन्दपन्ह*’ का प्रकाशन इसी शृंखला की एक कड़ी के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

साहित्यिक प्रगति के साथ-साथ मूर्तिकला व स्थापत्यकला की भी इस काल में व्यापक उन्नति हुई। स्थापत्यकला के अंतर्गत लोक एवं राजकीय— दोनों कला के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इन कलात्मक मानबिन्दुओं पर धार्मिकता का

1. स्वर्णकार, अनिता, *धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण : मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में*, पृ 85

2. वही, पृ 86

प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। राजकीय कला में जहाँ एक ओर बौद्धमत की प्रधानता है तो वहीं दूसरी ओर लोककला में लोकधर्म प्रतिबिम्बित मिलता है। इसके अन्यत्र इस युग में वैदिक धर्म से प्रभावित विविध कलावशेषों के भी दर्शन होते हैं। इस युग की एक प्रमुख विशेषता यह भी रही कि वैदिक धर्म के राजधर्म बन जाने के पश्चात् भी शुंगकाल में बौद्ध-स्तूपों के संरक्षण, संवर्धन और निर्माण का कार्य चलता रहा। इस काल की कला के प्रतीक-चिह्नों के उदाहरण के रूप में बेसनगर का गरुडस्तम्भ और इस युग के गणों एवं नगर-राज्यों पर अंकित विविध प्रकार के चित्र-प्रतीकों, यौधेय सिक्कों पर अंकित ब्राह्मण कार्तिकेय, उज्जैन सिक्कों पर अंकित महाकाल, पाञ्चाल सिक्कों पर अंकित त्रिशूल, आयुध प्रतीकों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

शुंगकालीन लोककला एवं राजकीय संरक्षण में निर्मित कला की दोनों ही रूपों में कल्पना और वास्तविकता एवं मानव और प्रकृति के तत्त्वों का परस्पर समन्वय दिखाई देता है। इस युग में कला के नवीन आयाम विकसित हुए। प्रथम शताब्दी ई पू के कुषाण-शासकों द्वारा अपनी मुद्रा पर शिवनन्दी का अंकन शैव-सम्प्रदाय के प्रचलन का आभास देता है। कुषाणराज कनिष्क बौद्धमत का अनुयायी था। उसने न केवल महायानी बौद्ध-सम्प्रदाय को संरक्षण दिया, वरन् अपनी मुद्राओं पर बुद्ध को अंकित कराकर बौद्धमत में क्रान्ति का सूत्रपात किया। मुद्राओं पर यवन, फ़ारसी, बौद्ध देवी-देवताओं के अंकन के माध्यम से धर्म एवं कला के क्षेत्र में समन्वय एवं सहिष्णुता का नूतन प्रयोग दिखाई देता है।<sup>1</sup> इस काल में जगह-जगह पर बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों व मूर्तियों के निर्माण के प्रारम्भ की दृष्टि से यह काल महत्त्व का कहा जा सकता है। इसी सन्दर्भ में साञ्ची, भरहुत, अमरावती आदि कलाओं का भी उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।<sup>2</sup> इस प्रकार इस युग की कला विविध प्रकार के प्रयोगों और मानकों की स्थापना करती हुई समाज से प्रभावित व समाज को प्रभावित करती दिखाई देती है। अतः यह काल साहित्य एवं कला— दोनों दृष्टियों से अभ्युत्थान का काल कहा जा सकता है।

इस प्रकार *मनुस्मृति* के संकलनकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से स्पष्ट

है कि *मनुस्मृति* का संकलन इस काल की भौगोलिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का परिणाम था। यही कारण है कि उसमें अपने समय व समाज के प्रत्येक घटकों से संबंधित नियमन-संयमन के अनेक नियम-विधान प्राप्त होते हैं एवं उनके उल्लंघन पर दण्डारोपण व दण्ड-व्यवस्था का विधान मिलता है। इससे तात्कालिक न्यायिक एवं दण्ड-प्रक्रिया को समझने में सहायता मिलती है।



1. सिंह, राजकिशोर, *प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति*, पृ 101-102.

2. चौबे, अर्जुन काश्यप, *आदि भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास*, पृ 282

# 4.

## विधि-निषेध : अपराध की प्रारम्भिक अवधारणा

**म**नुस्मृति के अनुशीलन से ऐसा आभासित होता है कि हिंदू जीवन-पद्धति प्रारम्भ से ही आचारमूलक सिद्धान्तों व नियम-विधानों का अनुसरण करती प्रतीत होती है। इसलिए वेदकाल से ही इन विधि-विधानों के क्रियान्वयन व अनुपालन के निमित्त विविध संस्थाओं का गठन व विकास प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में इन संस्थाओं द्वारा क्रियान्वित विधि-विधानों का स्वरूप विधि-निषेधात्मक था। इस रूप में व्यक्ति के जीवन से संबंधित विविध पक्षों के सुव्यवस्थितिकरण के लिए अनेकानेक परम्परामूलक विधान अस्तित्व में आए जिससे समाज का विकास व्यवस्थित व योजनाबद्ध रूप से हो सके। ज्ञातव्य है कि इन नियम-विधानों का समाज और व्यक्ति के बदलते व्यक्तित्व के साथ संशोधन होता रहा और इसी के फलस्वरूप जो नियम-विधान समय के साथ रूढ़ होते गए, उनका मनीषियों के द्वारा अपवर्जन कर दिया गया व नूतन विधिक मान्यताओं का उनमें समायोजन कर लिया गया। इस प्रकार आवश्यकतानुरूप निर्मित हुए नियम-विधानों को विधि-निषेध की

संज्ञा से अभिहित किया गया। इन विधि-निषेधों से एकल व सामूहिक— दोनों ही प्रकार की विधि का बोध होता है जिनसे व्यक्ति के नित्य-प्रतिदिन के क्रियाकलापों को अनुशासित किया जाता है। यद्यपि इस प्रकार के विधि-निषेधों का स्वरूप पूर्ण रूप से परम्परागत होता है तथापि इनका परिगणन सामाजिक विधि के रूप में किया गया। इन विधि-विधानों के उल्लंघन पर राज्य व समाज द्वारा किसी भी प्रकार के दण्ड का अधिरोपण नहीं किया जाता था लेकिन नैतिक दृष्टि से इन्हें करना निषिद्ध माना जाता था।

वस्तुतः इस प्रकार की विधि-निषेधात्मक अवधारणा के पीछे पुण्य-पाप की अवधारणा निहित थी जो शनैः-शनैः अपराध के रूप में परिवर्तित होती गई; लेकिन परिवर्तन के इस क्रम में प्रवृत्तिमार्गी संस्कृति ने अपने मूल वैचारिक सिद्धान्तों के परिवर्तन को स्वीकार नहीं किया। इसलिए किञ्चित् संशोधन-परिवर्धन के साथ अस्तित्वप्राप्त भारतीय मान्यताएँ व परम्पराएँ, जो मनु के काल में विद्यमान थीं, वे आज भी अपनी मूल्यपरकता बनाए हुए हैं। निश्चित ही नियमों का उल्लंघन ही कालान्तर में अपराध का स्वरूप लेता है। इस प्रकार अपराध का प्रत्यक्ष संबंध आचरण की नैतिक संहिता से स्थापित हो जाता है। ग्रन्थ में वर्णित विधि-निषेधों के आधार पर ऐसे ही तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में अपराध के प्रारम्भिक स्वरूप के संक्षिप्त समाकलन की चेष्टा की गई है।

### 4.1 विधि-निषेधों का चिन्तन व स्वरूप

वैदिक व सूत्र-ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्टतः कहा जा सकता है कि अपराधों का प्रारम्भिक स्वरूप विधि-निषेधात्मक था। इन ग्रन्थों में व्यक्ति के नैतिक आचरण को सुदृढ़ बनाने के लिए उसके नित्य-प्रतिदिन के कार्यों को विधि के विविध उपबंधों द्वारा अनुशासित करने का प्रयास मिलता है। मनुस्मृति से इसी प्रकार का भाव स्पष्ट होता है। इसलिए इस ग्रन्थ में व्यक्ति के विधि-निषेधात्मक कृत्यों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। यद्यपि विद्वानों ने मनुस्मृति को विधिक ग्रन्थ की उपमा से अभिहित किया है, किन्तु अभीष्ट निहितार्थ में इसे एक नैतिक संहिता कहना उचित होगा; क्योंकि ग्रन्थ में जिस स्वरूप के अंतर्गत विधि को व्याख्यायित किया गया है, वह सही अर्थों में व्यक्ति के करणीयाकरणीय कार्यों से संबंधित जान पड़ती है। व्यक्ति के लिए क्या करना उचित या अनुचित है, इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थ में विस्तार से मिलता है। मुख्यतः मनुस्मृति कर्मरूपी विधि पर दिया गया आख्यान है और यह विशुद्ध रूप से सामाजिक विधि पर आधारित है

जो व्यक्ति के नित्य-प्रतिदिन के आचरण व विभिन्न विधिरूपी संस्थाओं की परिचायक है। इसलिए ग्रन्थ के प्रारम्भिक अध्यायों में विधि के घटक-तत्त्व के रूप में आचारमूलक कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। निश्चित ही भारत में सामाजिक विधि ही विधि का प्रारम्भिक स्रोत थी। यही बात मनु के उद्धरणों से उभरकर सामने आती है। इसमें कमोबेश आचारमूलक कर्मों के साथ-साथ अपराध व दण्ड-विधान का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में विधि की सर्वत्र व्याप्ति को अंगीकार किया गया है और अपने इस स्वरूप में वह व्यक्ति के नैतिक मूल्यों का समर्थन करती है। यहाँ विधि का उद्देश्य मात्र अपराधों व उसके लिए दिए जानेवाले दण्डों की व्याख्या करना ही नहीं अपितु उन सम्भावनाओं पर विचार करना है जिससे अपराधमूलक परिस्थितियों का निर्माण न हो सके। भारतीय मनीषा की यही उल्लेखनीय विशेषता अन्य प्राक् संस्कृतियों में प्रचलित विधि की तुलना में उसे श्रेष्ठता प्रदान करती है।

मनु ने सामाजिक विधि के अंतर्गत व्यक्ति व समाज के नियमन-संयमन के लिए कर्मरूपी विधि का प्रवर्तन किया है जो अपने विविध घटक-अंग, जैसे—वर्ण, आश्रम, संस्कार, पुरुषार्थरूपी व्यवस्थाओं के द्वारा क्रियान्वित होती है। ज्ञातव्य है कि ग्रन्थ में धर्म को कर्म के रूप में आख्यायित किया गया है। मनु ने धर्म को विस्तृत रूप से गवेषित करते हुए उसका प्रत्यक्ष संबंध व्यक्ति व समाज से स्थापित करने का उल्लेखनीय प्रयास किया है।<sup>1</sup> वस्तुतः इस ग्रन्थ में धर्म को वर्णाधारित कर्म के रूप में विश्लेषित किया गया है। यहाँ धर्म को विस्तृत अर्थ में ग्राह्य करना उचित जान पड़ता है। मनु का धर्म किसी भी रूप में पंथ या सम्प्रदाय का पर्याय नहीं है अपितु यह व्यक्ति के जीवन को नैतिकता में आबद्ध करने-संबंधी एक विशिष्ट आचार-पद्धति है जो समाज के प्रत्येक वर्ग व व्यक्ति पर उसकी मनोवृत्ति के अनुरूप निर्धारित कर्मों का अधिरोपण करती है। मनु का धर्म ओज, संयम व शक्ति का मिला-जुला रूप है जो परलोकवाद पर आधारित न होकर विशुद्ध रूप से कर्मों के यथोचित पालन का मार्ग है। वह किसी भी स्थिति में धार्मिक कर्मकाण्ड एवं जटिलता का समर्थन नहीं करता। वस्तुतः वह सहज कर्मरूपी दिनचर्या की आत्माभिव्यक्ति है। इसके विपरित किए गए आचरण से ही पाप-पुण्य की अवधारणा को बल मिलता है जो शनैः-शनैः अपराध के रूप में परिवर्तित होती है। मनु का स्पष्ट निर्देश है कि जिनका भरण-पोषण करना व्यक्ति

1. मनुस्मृति, 1.2

का कर्तव्य है उनको कष्ट देकर जो परलोकगमन का विचार करता है, वह जीवन यहाँ तक कि मृत्यु के बाद भी दुःख पाता है।<sup>1</sup> मनु का यह मत व्यक्ति के दायित्व-निर्वहन के परामर्श को लेकर है। इन उद्धरणों को बौद्ध मत के विरुद्ध होनेवाली स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में लेना समाचीन जान पड़ता है। तत्कालीन समाज में दोनों सम्प्रदायों के फलस्वरूप निवृत्तिमार्गी परम्परा का प्रचलन बढ़ रहा था। ऐसे में व्यक्ति का वेदानुमोदित व्यवस्थाओं से मोहभंग हो रहा था। इसलिए मनु ने कर्मयोग की प्रासंगिकता पर बल दिया है। मनु वैदिक कर्मयोग के प्रतिपालक हैं।<sup>2</sup> मनु द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग का यह सिद्धान्त दृढ़ संकल्प पर आधारित है और यह संकल्प कामना का प्रतिरूप है। संकल्प से ही सम्पूर्ण यज्ञ, व्रत, तप जीवन की अप्रवाहित शक्तियों का उदय होता है। बिना इच्छा व संकल्प के कोई कार्य नहीं किया जा सकता।<sup>3</sup> अपने इन्हीं शुभाशुभ कर्मों के प्रतिपालन से व्यक्ति जीवन के परम ध्येय चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है।<sup>4</sup>

मनु का धर्म मूलतः कर्मरूपी सरल सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है जो नैतिकता और सम्यक् आचरण की महत्ता को उद्घाटित करता है। मनुस्मृति में संकलित आदर्शपरक विधि-निषेधों की परम्परा वास्तविक अर्थों में लोक-परलोक, संग्रह-त्याग, भोग और वैराग्य-संबंधी कर्मों की परम्परा का प्रस्तुतीकरण है। यह परम्परा व्यक्ति और वर्ण के तदनुरूप लौकिक-पारलौकिक सुख-समृद्धि और अंततोगत्वा आध्यात्मिक दर्शन तक ले जानेवाले विशिष्ट कर्मों के नियोजन का मार्ग है। चातुर्वर्ण्य संगठन के आचार-विचार पर आधारित मनु का धर्म दस नैतिक मूल्यों (विधि) का प्रतिपादन करता है।<sup>5</sup> यही नैतिक मूल्य व्यक्ति को सत्य के अनुगमन के लिए प्रेरित करते हैं। संक्षेप में यही नैतिक मूल्य विधि-निषेध की परम्परा के पर्याय हैं।

इस प्रकार निश्चित रूप से आचारमूलक कर्मों की साधना ही मनु का

1. 'भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।

तदभवत्यसुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥'

—मनुस्मृति, 11.10

2. अग्रवाल, वासुदेवशरण, कला व संस्कृति, पृ 56

3. मनुस्मृति, 3.2, 3, 11

4. वही, 2.5

5. 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥'

—वही, 6.92



धर्म (विधि) है।<sup>1</sup> व्यक्ति का जीवन कर्मप्रधान होता है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने मनु के कर्मरूपी सिद्धान्त को विस्तार से स्पष्ट करते हुए लिखा है— 'कर्म की विभूति ही समाज की चेतना और उसकी अस्मिता है। निष्क्रिय और कर्महीन समाज की संकल्पना ही असम्भव है, किन्तु कर्म का आधार वैज्ञानिक न होने पर कर्म मनमाना हो जाएगा और इस मनमानी से समाज में अराजकता व भय का वातावरण निर्मित होने की सम्भावना बनी रहती है।' कर्तव्याकर्तव्य का अभिधान ही मनु का विधिरूपी धर्म है। अपने इस रूप में मनु का धर्म व्यक्ति के आंशिक कर्मों का लेखा-जोखा नहीं है वरन् यह एक प्रकार की विशिष्ट जीवन-पद्धति है जो व्यक्ति को सत्य के अनुगमन की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार की जीवनशैली में अराजकता, भय, स्वार्थ से पनपी विषम परिस्थितियों का कोई स्थान नहीं है। मनु के शिक्षाक्रम का उद्देश्य डॉक्टर, वकील या इंजीनियर अथवा इनके समान पेशेवर लोग उत्पन्न करना नहीं है बल्कि ऐसे आचारवान् पुरुषों को बनाना है जो शरीर और मन से बलवान् हों, जिनकी अपनी जाति के महान् जीवन में श्रद्धा हो।<sup>2</sup> निश्चित ही नीतिमूलक कर्मों की साधना ही विधि है और अपने इस स्वरूप में वह निर्धारित कर्मों के अनुपालन का पर्याय है। *मनुस्मृति* में विधि-निषेधों की जिस परम्परा को चरितार्थ किया गया है, वह अपने अभीष्ट अर्थों में वर्णानुरूप कर्मों का अनुमोदन करती है।<sup>3</sup> इस प्रकार मनु ने विधि-निषेधों की पूर्वकालिक प्रचलित वैदिक मान्यताओं के बल पर व्यक्ति के संयमन के लिए करणीयाकरणीय कृत्यों का निर्धारण करते हुए ग्रन्थ में उनसे संबंधित मान्य परम्पराओं के सम्पोषण का विधान प्रस्तुत किया है।<sup>4</sup> मनु ने कर्म-संबंधी विधि-निषेधों को व्याख्यायित करते हुए तीन प्रकार के कर्मों के अंतर्गत क्रमशः मानसिक, वाचिक, शारीरिक कर्म व तदनुरूप दस प्रकार के कर्मों को छोड़ने का परामर्श दिया है।<sup>5</sup> इस प्रकार के विशेष प्रयासों को अपराधजनित परिस्थितियों के निराकरण के रूप में देखना युक्तिसंगत होगा।

*मनुस्मृति* मुख्यतः एक विधि-निषेधात्मक ग्रन्थ है। इसमें सामाजिक,

1. *मनुस्मृति*, 1.108
2. *कला व संस्कृति*, पृ. 59
3. *मनुस्मृति*, 1.102
4. *वही*, 1.107
5. *वही*, 12.3-8

धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से प्रवर्तन में लाए जानेवाले व्यक्ति के विभिन्न दायित्वों व कर्तव्यों का सांगोपांग विवेचन मिलता है। निश्चित ही भारतीय परम्परा में व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत तक सामाजिक विधिक परम्पराओं के अंतर्गत जीवन-यापन करने के लिए निर्दिष्ट किया गया है। मनु ने विधि-निषेधों के माध्यम से संशोधन-परिवर्धन के साथ उन्हीं रूढ़ होती मान्यताओं की स्थापना पर बल दिया है। इस प्रकार के विधिक नियमों का संबंध व्यक्तिगत आचरण, कायिक स्वच्छता और शिष्टाचार-जैसे नैतिक मूल्यों के साथ जोड़ा गया है। इस प्रकार के नैतिक कार्यों के अंतर्गत वर्ण-वृत्ति के अनुरूप किए गए कार्य (आपद्धर्म), समयानुरूप किए जानेवाले संस्कार, व्यक्ति के विकास व सुख-समृद्धि, कर्तव्यों के निमित्त सुगठित आश्रम-व्यवस्था और इनसे संबंधित विभिन्न विधिक नियमों, जैसे— शिक्षा का समय, विद्यार्थी की वेश-भूषा, आचार-विचार, रहन-सहन, गुरु-शिष्य परम्परा, गृहस्थ व्यक्ति के कर्तव्य व विधि-विधान, प्रातःकाल के करणीयाकरणीय कृत्यों की वर्जना, शौचादि के लिए निषिद्ध व त्याज्य स्थान, नग्न स्नान की मनाही, यज्ञीय विधि, श्राद्ध-विधि, अतिथि-सत्कार, निर्जन आवास में शयन का निषेध, वेदाध्ययन का समय, धर्मपरायणता व धर्मविरुद्ध आचरण की भर्त्सना, हिंसा के त्याग की अनुशंसा, त्याज्य भोजन, दान से संबंधित निषेध, आंगिक शुद्धता के नियम, पर्यावरण-संबंधी विधि-निषेध, सार्वजनिक स्थानों से संबंधित दायित्वों व कर्तव्यों का निर्धारण-जैसे अनेक सामाजिक कर्तव्यों-अकर्तव्यों को परिगणित किया जा सकता है। ग्रन्थ के समग्र विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति, मान्यताओं में मनु और विधि एक-दूसरे के पर्याय प्रतीत होते हैं। मनु के मुख से अनुमोदित आवश्यक विधि-निषेधों का संक्षेप में वर्णन ही अभीष्ट है।

### (अ) वर्ण-विधि

प्रारम्भ से ही भारतीय समाज का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है, उससे आभासित होता है कि व्यक्ति व समाज के नियमन-संयमन के लिए जिस प्रकार के नियम-विधान अस्तित्व में आए, उनकी आधारिक संरचना का निर्माण वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप हुआ था। वैदिक व ब्राह्मण-ग्रन्थों को इसके प्रमाण के रूप में ग्राह्य किया जा सकता है। *मनुस्मृति* से भी वैदिक वर्ण-व्यवस्था का परिज्ञान होता है। मनु ने ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में उल्लिखित वर्णों की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को महत्ता प्रदान करते हुए उनके व्यवस्थित विधियानुकूल कर्मों

पर बल दिया है। इनमें से प्रथम तीन वर्णों— क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य को द्विज तथा अन्तिम को द्विजेतर शूद्र माना गया है। इसके अन्येतर किसी अन्य वर्ण के अनस्तित्व' के कारण वर्णसंकर-सिद्धान्त की कल्पना की गई और उन्हें इसी चातुर्वर्ण संगठन में स्थान दे दिया गया।<sup>1</sup> इस प्रकार की व्यवस्था से तत्कालीन समाज में होनेवाले सामाजिक परिवर्तनों का स्वाभाविक अनुमान लगाया जा सकता है। *मनुस्मृति* में वर्णानुरूप कर्तव्याकर्तव्य को भी समग्रता के साथ विवेचित किया गया है। वस्तुतः ग्रन्थ में चतुर्वर्णों के निर्धारित कर्मों के पीछे व्यक्ति के गुणों व उसकी मनोवृत्ति (मनसावाचाकर्मणा) को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।<sup>1</sup>

*मनुस्मृति* में व्यक्ति के गुणों के आधार पर वर्णों का निर्धारण करते हुए उनके विधिसम्मत कार्यों को स्पष्ट किया गया है। मनु ने वर्णक्रम से गुण व ज्ञानादि की श्रेष्ठता का अनुमोदन किया है और इस व्यवस्थितिकरण में ब्राह्मण की विद्या से, क्षत्रिय की बल, वैश्य की धनोपार्जन और शूद्र की जन्म से श्रेष्ठता का उद्घोष किया है।<sup>1</sup> इस प्रकार ब्राह्मणों के कर्तव्य के रूप में स्वाध्याय, व्रत, होम, यज्ञादि; क्षत्रियों के कर्तव्य के रूप में प्रजा-रक्षा, अध्ययन, यज्ञ तथा दान करना आदि; वैश्य के कर्तव्य के रूप में पशुओं की रक्षा, दान, अध्ययन, यज्ञ तथा वाणिज्यादि तथा शूद्र के कर्तव्य के रूप में उक्त तीनों वर्णों की सेवा का अनुमोदन किया गया है।<sup>1</sup> वस्तुतः इस ग्रन्थ में समाज के सुव्यवस्थिकरण व आवश्यकता के निमित्त समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है। भारतीय संस्कृति में समाज को एक सावयव शरीर के रूप में मान्यता प्रदत्त की गई है। जिस प्रकार शरीर के सभी अंगों का कार्यों के संपादन में समान महत्त्व होता है तथा किसी एक अंग के बिना जीवन-निर्वाह और शारीरिक क्रियाओं की पूर्णता दुष्कर हो जाती है, उसी प्रकार किसी एक वर्ण के बिना समाज के सफल विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार चतुर्वर्ण समाज के अवयव हैं। ज्ञान या विद्या, शौर्य या

रक्षा या, व्यवसाय या विपणन— ये तीन कार्य स्पष्टतः समाज के प्रमुख कार्य हैं।<sup>1</sup> इन कार्यों के अन्यत्र क्षुद्र कार्यों को क्षुद्र महत्त्व का मानकर, इस कार्य में उन लोगों को नियोजित किया गया जो अपनी अनिपुणता तथा अकुशलता के कारण, क्षुद्र कार्य के अधिकारी हुए और कालान्तर में अपभ्रंशता के कारण 'शूद्र' कहे जाने लगे। श्रम-विभाजन की यह व्यवस्था कुशलता के संवहन से वंशानुगत हो गयी।<sup>1</sup> समाज की यह उल्लेखनीय विशेषता शतियों तक भारतीय समाज के प्रेरक तत्त्व के रूप में विद्यमान रही। *मनुस्मृति* में जिस सामाजिक व्यवस्था को चित्रित किया गया है, उसकी वैदिक मान्यताओं के साथ अभिन्नता दर्शित होती है लेकिन तत्कालीन जीवन पर पड़नेवाले समसामयिक प्रभावों के चलते इस काल में वैदिक व्यवस्थाओं में होनेवाले संशोधन-परिवर्धन को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ग्रन्थ में उल्लिखित वर्णों के निर्धारित कर्मों के अतिरेक आपद्धर्म का (विपत्तिकाल में किए जानेवाले कार्य) उल्लेख हुआ है जो तत्कालीन समाज में होनेवाले परिवर्तन का सूचक है।<sup>1</sup> इस प्रकार की व्यवस्था के गर्भ में वर्ण-परिवर्तन का भाव निहित है।<sup>1</sup> यद्यपि मनु ने निर्धारित कर्मों के अनुपालन पर ही बल दिया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में वर्णानुरूप निर्धारित कार्यों को विधि-निषेधों के द्वारा अनुशासित करने का प्रयास मिलता है।

सामान्यतः ब्राह्मणों से यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान लेना-देना-जैसे कार्यों की अपेक्षा थी, किन्तु इस प्रकार की वृत्ति से जीवन-निर्वाह न होने की स्थिति और निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा के प्रभाव के परिणामस्वरूप ग्रन्थ में आपद्धर्म के रूप में वर्णोत्तर कर्म के संपादन का विधान किया गया है। विषम संकटकालीन परिस्थितियों के अन्यत्र जीविका के साधन के रूप में उनके लिए क्षात्र-धर्म का पालन अनुज्ञेय था।<sup>1</sup> ब्राह्मणवर्णीय पुष्यमित्र शुंग द्वारा राजपद प्राप्त करने के प्रसंग को इस विधान के प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। इसके अलावा वह वैश्य-कर्म— कृषि और वाणिज्य को भी अपना सकता था। यद्यपि मनु ने ब्राह्मण व क्षत्रियों को यथासम्भव कृषि-कर्म न करने का निर्देश दिया

1. 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्योऽस्त्रियो वर्णा द्विजातयः।

चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चम ॥' — *मनुस्मृति*, 10.4

2. *वही*, 10.43-45

3. *वही*, 10.24, 36, 31

4. *वही*, 2.155

5. *वही*, 1.88-91

1. *मनुस्मृति*, 10.79-81

2. चतुर्वेदी, रामगोपाल, *मनु की विधि-संहिता*, पृ 30

3. *मनुस्मृति*, 10.131

4. *वही*, 10.65

5. *वही*, 8.348-349 व 10.81

है।<sup>1</sup> इस प्रकार के निषेधों से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन जीवन में एक वर्ग ऐसा था जो कृषि-कर्म करता था। इसके अलावा *मनुस्मृति* में ब्राह्मणों द्वारा व्यवसाय में क्रय-विक्रय की जानेवाली वस्तुओं का व उससे संबंधित निषेधों का विस्तार से उल्लेख मिलता है। मनु का अभिमत है विषम परिस्थितियों में मांस, लाख व निषिद्ध वस्तुओं का व्यापार करनेवाला ब्राह्मण पतित हो जाता है और क्रमशः तीन व सात दिनों में शुद्र व वैश्यत्व को प्राप्त करता है।<sup>2</sup>

*मनुस्मृति* में द्वितीय वर्ण के रूप में क्षत्रियों से संबंधित अपरिहार्य आपद्धर्म का उल्लेख हुआ है। यद्यपि इस वर्ण के लिए क्षात्र धर्म ही अनुदिष्ट था तथापि संकटापन्न परिस्थितियों में वह ब्राह्मणों के लिए निर्दिष्ट आपद् वैश्य-वृत्ति को अपनाकर स्वयं व परिवार का भरण-पोषण कर सकता था। इस प्रकार वर्ण-परिवर्तन के क्रम में उसे निर्दिष्ट विधि-विधानों का पालन करना होता था। उसे निषिद्ध वस्तुओं के व्यापार की अनुमति नहीं थी। लेकिन उसके लिए किसी भी रूप में ब्राह्मणों के निर्धारित कर्म की वर्जना मिलती है।<sup>3</sup>

ब्राह्मण व क्षत्रिय की तरह वैश्य भी आपत्तिकाल में दूसरे कर्म को अपना सकते थे। यह वर्ण, संकट के समय में निषिद्ध कर्मों को त्यागकर अपने से नीचे वर्ण शूद्र की वृत्ति अपना सकता था। वैश्य के आपद्धर्म पर मेधातिथि ने लिखा है कि शूद्रों की तरह पाद-प्रक्षालन करता था, जूठा खाता था तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य करता था। लेकिन संकट समाप्त हो जाने पर वह इन कर्मों का स्वेच्छा से त्याग कर देता था।<sup>4</sup> यह विधान सभी वर्णों पर समान रूप से लागू होता था किन्तु यह कह पाना कठिन है कि इस प्रकार के नियम व्यवहार में कितने प्रचलन में थे। प्रतीत होता है तत्कालीन समाज में अर्थोपार्जन की वृत्ति बढ़ रही थी और अधिक-से-अधिक धन कमाने की चेष्टा में व्यक्ति द्वारा वर्णानुमोदित व्यवस्था का उल्लंघन किया जा रहा होगा। इन्हीं विषम चेष्टाओं के परिणामस्वरूप इस प्रकार के नियम-विधान अस्तित्व में आए होंगे जिससे समाज की मूल व्यवस्थाओं का स्वरूप बना रहे।

वर्णक्रम के अनुसार समाज में शूद्र को अन्तिम स्थान प्राप्त था और

1. *मनुस्मृति*, 10.82-84
2. *वही*, 10.85-93
3. *वही*, 10.83, 86, 88, 92, 96
4. *वही*, 10.98

उन्हें हेय माना गया है। नियन्त्रित सामाजिक व्यवस्था के समर्थक मनु ने इस वर्ण के अंतर्गत विभिन्न देशी और विदेशी तत्त्वों को सम्मिलित किया है।<sup>1</sup> मनु ने परिचर्या के अन्यत्र शूद्रों को कतिपय शिल्परूपी व्यवसाय को करने का अनुमोदन किया है।<sup>2</sup> इस प्रकार का विधान परिवर्तित होती परिस्थितियों का द्योतक है। शूद्रों के साथ सम्माननीय व्यवहार करने की अनुशंसा मिलती है।<sup>3</sup>

निश्चय ही आपद्धर्म के रूप में अनुमत ये जीविकाएँ वर्णों के लिए विषम परिस्थितियों के लिए अनुमत थीं। यथासम्भव अनुकूलता के समय इस प्रकार का आचरण करना विधि-विरुद्ध माना जाता था। मनु ने बदलते समय के अनुरूप इस प्रकार के विधि-विधानों को प्रासंगिक बनाने के लिए अनेक प्राचीन व वैदिक दृष्टान्तों का उल्लेख किया है<sup>4</sup> जिससे इस प्रकार के लोकहितैषी विधान को जनोपयोगी बनाया जा सके।

## (ब) आश्रम-विधि

*मनुस्मृति* में व्यक्ति व समाज के सर्वतोभावेन विकास के लिए जिस कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उसके क्रियान्वयन के लिए वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न संस्थाओं का विकास होता दिखाई देता है। मनु ने वर्णानुरूप कर्मों की सफलता व व्यक्ति के चहुँमुखी विकास के लिए पुरुषार्थचतुष्टय— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की संप्राप्ति के निमित्त आश्रम-व्यवस्था (विधि) की महत्ता पर बल दिया है। *मनुस्मृति* में आश्रम-विधि के अंतर्गत चार-आश्रमों— क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम व उनसे संबंधित विधि-निषेधों का वर्णन मिलता है। ग्रन्थ में सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का उल्लेख हुआ है। उपनयन-संस्कार से इस आश्रम का प्रारम्भ होता था जो वर्ण के अनुरूप निर्धारित आयु में होता था।<sup>1</sup> वस्तुतः यह आश्रम सभी आश्रमों का प्रवेश-द्वार था जिसमें बालक ज्ञानार्जन के द्वारा अपने भावी भविष्य का निर्माण करता था। गुरुकुल में विद्यार्थियों को तपस्वी जीवन का निर्वाह करना होता था जिससे उनका चारित्रिक विकास हो

1. स्वर्णकार, अनिता, *धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक-विश्लेषण : मनु व याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में*; पृ. 115
2. *मनुस्मृति*, 10.98-100
3. *वही*, 2.238
4. *वही*, 10.105-108
5. *वही*, 2.36

सके। मनु ने गुरु-शिष्य के नियम व कर्तव्यों का विस्तार से उल्लेख किया है। गुरुकुल में शिक्षार्थी के लिए अनुशासन में रहना नियत था। यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख विधि-निषेधों का उल्लेख करना विषयानुरूप होगा। शिक्षार्थी को गुरु-भार्या को गुरु के समान ही मानने का निर्देश था और निर्धारित विधि के अनुरूप ही उसकी वन्दना करना अनुज्ञेय था।<sup>1</sup> भिक्षा माँगने के लिए भी एक व्यवस्थित क्रम का पालन करना होता था।<sup>2</sup>

ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा-याचना का निर्देश सम्भवतः उसमें निरभिमानता की वृद्धि और समदृष्टि के विकास आदि को ध्यान में रखकर किया गया था।<sup>3</sup> भिक्षा के अन्यत्र अन्य कुछ ग्रहण करना निषिद्ध था। अतिभोजन अनारोग्यवर्धक माना जाता था।<sup>4</sup> शरीर-रक्षा के लिए संयमित वेशभूषा का उपयोग करना होता था। ग्रन्थ में अन्य अनुशासनों से संबंधित नियमों का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार के विधि-निषेध शैक्षणिक जीवन के लिए उपयोगी कहे जा सकते हैं और प्रत्येक युग में इनकी प्रासंगिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अलावा शिष्य को आचार्य के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करना होता था। इस प्रकार के विधिसम्मत नियम उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होते थे।<sup>5</sup> इन नियत आचरणों के विरुद्ध कार्य करने पर वह पाप का भागी होता था।<sup>6</sup>

मनु ने आश्रम-विधि में द्वितीय स्थान पर गृहस्थाश्रम को परिगणित किया है। ग्रन्थ में सभी आश्रमों की तुलना में गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का उल्लेख हुआ है क्योंकि इसी आश्रम से अन्य आश्रमों की महत्ता है और गृहस्थाश्रम ही शेष तीनों आश्रम का प्रतिपालक है।<sup>7</sup> ब्रह्मचर्याश्रम की पूर्णता के पश्चात् ब्रह्मचारी को कुल की मर्यादा के अनुरूप विवाह करना अनुदिष्ट था। ग्रन्थ में विवाह के

आठ प्रकारों व उनसे संबंधित नियम-विधानों का विस्तार से उल्लेख है।<sup>1</sup> तत्कालीन जीवन में वर्णानुमोदित विवाह को ही विधिक मान्यता प्राप्त थी।<sup>2</sup> मनु ने श्रमण-वृत्ति के विरोध में गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों पर विशेष बल दिया है। गृहस्थाश्रम की सफलता के लिए पति-पत्नी के आवश्यक कर्मों का भी उल्लेख किया गया है क्योंकि पारिवारिक जीवन की सफलता परस्परिक मधुरता पर ही निर्भर थी। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर पारस्परिक दायित्वों के निर्वहन की अनुशंसा की गई है।<sup>3</sup> इसके अन्यत्र ग्रन्थ में गृहस्थ के अन्य अनुपालनीय कृत्यों का विस्तार से वर्णन हुआ है। मनु ने गृहस्थ के लिए पञ्चमहायज्ञों-संबंधी विधानों का क्रमशः वर्णन किया है।<sup>4</sup> गृहस्थाश्रम में रहकर गृहपति को व्यवस्थानुमोदित विभिन्न कर्तव्यों का निर्वहन करना होता था। इस प्रकार के कर्तव्य जीवन के परम लक्ष्य, जिसे ग्रन्थ में 'मोक्ष' कहा गया है, को प्राप्त करने में सहायक होते थे। गृहस्थ के लिए धार्मिक आधार पर अतिथि-सेवा वाञ्छनीय थी। मनु ने अतिथि-सत्कार-संबंधी नियमों के समुचित पालन का निर्देश दिया है और ऐसे अतिथि की निन्दा की है जो धर्मविरुद्ध होते थे।<sup>5</sup> निश्चय ही इस प्रकार के नियम शिष्टाचाररूपी विधि के पर्याय थे और इन नियमों का वर्तमान में सतत् रूप से अभाव देखने को मिलता है। तत्कालीन सामाजिक विधान के अंतर्गत पितरों की तृप्ति के लिए मासिक श्राद्ध-कर्म करना विधानित था। श्राद्ध-विधि में उपयुक्त ब्राह्मणों व उनकी निश्चित संख्या पर बल दिया गया है। निषिद्ध ब्राह्मणों को श्राद्ध-कर्म में बुलाना सर्वथा अनुचित समझा जाता था।<sup>6</sup>

मनुस्मृति में भरण-पोषण व जीवन-निर्वाहन के निमित्त अपनाई जानेवाली विधिक वृत्तियों का विस्तार से उल्लेख हुआ है।<sup>7</sup> गृहस्थ से संतोषी और संयमित जीवन के निर्वहन की अपेक्षा की जाती थी। विधिसम्मत जीविकोपार्जन ही अपरिहार्य था। निषिद्ध व पापकृत्यों द्वारा किया गया अर्थोपार्जन उचित नहीं

1. मनुस्मृति, 2.210-216

2. वही, 2.48-52

3. स्वर्णकार, अनिता, धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक-विश्लेषण : मनु व याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, पृ. 115

4. मनुस्मृति, 2.56-57

5. वही, 2.194-200

6. वही, 2.202

7. वही, 3.78

1. मनुस्मृति, 3.20-21 व 6-11

2. वही, 3.12

3. वही, 9.101-102 व 3.45

4. वही, 3.69-73 व 4.21

5. वही, 3.102-112

6. वही, 3.125-126, 132; 153-160

7. वही, 4.3-4

माना जाता था।<sup>1</sup> प्रतीत होता था कि मनु का उद्देश्य सात्त्विक, सुदृढ़ समाज का निर्माण करना था। स्वार्थ, भौतिक लिप्सा व अधिक-से-अधिक धनोपार्जन— ये ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे व्यक्ति व समाज के नैतिक पतन होने की सम्भावना प्रबल होती है। इसलिए ग्रन्थ में सदाचारी व संयमित जीवन से संबंधित नियम-विधानों का संकलन मिलता है। इन विधि-निषेधों के अंतर्गत व्यक्ति को ऐसे कार्य से वर्जित किया गया जो प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से समाज को प्रभावित करते हैं।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र *मनुस्मृति* में ऐसे अनेक विधि-निषेधों का वर्णन आया है जो व्यक्ति के निजी जीवन की सुरक्षा के लिए अवश्यम्भावी प्रतीत होते हैं।<sup>3</sup> वस्तुतः यह नियम-विधान व्यक्ति के नित्य-प्रतिदिन के कार्य को अनुशासित करते थे। तत्कालीन जीवन में व्यक्ति से संयमित चारित्रिक आचरण की अपेक्षा की जाती थी।<sup>4</sup> कुछ निषेध सामाजिक संबंधों को लेकर भी निर्धारित थे। तत्कालीन जीवन में अवाञ्छनीय लोगों से मेल-मिलाप या अन्य किसी प्रकार का व्यवहार रखने को हेय माना जाता था।<sup>5</sup> इसके अन्यत्र कुछ विधि-निषेध पर्यावरण, जनोपयोगी सामाजिक-धार्मिक कर्तव्यों व कायिक स्वच्छता को लेकर परिगणित किए प्रतीत होते हैं।<sup>6</sup> ग्रन्थ में पशु-पक्षियों, वनस्पतियों के रक्षार्थ निर्मित निषेधों का उल्लेख हुआ है और इसके लिए प्रायश्चित्त का विधान भी मिलता है।<sup>7</sup> इस ग्रन्थ में सभी प्रकार के हिंसक कार्यों को न करने का निर्देश मिलता है।<sup>8</sup>

*मनुस्मृति* में आहार-विहार-संबंधी नियमोपनियमों का विधान मिलता है। चिन्तकों की दृष्टि में व्यक्ति का आचार-विचार उसके भोजनापान पर निर्भर करता है। व्यक्ति में सत्त्व, रज, तमोगुण का विकास उचित आहार-विहार के अनुरूप ही होता है। इस प्रकार के विधि-निषेधों में भक्ष्याभक्ष्य का विवरण तो है ही साथ ही भोजन की पद्धति, समयादि अनेकानेक पहलुओं पर विचार किया

1. *मनुस्मृति*, 4.15
2. *वही*, 4.34-50
3. *वही*, 4.60-62, 73, 76-77
4. *वही*, 4.64-66, 42, 34, 44
5. *वही*, 4.79, 30
6. *वही*, 4.38, 48, 53, 56, 63, 82, 142-144
7. *वही*, 11.64, 68, 70, 131-132, 142 व 8.285-287
8. *वही*, 4.162-169

गया है।<sup>1</sup> निश्चय ही इन विधि-निषेधों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन जीवनशैली में सत्य, धर्म, सदाचारप्रेरित कर्मों का यथोचित पालन करना ही ध्येय था।

मनु ने गृहस्थाश्रम के पश्चात् शेष दो आश्रमों— वानप्रस्थ व संन्यास से संबंधित विधि-निषेधों की मीमांसा प्रस्तुत की है। वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रम-विषयक विधि-निषेधों में अनेकशः समानता है। इसलिए यहाँ इन दोनों आश्रमों का संयुक्त विवेचन ही अभिप्रेय है। *मनुस्मृति* में ऐसा निर्देश है कि गृहस्थाश्रम की अवधि समाप्त होने के पश्चात् क्रमशः पचास व पचहत्तर वर्ष की आयु में अपनी शिथिल त्वचा, पके श्वेत बाल और पौत्र को देख लेने पर व्यक्ति को सपत्नीक या भार्या को पुत्रों के सपुर्द करके वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम का अनुपालन करना चाहिये।<sup>2</sup> पत्नी को साथ लेने, न लेने जैसे वैकल्पिक मन्तव्य के प्रकाश में ऐसा अनुमान होता है कि वानप्रस्थ या संन्यासाश्रम में पत्नी का प्रवेश आयु और उसकी इच्छा पर निर्भर करता था।<sup>3</sup> यह भी कहा जा सकता है कि स्त्रियों की नैसर्गिक मनोवृत्तियों के अनुरूप यहाँ विकल्प का आश्रय लिया गया है। गृहस्थाश्रम के परित्याग के समय वानप्रस्थी को अपने पास यज्ञ-यागादि के लिए आवश्यक पात्रों तथा जनोपयोगी वस्त्रों को लेकर ग्राम से निकलकर वन में चले जाना चाहिए और वहाँ जितेन्द्रिय होकर साधना करना अनुज्ञेय था।<sup>4</sup> वानप्रस्थी को ग्रन्थ में अनुदिष्ट नियमों का पालन करना अनिवार्य था। इस प्रकार के कृत्यों में पञ्चमहायज्ञ का संपादन, नित्य धार्मिक कार्य, व्रत, यज्ञ, तप, योग-प्राणायाम करना उपदिष्ट था।<sup>5</sup> उसके लिए निर्धारित वेशभूषा विधानित थी।<sup>6</sup> वन, जल में उत्पन्न होनेवाली खाद्य-सामग्री ही उसकी क्षुधा को शान्त करने का प्रमुख साधन थी। अभक्ष्य व कृषि-उपज का उपयोग उसके लिए वर्जित था।<sup>7</sup> वस्तुतः ये दोनों आश्रम जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का साधन थे और

1. *मनुस्मृति*, 5.5-19 व 2.52-57
2. *वही*, 6.2-3
3. स्वर्णकार, अनिता, *धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक-विश्लेषण : मनु व याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में*, पृ. 125
4. *मनुस्मृति*, 6.4
5. *वही*, 6.7-11
6. *वही*, 6.6
7. *वही*, 6.12-21



इस प्रकार के ध्येय को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है इन्द्रियों का निग्रह करते हुए संयमित दिनचर्या का पालन किया जाये। इस प्रकार के निषेध स्वास्थ्य, अध्यात्म व व्यक्तिगत सुरक्षा की दृष्टि से उपयोगी कहे जा सकते हैं। वस्तुतः इन दोनों आश्रमों में कायाक्लेशप्रधान तप व इन्द्रियनिग्रह की प्रधानता थी।<sup>1</sup> इन आश्रमों के अनुयायियों से अहिंसामूलक कार्यों की अपेक्षा की जाती थी जिनमें मांसभक्षण से बचना, देखकर चलना, छानकर जल पीना, सत्य सम्भाषण आदि अनुमत था।<sup>2</sup> ऐसा आभासित होता है कि ये दोनों आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम की पुनरावृत्ति थे।

इस प्रकार मनु ने वर्णाश्रम-विधि में अंतर्निहित विविध विधिक उपबन्धों के माध्यम से पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के अनुरूप व्यक्ति के सर्वतोभावेन विकास एवं उसके आचरण को संयमित करने का विशेष प्रयास किया है जो भारतीय संस्कृति व जीवनशैली के योग्य भी लगता है। इस प्रकार के सामाजिक विधिक उपबन्धों से उच्च कोटि की नैतिकता का भाव प्रदर्शित होता है। विधि-निषेधों की परम्परा से स्वतः स्पष्ट होता है कि तत्कालीन जीवन में व्यक्ति के नैतिक आदर्शों को प्रधानता दी गई है। इसलिए प्राचीन भारत में, विशेषकर मनुस्मृति के संहिताबद्ध होने के काल में अपराध व पापमयी कृत्यों का स्वरूप वैसा नहीं था जैसा वर्तमान में दिखाई देता है। इसलिए किसी भी प्रकार की विधिक संहिता की आवश्यकता को भारतीय जीवन-पद्धति में महसूस नहीं किया गया। सामाजिक विधि-विधान ही विधि व आचरण के पर्याय थे।

## 4.2 विधि-निषेधों का विश्लेषण

मनुस्मृति में संकलित हुए विधि-निषेधों की परम्परा से विधि के निषेधात्मक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। निश्चय ही इस प्रकार के कृत्य, जो विधि के द्वारा निषिद्ध होते हैं, उनका स्वरूप विशुद्ध अर्थों में सामाजिक व धार्मिक होता है, लेकिन प्रथमतः अपने विशिष्ट निहितार्थ में इस प्रकार के विधि द्वारा अनुशंसित कार्य व्यक्ति के ऐहिक आमुष्मिक सुख-समृद्धि के द्योतक होते हैं। द्वितीयतः इस प्रकार के विधि-निषेध व्यक्ति की सुरक्षा, स्वास्थ्य, दायित्वों, अधिकारों, कर्तव्यों का सृजन करते हैं।<sup>3</sup> वस्तुतः अपने वैशिष्ट्यभाव में विधि-निषेधों की यह परम्परा

1. मनुस्मृति, 6.22-32
2. वही, 6.38, 42-43, 46-49, 60, 64, 68
3. वही, 4.54, 77

व्यक्ति के विधियानुकूल वृत्ति व आचरण का परिचायक है। ग्रन्थ में वर्णित विविध विषयों से संबंधित विधि-निषेधों में आपसी सामञ्जस्य परिलक्षित होता है। मनु विविध विधिक उपबन्धों के माध्यम से व्यक्ति को सत्यथ के अनुगमन का परामर्श देते हैं। उपर्युक्त विधि-निषेधों में परस्पर विषमांगिता है; कहीं पर टोटके-अमने से प्रतीत होते हैं, कहीं उनमें पर्यावरण के प्रति उद्भेदन है; कहीं वे आयुर्वेदीय या ज्योतिषीय महत्त्व के प्रतीत होते हैं तो कहीं केवल शकुनविद्या से प्रसूत हुए लगते हैं, किन्तु अनावश्यक और निरर्थक ये किसी भी भाँति सिद्ध नहीं होते।<sup>4</sup> मनु का अभिमत है कि ये आत्मकल्याण के निमित्त हैं।<sup>5</sup> इस प्रकार के विधिसम्मत नियमों की अवेहलना का व्यवहार प्रत्येक युग में अशिष्ट माना जाता है। अशिष्टता व अनैतिक आचरण ही कालान्तर में पापकृत्यों व अपराध के विषय के रूप में परिवर्तित होता है।

यद्यपि इस ग्रन्थ में विधि-निषेधों का वर्णन उदाहरणात्मक रूप में किया गया है तथापि उपर्युक्त निषेधात्मक विधियाँ औपचारिक तथा केवल व्यक्तिसः है। इन विधियों को शिष्टाचारी विधि के रूप में इसलिए अभिहित किया गया है ताकि इस प्रकार के नियमों के उल्लंघन पर राज्य व समाज द्वारा किसी भी प्रकार का दण्ड देय नहीं होता है। शिष्टाचार का पालन व्यक्ति स्वेच्छा से करता है लेकिन उससे यह अपेक्षा की जाती है वह अन्यजनों के साथ शिष्ट व्यवहार करे। मनु ने उक्त शिष्टाचाररूपी विधि को प्रत्यक्ष रूप से आत्मज्ञान व आत्मगुणों के साथ सम्बद्ध किया है।<sup>6</sup> इसके अन्यत्र उन्होंने सत्त्व, रज व तमोगुण की वृत्तियों व उसके परिणामों को स्पष्ट किया है।<sup>7</sup> मनु की यह गुणात्मक विचारणा किसी भी रूप में काल्पनिक नहीं है बल्कि यह यथार्थता व वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। यह एक सर्वमान्य सत्य है कि व्यक्ति जैसा आहार-विहार, रहन-सहन का पालन करता है, उसका व्यक्तित्व भी वैसा होने लगता है। मनु अपने इन विधि-निषेधों के माध्यम से व्यक्ति के आत्ममूल्यांकन पर बल देते हैं क्योंकि आत्ममूल्यांकन से ही व्यक्ति अपनी बुराइयों पर विजय प्राप्त कर सकता है।<sup>8</sup> ग्रन्थ

1. चतुर्वेदी, रामगोपाल, मनु की विधि-संहिता, पृ. 261
2. मनुस्मृति, 4.35
3. वही, 12.24, 85
4. वही, 12.26-35
5. वही, 12.118-119

में इस रूप में वर्णित हुई विधियों की उपादेयता को सांकेतिक रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इन सांकेतिक विधियों पर विचारपूर्वक मनन करने से उनकी गुणधर्मिता व उपयोगिता को समझना सरल हो जाता है। इन विधि-निषेधों के अस्तित्व में आने के लिए कोई ऐतिहासिक घटना के उत्तरदायी होने का अनुमान लगाया जा सकता है।<sup>1</sup>

मनुस्मृति से जिस समाज का चित्रण उपलब्ध होता है, उसमें वैदिक नियमों के पुनर्स्थापन के रूप में व्यक्ति के लौकिक व पारलौकिक जीवन को नियोजित करने का यथासम्भव प्रयास मिलता है। जीवन के विभिन्न कार्यों का संपादन, सामाजीकरण एवं नैतिक जीवन-यापन की प्रक्रिया की दृष्टि से व्यक्ति के जीवन को संयमित किया गया है। इसके अनुरूप व्यक्ति सामाजिक व धार्मिक व्यवस्थाओं का पालन करता था। वस्तुतः मनु ने वर्णाश्रम-विधि के द्वारा ही समाज के सुव्यवस्थिकरण का प्रयास किया है। ग्रन्थ में जिन विधि-निषेधों का उल्लेख हुआ है, वह सारतः इन दोनों व्यवस्थाओं के अनुपालन से संबंधित है। किसी भी रूप में इन दोनों क्रमशः वर्ण व आश्रम-व्यवस्थाओं को विधि से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता क्योंकि ग्रन्थ में जहाँ कहीं भी विधि का उल्लेख मिलता है, वहाँ विधि के साथ इन दोनों व्यवस्थाओं के समायोजन का भाव प्रदर्शित होता है।

इस विषय में निष्कर्षतः यह कहना ही विधियानुरूप होगा कि मनु ने विधि-निषेधों की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उसे अपराध की प्रारम्भिक अवधारणा के रूप में ग्राह्य करना यथोचित होगा। इस प्रकार के विधि-निषेधात्मक कृत्यों के उल्लंघन से निर्मित परिस्थितियों का प्रगत रूप ही पाप अपराध कहलाता है। यही कृत्य अपने उत्तरोत्तर स्वरूप में युग व प्रकृति के अनुरूप 'पाप', 'महापातक', 'उपपातक' और कालान्तर में 'अपराध' कहलाते हैं जो सामाजिक व राजकीय विधि के द्वारा दण्डनीय होते हैं।

### 4.3 महापातक व पातक—संबंधी अवधारणा

प्राचीन धर्मग्रन्थों में मनुस्मृति को विधिक व दण्ड-संहिता की उपमा से अभिहित किया गया है। यद्यपि ग्रन्थ की विषय-वस्तु के रूप में इसमें अपराध व दण्ड-विधान का उल्लेख मिलता है, तथापि साथ ही इसमें मानवीय जीवन के

विविध पक्षों से संबंधित अनेकानेक पहलुओं की समुचित व्याख्या भी मिलती है। मानवीय जीवन से संबंधित नित्य-प्रतिदिन के करणीयाकरणीय कृत्यों का इस ग्रन्थ में निर्वचन किया गया है। इसलिए इस ग्रन्थ को नैतिक आचारसंहिता कहा गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ में वर्णित विधि-निषेधों के स्वरूप व चिन्तन से स्वतः ही स्पष्ट होता है कि तत्कालीन विशृंखलित होते सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक परिदृश्य में व्यक्ति को अनुशासित करने के निमित्त मनु ने नित्योपयोगी विधिसम्मत कृत्यों के किए जाने की अनुशंसा की है। वास्तव में यह विधि-निषेध ही अपराध की पूर्वपीठिका का निर्माण करते हैं। वस्तुतः यह अपराध की प्रथम अभिव्यक्ति है। यह कहना भी तर्कसंगत होगा कि मनुस्मृति एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है और इसमें अपराध व दण्ड-विधि का एक क्रमिक ऐतिहासिक विकासक्रम देखने को मिलता है।

मनुस्मृति वैदिक ग्रन्थों में वर्णित मान्यताओं, परम्पराओं की पुनर्स्थापना का सुफल है। इसलिए मनु ने अपने चिन्तन के द्वारा वैदिक विधि-निषेधों को युगानुरूप व्याख्यायित करते हुए तात्कालिक जीवन के विशृंखलित स्वरूप के व्यवस्थितिकरण का प्रयास किया है। मनु ने अपनी विधिक संहिता के माध्यम से वैदिक अनुशासन के क्रियान्वयन व प्रसार पर विशेष बल दिया है और युग के प्रभाव के चलते इन वैदिक विधिक उपबन्धों का परिमार्जन करते हुए उन्हें पाप-पुण्य की अवधारणा के अंतर्गत परिगणित कर लिया।

ग्रन्थ में पाप-पुण्य के चिन्तन व उसके क्रमिक विकास को विस्तार से वर्णित किया गया है। वैदिक व सूत्रकाल में कर्म-अकर्म की भावना के कारण महापातक व पातक-संबंधी अवधारणा अस्तित्व में आ चुकी थी। मनुस्मृति में इसी महापातक-पातक संबंधी विचार को विस्तार से उल्लिखित करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि मनु ने ग्रन्थ के 9वें व 11वें अध्याय में इन पापमय अभिव्यञ्जनाओं को संकलित किया है, तथापि ग्रन्थ के प्रारम्भिक अध्यायों में ही पापमय कृत्यों की प्रकृति को विश्लेषित किया गया है। निश्चय ही इन कृत्यों को यहाँ पातक की श्रेणी में परिगणित नहीं किया गया है, लेकिन इन विधि-निषेधात्मक कृत्यों की प्रकृति पापमय ही प्रतीत होती है। इन पापमय कृत्यों के परिमार्जन व उनसे शुद्धि के निमित्त ग्रन्थ में सामाजिक-धार्मिक विधि के द्वारा क्रियान्वित होते दण्ड-विधान (प्रायश्चित्त) का सविस्तार वर्णन मिलता है। यहाँ महापातक व पातक-संबंधी अवधारणा व उनके लिए किए जानेवाले प्रायश्चित्तों

1. मनुस्मृति, 10.105-108

की विवेचना ही अभीष्ट है।

### 4.3 पातक व महापातक—संबंधी विधान

पाप या पातक को निश्चित शब्दों में परिभाषित करना दुष्कर कार्य है। 'पाप' या 'पातक' ऐसा शब्द है जिसका संबंध आचारशास्त्र की अपेक्षा धर्म से अधिक है। सामान्यतया शास्त्रानुमोदित कार्यों को न करना व शास्त्रनिषिद्ध कर्म करना ही पाप कहलाता है।<sup>1</sup> किसी भी रूप में इसका संबंध राजकीय विधि के साथ स्थापित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इस परिभाषा के अंतर्गत उन कृत्यों को समाहित किया जा सकता है जो मूलरूप से सामाजिक आचार-व्यवहार के विरुद्ध किए जाते हैं। इसके अन्यत्र ऐसा भी माना जा सकता है कि पाप ऐसा कृत्य है जो समाज द्वारा मान्य किसी व्यवहार (क़ानून) के उल्लंघन अथवा जान-बूझकर उसके विरोध से उद्भूत होता है और इसका सीधा संबंध ईश्वरविरोधी कार्यों के साथ जोड़ा जाता है। इसके अलावा पातक, अपराधों का नैतिक दृष्टिकोण से किया गया नामकरण है।<sup>2</sup> व्यक्ति अपने स्वभावगत आचरण व वृत्तियों के चलते ऐसे अनेक कार्य करता है जिनका अनुमोदन शास्त्र-परम्परा से नहीं होता। वह अनेक ऐसे कार्य भी किसी कारण से नहीं करता है जिन्हें उसे शास्त्राज्ञा मानकर करना चाहिये।<sup>3</sup> इस प्रकार धर्मानुमोदित (विधिक नियमों) नैतिक मूल्यों एवं मर्यादाओं के विरुद्ध किया गया आचरण ही पाप का पर्याय है, और जो इस प्रकार के कार्यों को करता है, उसे 'पातक' समझना चाहिये।

मनुस्मृति में विषयों में लिप्त इच्छाओं और धर्म के विपरीत किए गए आचरण को पाप का कारण माना गया है।<sup>4</sup> याज्ञवल्क्य भी इसी मत के पक्ष में दिखाई देते हैं।<sup>5</sup> मनुस्मृति में महापातकों व पातकों की संख्या पर गुणात्मक विचार किया गया है। मनु ने एक स्थल पर चार व एक अन्य उद्धरण में पाँच महापापियों

का उल्लेख किया है।<sup>6</sup> इस प्रकार के संख्यात्मक विभेद पर युग व तत्कालीन समसामयिक वातावरण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके अलावा ग्रन्थ में उपपातकों, जिनकी संख्या 49 है व अन्य पापों से संबंधित विधान मिलता है। मनु ने ब्रह्मघाती, सुरापान, स्वर्ण आदि की चोरी, गुरुस्त्रीगमन व इनके सम्पर्कजनित सहयोगियों को महापातक माना है। यहाँ प्रथमतः महापातकों की विवेचना ही अभिदेह है।

### 1. ब्रह्महत्या

प्रारम्भ से ही चार्तुवर्ण्य व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत वह आदरणीय, पूजनीय माना गया है। इसलिए तीनों वर्णों को उसके प्रति विनयवन्त या श्रद्धावान् रहने का निर्देश मनुस्मृति के साथ-साथ अन्य ग्रन्थों में मिलता है। इसी के फलस्वरूप उसकी हत्या, यहाँ तक कि उसे चोट पहुँचाना, अपशब्द कहना या उसके साथ किए गए किसी भी अन्य प्रकार के अभद्र व्यवहार को ग्रन्थ में दण्डनीय माना गया है।

मनुस्मृति में ब्रह्महत्या और उस अपराध के समीपस्थ प्रतीत होनेवाली अन्य कतिपय विवादित दशाओं, जैसे— मिथ्या साक्ष्य, गुरु पर झूठा दोषारोपण व मिथ्या हठ करना, धरोहर का गबन, स्त्री और मित्र की हत्या, स्वयं की स्वार्थ-पूर्ति के लिए झूठ बोलना, राजा से चुगली करना को इस जघन्य पापमयी कृत्य के रूप में उल्लिखित किया गया है।<sup>1</sup> इस उद्धरण से यह सम्भावना फलीभूत होती है कि तत्कालीन समाज में इस प्रकार की अपराधोन्मुखी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही थीं। इसलिए ग्रन्थ में ब्रह्महत्या-जैसे अपराध के साथ-साथ अन्य अपराधों का इसमें समायोजन कर लिया गया। मनु ने किसी भी स्थिति में ब्राह्मण की हत्या न किए जाने की अनुशंसा की है, लेकिन आत्मरक्षा, स्त्रियों, ब्राह्मणों, वर्ण, आश्रम-धर्म (विधि) की रक्षार्थ की गई ब्रह्महत्या को विधियानुकूल माना है।<sup>2</sup> उक्त अपराध के लिए मनुस्मृति में विधिसम्मत प्रायश्चित्त करने का विधान मिलता है जिसकी आगे युक्तिसंगत विवेचना की जायेगी।

1. दुबे, राजदेव, स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति : याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, पृ 164
2. आर्य, भारती, स्मृतियों में नारी, पृ 229
3. दुबे, राजदेव, स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति : याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, पृ 164
4. ठाकुर, लक्ष्मीदत्त, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ 61
5. मनुस्मृति, 12.52
6. याज्ञवल्क्यस्मृति, 3.219

1. मनुस्मृति, 9.235; 11.54
2. वही, 11.55, 88
3. वही, 8.249, 351

## 2. सुरापान

तत्कालीन समाज में मद्यपान या सुरापान को भी गम्भीर अपराध माना जाता था। प्रतीत होता है कि इस कालविशेष में इस प्रकार की बुराइयाँ समाज में अधिकाधिक मात्रा में प्रचलन में थीं। इसका कारण विदेशी आक्रमण या वैदिक-अवैदिक जातियों का आपसी सम्मिश्रण ज्ञात होता है। वस्तुतः यह एक सामाजिक व धार्मिक बुराई थी जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव सामाजिक व धार्मिक व्यवस्थाओं पर होता था। वर्तमान में भी इस पापवृत्ति के दुष्परिणाम देखने को मिलते हैं। मनु ने वेदों को न पढ़ना, मिथ्या साक्ष्य, मित्र की हत्या तथा निन्दित और अभक्ष्य पदार्थों का उपयोग— इन छः दोषमूलक प्रवृत्तियों को इसी पाप के रूप में उल्लिखित किया है।<sup>1</sup> इस अपराध के प्रायश्चित्त के रूप में मुख्यतया मद्यपान का चिह्न अंकित करके दोषी को घर से निकालना विधानित था।<sup>2</sup>

## 3. स्वर्णादि की चोरी

यद्यपि *मनुस्मृति* के उद्धरणों से चोरी पर व्यापक प्रकाश पड़ता है और ग्रन्थ में इस अपराध व उसके लिए दिए जानेवाले दण्डों का पृथक् वर्णन मिलता है। स्वर्ण-चोरी को महापातक के रूप में उल्लिखित करने के पीछे मनु का आशय इसे एक सामाजिक बुराई के रूप में निरूपित करना परिलक्षित होता है। सम्भवतः ऐसा भी हो सकता है कि तत्कालीन जीवन में स्वर्ण-मुद्राओं के प्रचलन के कारण स्वर्ण-चोरी को राजकीय अपराध के रूप में परिगणित कर लिया गया हो। मनु का मत है कि धरोहर, पशुओं (घोड़ा), भूमि (अतिक्रमण), रत्नाभूषण की चोरी करनेवाले व्यक्ति को महापातक जानना चाहिये।<sup>3</sup> इस महापाप के लिए दण्ड के रूप में मृत्युदण्ड का प्राथमिकता से उल्लेख किया गया है।

## 4. गुरुस्त्रीगमन या व्यभिचार

*मनुस्मृति* में गुरुपत्नी के साथ किए गए किसी भी प्रकार के यौनाचार या शारीरिक संसर्ग को अनुचित मानते हुए उस कृत्य के लिए उत्तरदायी व्यक्ति को महापातक माना है। पारिभाषिक स्वरूप में गुरुपत्नी से आशय केवल गुरु की भार्या से नहीं, बल्कि व्यक्ति की सामाजिक गुरुता से है। इस मंतव्य की पुष्टि ग्रन्थ के उस

1. *मनुस्मृति*, 11.56

2. *वही*, 9.283

3. *वही*, 9.57

उद्धरण से होती है जिसमें स्वयंनि बहन, कन्या, चाण्डाली, मित्र तथा पुत्र की स्त्री के साथ अवैधानिक सम्पर्क करनेवाले व्यक्ति को महापापी माना गया है।<sup>1</sup> यहाँ इन उद्धरणों को संकेत के रूप में ग्राह्य करना समीचीन जान पड़ता है क्योंकि *मनुस्मृति* में स्त्रियों के प्रति पूजनीय भाव मिलता है। इस प्रकार के कृत्य को करनेवाले महापापी के मस्तक पर भग का चिह्न अंकितकर उसे देश-निर्वासन या मृत्युदण्ड दिया जाना विधानित था।

## 5. महापातकी संसर्ग

तत्कालीन जीवन में महापातकियों या अपराधी के संसर्ग को भी दोषवह माना गया था। वैसे यह एक सामान्य नियम है कि व्यक्ति पर संगति का अनूकूल प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार के विधिक नियम प्रत्येक काल के लिए उपयोगी होते हैं। वर्तमान में भी बुरे लोगों की संगति को अच्छा नहीं माना जाता है। मनु ने उन कतिपय परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिन्हें इस अपराध के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है।<sup>2</sup> स्त्रियाँ भी इस अपराध के लिए समान रूप से दोषी होती थीं। पाप या अपराध में रत व्यक्तियों से सभी प्रकार के लोक-व्यवहारों व संबंधों का परिच्छेदन ही इस पापमय कृत्य से सुरक्षित रहने का एकमात्र उपाय होता है।<sup>3</sup>

## उपपातक

इन पाँच महापातकों के अन्यत्र ग्रन्थ में अन्य उपपातकों (लघु अपराधों) का विस्तार से वर्णन हुआ है। स्पष्टतः सामाजिक पुनर्स्थापन के इस काल में समाज-जीवन के विविध पक्षों पर बौद्ध व जैन मत के विरुद्ध होनेवाली प्रतिक्रिया का प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार समाज को वैदिक नियम-विधानों से संयमित करना ही ग्रन्थ के निर्वचन का मुख्य उद्देश्य था। मनु के मतानुसार गोहत्या, अयाज्य याजन (पतित ब्राह्मणों से यज्ञ कराना), परस्त्रीगमन, आत्मविक्रय; गुरु, माता-पिता का त्याग; वेदाध्ययन और यज्ञों का त्याग, बड़े भाई के अविवाहित होने की दशा में विवाह करना (परिवेत्ता), परिवित्ति (छोटे भाई के विवाहोपरान्त बड़े भाई का अविवाहित रहना)—जैसे परिवारों से वैवाहिक संबंध बनाना, कन्या पर मिथ्या चरित्र का दोषारोपण, सूदखोरी, व्रत को नष्ट करना,

1. *मनुस्मृति*, 11.58, 170

2. *वही*, 11.180

3. *वही*, 11.184

उद्यान, स्त्री, संतानों का विक्रय, यज्ञोपवीत का समयानुरूप न होना, संबंधियों का त्याग, सवैतनिक अध्ययन व अध्यापन, निषिद्ध वस्तुओं का व्यापार, धातुओं की खानों का छल से उपभोग, पत्नी से निषिद्ध कर्म करवाकर जीवन-निर्वाह करना, वशीकरण, जादू-टोने का उपयोग, पर्यावरण को क्षति पहुँचाना, स्वयं अपने ही निमित्त पापकर्म (जो देव और पितरों के निमित्त न हो)<sup>1</sup> अभक्ष्य पदार्थों का सेवन, यज्ञों का निष्पादन न करना, चोरी, ऋण न चुकाना, वर्जित साहित्य का अध्ययन, नृत्य, गायन, वादनादि निषिद्ध कर्म करना, विविध धातुओं और पशुओं की चोरी, मद्यप स्त्री से सम्भोग, स्त्री और चारों वर्णों की हत्या व वैदिक धर्म में अनास्था-जैसे कृत्यों को करनेवाले व्यक्तियों पर उपपातक का दोष लगता है।<sup>2</sup> प्रकारान्तर से याज्ञवल्क्य ने भी संशोधन-विस्तार के साथ उक्त उपपातकों की सूची को मान्य किया है।<sup>3</sup>

समकालीन जीवन में इन अकरणीय कृत्यों के रूप में इन विधिविरुद्ध कार्यों को न करने का संकेत मिलता है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में समाज-जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं दिखाई देता जिसे धर्मरूपी विधि के द्वारा शासित नहीं किया गया हो। यही बात अकरणीय कृत्यों के रूप में अपराध व दण्ड-विधान पर भी समान रूप से लागू होती है। मनु द्वारा प्रतिपादित ऐसे निषिद्ध कर्मों के पीछे मुख्यतः नैतिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि विद्यमान थी जिसका उद्देश्य यथासम्भवतया व्यक्ति में चारित्रिक व नैतिक गुणों का विकास करना था। इसके अन्यत्र *मनुस्मृति* में जातिर्भ्रंशकर(जाति से पदच्युत करनेवाले कार्य), वर्णसंकर व मलावहम् (मलीनता)-जैसे अन्य कार्यों को इसी सूची के अंतर्गत परिगणित किया गया है।

### 1. जातिर्भ्रंशकर, वर्णसंकर व अपात्रीकरण ( मलावहम् )

तत्कालीन समाज में विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण व विदेशी आगन्तुकों के वैदिक समाज में सम्मिलन-जैसी समस्या विद्यमान थी। इन्हें भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा से जोड़ते हुए इन समाजों में वैदिक संस्कृति का प्रसार ही मनु का प्रमुख ध्येय था। इसलिए इस कालविशेष में जाति व वर्णसंकरता को रोकने के निमित्त

1. *मनुस्मृति*, 3.182

2. *वही*, 11.59-66

3. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 3.229-236 पर विश्वरूप का भाष्य

विभिन्न प्रकार के नियम-विधान अस्तित्व में आए जिनका इस ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में संकलन कर लिया गया। मनु ने कुछ दोषों, यथा— ब्राह्मण को कष्ट देना (वाक्पाारुष्य व दण्डपाारुष्य), निषिद्ध वस्तुओं को सूँघना या उनका सेवन करना, धोखा, छल, कपट, अस्वाभाविक यौन-सम्पर्क या समलैंगिकता-जैसे पापकृत्यों को जाति से भ्रष्ट करनेवाले कृत्यों के रूप में वर्णित किया है।<sup>1</sup> *मनुस्मृति* से इतर ग्रन्थों से भी इस विधान की पुष्टि होती है।<sup>2</sup> इसी प्रकार के अन्य पापमूलक कार्यों में बन्दर, घोड़ा, आदि अन्य जानवरों को मारने से व्यक्ति वर्णच्युत हो जाता है।<sup>3</sup> इस प्रकार के नियमों को वन्य-प्राणियों की सुरक्षा के रूप में लेना श्रेयस्कर होगा। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि वर्तमान वन्यप्राणी सुरक्षा-अधिनियम (1972) से पूर्व प्राचीन विधिक संहिता में इस प्रकार के नियम-विधानों को स्थान दिया गया था। इसके अलावा ग्रन्थ में कुछ निन्दित कृत्यों (दोषपूर्ण आचरण के पर्याय) को संपादित करनेवाले लोगों को भी अपात्रों की श्रेणी में रखा गया है।<sup>4</sup>

इस प्रकार तत्कालीन जीवन में व्याप्त शंका-कुशंकाओं और उनके निवारण का प्रयास *मनुस्मृति* में मिलता है। यह समय उस कालावधि का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें व्यक्ति और समाज की सुरक्षा का प्रश्न वैदिक अनुयायियों के समक्ष था। विशृंखलित होती इन परिस्थितियों में समाज को नैतिक आधार प्रदान करते हुए विधिक व्यवस्थाओं को प्रासंगिक बनाने का महनीय प्रयास *मनुस्मृति* में देखने को मिलता है। वस्तुतः ग्रन्थ में वर्णित महापातक व उपपातक-जैसी वैचारिक अवधारणा से तत्कालीन समाज में दोहरी विधिक प्रणाली के प्रचलन में होने का आभास होता है क्योंकि मनु ने इन पापमय कृत्यों में से अधिकांश का उल्लेख अपनी अपराध-सूची में किया है। वैसे तो इस प्रकार के कृत्य प्रत्येक युग में निन्दनीय होते हैं। इस प्रकार के पापमूलक कृत्यों का संबंध समाज से जोड़ने के पीछे सम्भवतः यह निहितार्थ था कि व्यक्ति को इन पापकृत्यों के कारण समाज से बहिष्कृत किया जाता था। यद्यपि इन अपराधों पर राजकीय दण्ड-विधान भी लागू होता था तथापि इस प्रकार के दण्डों को भोगने के

1. *मनुस्मृति*, 11.67

2. *अग्निमहापुराण*, 168.37-38; *विष्णु.*, 38.1.6

3. *मनुस्मृति*, 11.68

4. *वही*, 11.69



पश्चात् भी इस प्रकार के पापों के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को सामाजिक बहिष्कार से मुक्ति पाने व पुनः समाज में सम्मिलित होने के लिए अनेकानेक प्रायश्चित्तों को करना होता था जिससे इनकी आत्मिक व शारीरिक शुद्धि हो सके व इन्हें समाज के अभिन्न अंग के रूप में पुनः स्वीकार्य किया जा सके।

#### 4.4 प्रायश्चित्त-विधान

भारतीय परम्परा में यह मान्यता रही है कि भले ही पाप ज्ञात या अज्ञात अवस्था में किया जाए किन्तु दोषी को उसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। *मनुस्मृति* से भी इसी मान्यता के निर्वहन का भाव प्रदर्शित होता है। पाप की प्रतिक्रिया दो स्वरूपों के अंतर्गत होती है। प्रथमतः तो पाप का परिणाम नरक को भोगनेवाला होता है द्वितीयतः उसका प्रभाव समाज में उसके व्यवहार को सीमित करनेवाला होता है। इन परिणामों व कुप्रभावों से निर्वृत्ति के निमित्त प्रायश्चित्त किया जाता है। इसी आधार पर विद्वानों ने प्रायश्चित्त के भी दो प्रकारों का उल्लेख किया है। एक नरक से बचानेवाला तो दूसरा व्यवहार को शुद्ध करनेवाला।<sup>1</sup> उपपातकों में प्रायश्चित्त के द्वारा निष्कृति हो जाती है (पापी नरकगमन की आशंका से मुक्त हो जाता है) तथा वह समाज में पुनः व्यवहार के योग्य माना जाने लगता है।<sup>2</sup> किन्तु ज्ञानतः किए गए महापापों के प्रायश्चित्त करने से दोषी व्यवहार करने योग्य हो जाता है लेकिन वह पाप के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाता है।<sup>3</sup>

*मनुस्मृति* में अपराधी की पुनः सामाजिक स्वीकार्यता को ध्यान में रखते हुए अनेकानेक प्रायश्चित्तों का विधान मिलता है। यद्यपि पापमयी परिणामों के दुष्प्रभावों को कम करने के उद्देश्य से दण्ड के प्रथम पर्याय के रूप में प्रायश्चित्तों का विधान वेदकाल से ही दिखाई देने लगता है। यहाँ *मनुस्मृति* में वर्णित प्रायश्चित्त की विवेचना ही उद्देश्य है।

*मनुस्मृति* में 'प्रायश्चित्त' शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या मिलती है। मनु ने प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति प्रायः (अर्थात् तप) एवं चित्त (अर्थात् संकल्प या दृढ़ विश्वास) से मानी है जिसका अभिप्रायः तप करने के संकल्प से है या इस विश्वास

है कि इससे पापमोचन होगा।<sup>4</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी पापपूर्ण या निषिद्ध कर्म के परिपालन के पश्चात् संकल्प-शक्ति से स्वयं के आत्मोद्धार के निमित्त किया जानेवाला तप या अनुष्ठान ही प्रायश्चित्त कहलाता है। तप को यहाँ विशिष्ट कर्मों, यथा— सम्यक् त्याग, संकल्प, वैराग्यादि के रूप में लेना विषयानुकूल होगा क्योंकि शास्त्रोक्त कर्म का त्याग अथवा धर्म (विधि) के विपरीत किए गए कार्य और इन्द्रियों की आसक्ति की स्थिति में प्रायश्चित्त किया जाता है।<sup>5</sup> मनु ने कर्म के माध्यम से तप की महत्ता को प्रतिपादित किया है और उसे सभी पापों से मुक्ति का मार्ग माना है।<sup>6</sup> मनु ने वैदिक मान्यताओं के अनुरूप ज्ञात व अज्ञात— दोनों ही स्थितियों में किए गए पापकर्मों के निमित्त प्रायश्चित्त की महत्ता को स्वीकार किया है। यही कारण है कि अज्ञानतावश किए गए पापों का मोचन वेदाध्ययन से सम्भव है लेकिन मोह, मद, तृष्णा, इच्छा या कामतः किए गए कार्यों का मोचन प्रायश्चित्त से ही सम्भव होता था।<sup>7</sup> याज्ञवल्क्य ने इसी बात को विस्तार के साथ स्वीकार किया है कि प्रायश्चित्त जान-बूझकर किए गए पापों को नष्ट नहीं करते हैं, अपितु पापी प्रायश्चित्त कर लेने से अन्य लोगों के सम्पर्क में आने योग्य बन जाता है। इसलिए पापी को अपनी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए जिससे उसकी आत्मशुद्धि हो जाए और वह पूर्व स्थिति को प्राप्त कर सके।<sup>8</sup>

इसके अलावा प्रायश्चित्त की महत्ता के विषय में *मनुस्मृति* में उल्लेख आया है कि प्रायश्चित्त न करनेवाले पापियों से सामाजिक संबंध नहीं रखना चाहिए और जिन्होंने अपने पाप-कर्मों का प्रायश्चित्त कर लिया है, वे कदाचित् निन्दा के योग्य नहीं होते।<sup>9</sup> इस उद्धरण से यह बात उभरकर सामने आती है कि तत्कालीन जनसामान्य में प्रायश्चित्त न करनेवाले व्यक्ति घृणा के पात्र माने जाते थे। मनुष्य की विविध शारीरिक व्याधियों को पापपूर्ण कृत्यों के परिणाम के रूप में देखा जाता था।<sup>10</sup> इसके अलावा यह भी मान्यता प्रचलन में थी कि बच्चों,

1. दुबे, राजदेव, *स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति : याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में*, पृ. 166
2. ठाकुर, लक्ष्मीदत्त, *प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन*, पृ. 62-63
3. *बोधायनस्मृति*, 2.1.1.6

1. *मनुस्मृति*, 11.47
2. *वही*, 11.44
3. *वही*, 11.235-239
4. *वही*, 11.45-46
5. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 3.226; 2.220
6. *मनुस्मृति*, 11.189
7. *वही*, 11.48, 52-53

स्त्रियों व शरणागत की हत्या करनेवाले प्रायश्चित के पश्चात् भी दोषमुक्त नहीं होते।<sup>1</sup> अन्य ग्रन्थकारों ने भी इस विधान को मान्यता प्रदान की है।<sup>2</sup>

इस प्रकार इस कालविशेष में पापपूर्ण कृत्यों का अपराधपरक स्वरूप उभरकर सामने आता है। मनु ने पाप के इस स्वरूप को वैयक्तिगत विचार से पृथक् करते हुए उसका सीधा संबंध सामूहिक रूप से समाज से स्थापित करने का उल्लेखनीय प्रयास किया है। इन अपराधों के निदानों के लिए सामाजिक विधि की महत्ता को प्रायश्चित के माध्यम से प्रतिपादित किया गया। तत्कालीन जीवन में प्रायश्चित-विधि का क्रियान्वयन करना राजा का विधिक दायित्व था। यदि अपराधी प्रायश्चितरूपी विधि-निर्देशों का स्वयं पालन नहीं करता था तो राजा के द्वारा उसका क्रियान्वयन कराया जाता था। इसी तारतम्य में सामाजिक विधि का राजकीय विधि के साथ अंतर्संबंध परिलक्षित होता है। यद्यपि महापातकों के लिए प्रथमतः मृत्युदण्ड का विधान था तथापि अन्यत्र ही इन अपराधों के लिए प्रायश्चित व दण्ड— दोनों विधानों को साथ-साथ क्रियान्वित होने की जानकारी भी मिलती है।

मनुस्मृति में महापातकों व अन्य पातकों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः ग्रन्थ में आत्मस्वरोक्ति को ही श्रेष्ठ प्रायश्चित के रूप में उल्लिखित किया गया है।<sup>3</sup> यहाँ संक्षेप में मुख्य पातकों-संबंधी प्रायश्चित्तों के समाकलन का प्रयास किया गया है :

**(क) ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त**— ब्रह्महत्या के दोषी महापातक को अपने पापनिवारणार्थ वानप्रस्थी जीवन, युद्धभूमि में प्राणों का त्याग या स्वयं को अग्नि में भस्म कर देने जैसे उपायों को करना होता था।<sup>4</sup> उक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि इस पाप के लिए प्रथमतः मृत्युदण्ड ही दिया जाता था। इसके अन्यत्र तत्कालीन समाज में इस अपराध के लिए अनेकानेक प्रायश्चित्तों के प्रचलन में होने का भान होता है। अश्वमेध-यज्ञोपरान्त स्नान के लिए उपस्थित राजागणों व ब्राह्मणों के समक्ष पापी अपने द्वारा किए गए अपराध को स्वीकार लेने व तदनु रूप

1. मनुस्मृति, 11.190
2. विष्णुस्मृति, 54.32; याज्ञवल्क्यस्मृति, 3.298
3. मनुस्मृति, 11.229-231
4. वही, 11.72-73

उनकी आज्ञा से स्नानादि में सम्मिलित होने से वह दोषमुक्त हो जाता था।<sup>5</sup> इसके अन्यत्र अन्य प्रमुख यज्ञों के संपादन, दान, धर्मरक्षादि धर्मानुकूल कार्यों से भी दोषमुक्ति सम्भव थी।<sup>6</sup>

**(ख) सुरापान का प्रायश्चित्त**— यह एक सामाजिक बुराई थी तथा इस पाप से उन्मुक्ति के लिए तत्कालीन समाज में विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों के प्रचलन में होने की पुष्टि ग्रन्थ के उद्धरणों से होती है। प्रथमतः इस अपराध के लिए मृत्युदण्ड ही विधानित था। उबलते हुए किसी भी पेय पदार्थ को पीकर मृत्यु का वरण करना होता था।<sup>7</sup> अन्य ग्रन्थों को इस विधान के प्रमाणों के रूप में उद्धृत किया जा सकता है।<sup>8</sup> इसके अलावा मनु ने इस प्रकार के दोष में चिह्नादि धारण करके वनगमन का परामर्श भी दिया है।<sup>9</sup>

**(ग) स्वर्ण-चोरी का प्रायश्चित्त**— महापाप के दोषी (ब्राह्मण के स्वर्ण की चोरी) को अपराध स्वीकारने पर लोहे की गदा से मृत्युदण्ड दिए जाने का निर्देश मिलता है। मनु का मत है कि इस अपराध के लिए दोषी ब्राह्मण तप से व अन्य तीन वर्ण मृत्यु से ही शुद्ध होते हैं।<sup>10</sup> साधारण चोरी के लिए कृच्छ्रव्रत, पञ्चगव्य का सेवन, उपवास, संयमित भोजन करना विधानित था लेकिन मनुष्य, स्त्री, कृषि, उपयोगी साधनों के अवैधानिक अपहरण व कम मूल्य की वस्तुओं की चोरी में चन्द्रायण व सातपनकृच्छ्र करने से शुद्ध होती थी।<sup>11</sup>

**(घ) गुरुस्त्रीगमन या व्यभिचार का प्रायश्चित्त**— तत्कालीन सामाजिक एवं न्यायिक व्यवस्था में इस पाप के लिए भयानक प्रायश्चित्तों का विधान मिलता है। इस प्रकार का अपराध सिद्ध हो जाने पर दोषी व्यक्ति को गर्म लोहशय्या या स्त्री की तप्त मूर्ति का आलिंगन करना होता था जिससे वह मृत्यु को प्राप्त हो सके। एक अन्य व्यवस्था में लिंग एवं अण्डकोश को काटकर

1. मनुस्मृति, 11.82
2. वही, 11.74,80
3. वही, 11.90-91
4. आपस्तम्बसूत्र, 1.9.25.3; बोधायन, 2.1.21; याज्ञवल्क्यस्मृति, 3.253
5. मनुस्मृति, 11.92
6. वही, 11.100-101
7. वही, 11.162-168

दक्षिण-पूर्व दिशा में अनवरत रूप से तब तक चलना होता था जब तक वह मर न जाये।<sup>1</sup> इस प्रकार का भयात्मक दण्ड समाज की नैतिक मर्यादा को बनाए रखने के लिए उचित भी जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त योनि का चिह्न धारण करते हुए वन में जीवन व्यतीत करने का भी निर्देश मिलता है। इस अपराध के निमित्त किए जानेवाले व्रतों में चान्द्रायण, कृच्छ्र चान्द्रायण, सांतपन कृच्छ्र व्रत, गायत्री मंत्र का जप आदि विविध उपाय भी पापमुक्ति का साधन थे।<sup>2</sup> स्त्रियों के लिए भी इसी प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है।<sup>3</sup>

**( ङ ) महापातकी संसर्ग ( पतितजनों से सम्पर्क ) प्रायश्चित्त—** पापियों या दुराचारियों से किसी भी प्रकार का सम्पर्क या लोक-व्यवहार रखने-जैसी विवादाजन्य परिस्थितियों के लिए दोषी व्यक्तियों को भी अपनी शुद्धि के लिए महापातकोंवाला प्रायश्चित्त करना पड़ता था।<sup>4</sup> कुलूक भट्ट का कथन है कि यहाँ 'व्रत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः केवल बारह वर्षोंवाला प्रायश्चित्त करना पड़ता है, मृत्यु का आलिङ्गन नहीं करना होता था। इस प्रकार कालविशेष में इस प्रकार के दोषों में लिप्त व्यक्तियों से वार्ता, सम्पर्क या अन्य किसी प्रकार का व्यवहार त्याज्य था। मनु ने इस दोष के निवारण हेतु अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया है।<sup>5</sup> स्त्रियों पर भी यही विधान समान रूप से लागू होता था।<sup>6</sup>

मनुस्मृति के उद्धरणों के सांगोपांग विवेचन से यही प्रमाण पुष्ट होकर सामने आता है कि महापातकियों के लिए विधानित प्रायश्चित्त अत्यन्त कठोर थे, लेकिन ये लोक-व्यवहार में कितने प्रचलन में थे, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः यही धारणा बलवती होती दिखाई देती है कि बौद्ध व जैन मत के प्रसार-प्रचार के फलस्वरूप जनसामान्य में सामाजिक नियम-विधानों के प्रति अनास्था का भाव उत्पन्न हो चुका था। इन्हीं विषमतामूलक परिस्थितियों का मनुस्मृति में वर्णित राजकीय व सामाजिक विधानों के माध्यम से उन्मूलन करने का प्रयास किया गया।

1. मनुस्मृति, 11.103-104
2. वही, 11.170-171, 177-178, 174
3. वही, 11.176
4. वही, 11.181
5. वही, 11.181-187
6. वही, 11.188

**( च ) गोहत्या—** तत्कालीन जीवन में गोहत्या भी दण्डनीय अपराध था और इसके लिए ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान मिलता है। गोहत्या के पातक को विधिपूर्वक, जैसा कि विधानित किया गया है, गाय की चमड़े के वस्त्र धारण करना, गोमूत्र से स्नान, संतुलित आहार, उपवास व गोसेवा व गोशाला में निवास करना व उसकी रक्षा करने से इस पाप से मुक्ति प्राप्त होती थी।<sup>1</sup> सुविज्ञात है कि वेदकाल से ही गाय को देवत्व का पर्याय माना गया था। इसलिए उसका स्थान मातातुल्य था जो आज भी है। इसके अलावा कृषि की प्रधानता होने के कारण भी समाज में उसकी महत्ता थी। इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए गाय को अवध्य माना गया है। वर्तमान में भी कुछ सामाजिक संगठनों के द्वारा गोहत्या को निषिद्ध करने व उसके संरक्षण के लिए समय-समय पर आन्दोलन किए जा रहे हैं। कुछ प्रान्तों में गोहत्या को दण्डनीय माना गया है।

**( छ ) जातिच्युता का प्रायश्चित्त—** पूर्ववर्णित कृत्यों के परिणामतः कारित जातिच्युता, वर्णसंकरता या मलीनता के पाप से मुक्ति के लिए मनु ने कुछ साधारण विधानों को करने का निर्देश दिया है। उक्त पापों के पातकों को अपनी शुद्धता व समाज में उनके पुनः समायोजन के लिए एक मास तक क्रमशः चान्द्रायण, सांतपन कृच्छ्र व प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत करना चाहिये।<sup>2</sup>

**( ज ) मानव-हत्या का प्रायश्चित्त—** ब्राह्मण के अतिरिक्त शेष तीनों वर्णों में से किसी की हत्या करने पर ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त के परिमाण में क्रमशः चतुर्थांश, अष्टमांश तथा षोडशांश भाग का प्रायश्चित्त करना होता था। इसके अलावा वर्णानुरूप निर्धारित कालावधि तक वनगमन व एक हजार गौओं का दान करना विधानित था।<sup>3</sup> इसके अलावा मनु ने सामान्य रूप में अन्य साधारण प्रकृति के पापों, जैसे— जीव-जंतुओं या वन्य प्राणियों की हत्या,<sup>4</sup> फलदार या अन्य वृक्षों को काटना,<sup>5</sup> अभक्ष्य पदार्थों के सेवन पर प्रायश्चित्त,<sup>6</sup> ब्राह्मण के प्रति अभद्रता,<sup>7</sup>

1. मनुस्मृति, 11.108-110, 114-116
2. वही, 11.124-125
3. वही, 11.126-130
4. वही, 11.131-141
5. वही, 11.142-144
6. वही, 11.146-161
7. वही, 11.204-208

अन्य साधारण पापकृत्यों<sup>1</sup> के लिए प्रायश्चित का विधान किया है।

**( झ ) गुप्त पापों का प्रायश्चित—** इसके अलावा ग्रन्थ में गुप्त पापों के लिए निर्धारित प्रायश्चितों का उल्लेख भी हुआ है। गुप्त पापों से अभिप्राय उन पापकृत्यों से है जो छिपकर किए जाते हैं और जिनके लिए सामान्यतः कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता; किन्तु इस प्रकार के पाप का बोध पापी के अंतःकरण में सदा विद्यमान रहता है। इस प्रकार के कृत्यों के लिए किए जानेवाले प्रायश्चितों में तप व जप की महत्ता का वर्णन मिलता है।<sup>2</sup>

### प्रायश्चितों के नाम व विधि

महापातकों व अनेकानेक उपपातकों के फलस्वरूप व्युत्पन्न हुई अशुद्धि व उसके दोष-निवारणार्थ मनु ने कई प्रायश्चितों का उल्लेख किया है। कुछ विशिष्ट प्रायश्चितों व उनसे संबंधित व्रतों का यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

**( क ) प्राजापत्य—** यह तीन-तीन दिन की चार अवधियों में किया जानेवाला प्रायश्चित है। इस विधान में तीन-तीन दिनों तक क्रमशः प्रातःकाल, सायंकाल, अन्तिम छः दिनों में बिना मांगे भोजन व उपवास करने का विधान था।<sup>3</sup>

**( ख ) सांतपन कृच्छ्र—** इस प्रायश्चित-व्रत की अवधि दो दिन होती थी। इस विधि में गोमूत्र, दूध, दही, घी, कुश और जल को मिलाकर पीना व दूसरे दिन उपवास करना विधानित था।<sup>4</sup>

**( ग ) अतिकृच्छ्र—** तीन दिनों तक केवल प्रातः और सायंकाल में एक ग्रास भोजन। पुनः तीन दिनों तक बिना मांगे एक ग्रास भोजन व अन्तिम तीन दिनों तक पूर्ण उपवास-विधि का पालन किया जाता था।<sup>5</sup>

**( घ ) तप्त कृच्छ्र—** यह बारह दिनों का विधान होता था। तीन-तीन दिनों की चार अवधियों में इसे किया जाता था। प्रथम तीन दिनों की अवधि में गर्म जल, दूसरी अवधि में गर्म दूध, तीसरी अवधि में गर्म घी तथा तीन दिन पूर्ण

1. मनुस्मृति, 11.209 एवं 1.99-203

2. वही, 11.247-261

3. वही, 11.211

4. वही, 11.212

5. वही, 11.229

उपवास करना होता था।<sup>1</sup> पाण्डुरंग वामन काणे के अनुसार 12 दिनों का तप्तकृच्छ्र बड़े पापों तथा चार दिनों का हल्के पापों के लिए व्यवस्थित था।<sup>2</sup>

**( ङ ) पराक कृच्छ्र—** बारह दिनों तक संयमित होकर निराहार उपवास।<sup>3</sup>

**( च ) चान्द्रायण व्रत—** यह व्रत कृष्ण पक्ष से आरम्भ किया जाता था। इसमें चन्द्रमा के आकार की गति के अनुरूप भोजन किया जाता था। कृष्ण पक्ष में एक-एक ग्रास कम और शुक्ल पक्ष से एक-एक ग्रास बढ़ाने व प्रतिदिन तीनों प्रहर स्नान का विधान था।<sup>4</sup> शुक्ल पक्ष से प्रारम्भ करने पर यह व्रत 'यवमध्यम चान्द्रायण' कहलाता था।<sup>5</sup> इसके अनन्तर दोपहर के समय हविष्यान्न आठ-आठ ग्रास भोजन को 'यतिचान्द्रायण' व प्रातः व सायंकाल में चार ग्रास भोजन को ग्रन्थ में 'शिशुचान्द्रायण व्रत' कहा है।<sup>6</sup> इस प्रकार के विधान में एक मास तक 240 ग्रास भक्षण करने से व्यक्ति चन्द्रलोक को जाता है।<sup>7</sup>



1. मनुस्मृति, 11.214

2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1086

3. मनुस्मृति, 2.15

4. वही, 11.216

5. वही, 11.217

6. वही, 11.219

7. वही, 11.217-220

# 5.

## मनुस्मृति में वर्णित अपराध एवं दण्ड का स्वरूप एवं चिन्तन

# मा

नव-सभ्यता के उदयकाल से ही कुछ भौतिकवादी तत्त्व, जैसे— प्रतिस्पर्द्धा, प्रतिद्वन्द्विता, भौतिक महत्वाकांक्षा मानवीय जीवन के साथ परस्पर रूप से संलग्न रहे हैं।

निश्चित ही यह मानव जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इन तत्त्वों ने मानव सभ्यताओं के उत्थान-पतन में प्रमुख भूमिका का निर्वहन किया है। लेकिन इस प्रकार की वैचारिक वृत्ति जहाँ एक ओर विकास की परिचायक है, वही दूसरी ओर मानव-संघर्ष की। व्यक्ति में प्रतिद्वन्द्विता और प्रतिस्पर्द्धा का भाव ही आपसी द्वेष का कारण है। इन दोनों वैचारिक पक्षों के परिणामस्वरूप ही समाज की शान्ति भंग होने का भय बना रहता है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में व्यक्ति के स्वभाव को नैतिक विधि के द्वारा संयमित करने का प्रयास किया है। इसीलिए प्रारम्भ से ही व्यक्ति व समाज को नियमित-संयमित करने एवं उसे अनुशासन की परिधि में

रखने के लिए जिस प्रकार के नियम-विधान अस्तित्व में आए और इन नियम-विधानों के क्रियान्वयन के लिए जिन संस्थाओं का उदय हुआ, वह एक सुनियोजित चिन्तन का परिणाम था। व्यक्ति के नैतिक हास को रोकने के लिए और धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने के लिए विभिन्न धर्मग्रन्थों के अंतर्गत विधिक नियमों का संकलन करते हुए करणीयाकरणीय कार्यों का विधान किया गया। प्रारम्भ से ही व्यक्तियों द्वारा अकरणीय कार्यों को करना विधि-विरुद्ध माना गया। मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ इस प्रकार के अकरणीय कार्य पाप व अपराध के रूप में परिवर्तित होते गए और साथ ही इन अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान किया गया।

अपराधों के ऐतिहासिक विकासक्रम से स्वतः ही स्पष्ट होता है कि उनका सूत्रपात वेदकाल में ही हो चुका था। ज्ञातव्य है कि उत्तरवर्तीकाल में अपराध और पाप को अलग करना कठिन हो गया था किन्तु वेदकाल से ही हम इन अपराधों के लिए राज्य और समाज के माध्यम से दण्ड-क्रिया का प्रयोग होता देखते हैं। *मनुस्मृति* के काल तक जिस स्वरूप के अंतर्गत अपराधों की सूची का विकास हुआ, उसमें अपराध के साथ-साथ पाप का सम्मिश्रण होता हुआ भी दिखाई देता है। इसका कारण बौद्ध, जैन और विदेशी प्रतिक्रिया ज्ञात होती है। इस युग में अपराध के स्वरूप, परिगणन, चिन्तन और वर्गीकरण में जातीय और धार्मिक तत्त्वों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। धर्मशास्त्रों, विशेषकर स्मृतियों में अपराध एवं दण्ड के जिस स्वरूप की व्याख्या की गई है, उसका आधार *मनुस्मृति* ही है क्योंकि स्मृतियों में *मनुस्मृति* को ही सर्वप्रथम व प्राचीन स्मृति होने का गौरव प्राप्त है। *मनुस्मृति* में हमें अपराध व दण्ड का पृथक्-पृथक् वर्णन प्राप्त होता है जिससे स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में अपराध व दण्ड-संहिता की पृष्ठभूमि निर्मित हो चुकी थी। इस अध्याय में अपराध और दण्ड के स्वरूप, प्रकार, अपराध दायित्व, निर्धारण, सावधानियाँ-जैसे आवश्यक तत्त्वों की विस्तृत विवेचना ही अभिदेह है।

### 5.1 अपराध का स्वरूप व चिन्तन

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि वर्तमान *मनुस्मृति* किसी व्यक्ति विशेष की रचना न होकर मनु-वचनों का संकलन है। *मनुस्मृति* का संकलन उन विषम परिस्थितियों के उन्मूलनार्थ हुआ जो सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उपजी थी। इस काल में सामाजिक व्यवस्थाओं की परिणति



अव्यवस्थाओं के रूप में हो रही थी। यह काल वैदिक परम्परा व धर्म की अवनति का था। धार्मिक-सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप वैदिक मान्यताएँ व व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न होने लगी थीं। इन्हीं विषम परिस्थितियों के निराकरणार्थ एवं वैदिक संस्कृति, सभ्यता की पुनर्स्थापना के लिए पूर्व-प्रचलित वैदिक परम्पराओं, मान्यताओं का स्मृति-ग्रन्थों के रूप में संकलन कर लिया गया। इन ग्रन्थों में उन व्यवस्थाओं, जो मनुष्य के सर्वतोभावेन सुख-समृद्धि के लिए आवश्यक थे, संबंधित करणीयाकरणीय कार्यों का उल्लेख करते हुए पाप की अवधारणा को अपराध के रूप में परिभाषित कर दिया गया।

‘अपराध’ शब्द संस्कृत भाषा के (अप+राध+धञ) से बना है जिसका अर्थ होता है दोष, जुर्म, पाप।<sup>1</sup> प्रस्तुत अध्ययन के सन्दर्भ में अपराध से अभिप्रेय ऐसे कार्यों के क्रियान्वयन से है जो धर्म, नैतिकता एवं आचरण के नियमों के विरुद्ध हो। यद्यपि मनु ने ‘अपराध’ शब्द की परिभाषा तो प्रस्तुत नहीं की है, लेकिन आपराधिक कृत्यों या अपराध की विवाद-स्थान के रूप में संस्तुति की है।<sup>2</sup> याज्ञवल्क्य के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति जो दूसरों के द्वारा स्मृति-नियमों एवं रूढ़ियों के विरोध में तंग किया जाता है, वह राजा या न्यायाधिकारी को सूचित करता है तो इसे ‘व्यवहार पद’ कहते हैं।<sup>3</sup> मनु के समानान्तर अन्य ग्रन्थकारों ने भी अपराध के लिए ‘विवाद-पद’ का उपयोग किया है।<sup>4</sup>

डॉ. पी. वी. काणे ने अपराध की परिभाषा देते हुए स्पष्ट किया है कि ‘अपराध वह क्रिया या अतिक्रम है जिससे कानून टूटता है और जनदण्ड प्राप्त होता है; किन्तु सभी प्रकार के व्यवहार-भंगों से दण्ड नहीं मिलता; केवल थोड़े ही ऐसे होते हैं जो अतिक्रम अथवा भंग समाज की प्रचलित दशाओं में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं, जिन्हें समाज, राजा या व्यवहार-विधि रोकना चाहती है, उन्हें अपराधों की संज्ञा दी जाती है।’<sup>5</sup> इसके अन्यत्र व्यक्ति के आंतरिक पापकृत्यों की वह मनोवृत्ति, जिससे समाज की मर्यादाओं का अतिक्रमण व उल्लंघन होता है और जो विशेष रूप से समाज व राज्य के द्वारा दण्डनीय होते हैं, ‘अपराध’ कहलाते हैं।

1. वामन शिवराम आपटे, *संस्कृत-हिंदी कोश*, पृ. 51
2. *मनुस्मृति*, 8.8
3. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.5
4. कौटिल्यकृत *अर्थशास्त्र*, 3.16, 4.7; *नारदस्मृति* 1.21
5. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ. 761

प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में अपराध से अभिप्रेय ऐसे कार्यों के क्रियान्वयन से है जो धर्म, नैतिकता एवं आचरण के नियमों के विरुद्ध हो और जिससे व्यक्ति का निजी जीवन बाधित होता हो और समाज की विधिसम्मत व्यवस्था भंग होती हो।

धर्मशास्त्रीय परम्परा में समान्यतः अपराध के लिए प्रायः ‘व्यवहार-पद’ या ‘विवाद पद’ शब्द का उपयोग मिलता है। इसके अन्यत्र ‘व्यवहार’ शब्द अपने इस स्वरूप में ग्रन्थों में कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रथमतः यह लेन-देन से संबंधित विवादों को स्पष्ट करता है।<sup>1</sup> द्वितीयतः इसका अर्थान्वयन सभी प्रकार के विवाद या झगड़ों व उनसे संबंधित मुकद्दमों से है।<sup>2</sup> तृतीयतः ‘व्यवहार’ शब्द का अर्थ लेन-देन से संबंधित कानूनी सामर्थ्य के रूप में ग्राह्य किया जा सकता है।<sup>3</sup> यहाँ व्यवहार या अपराध के उपर्युक्त तीनों स्वरूपों की विवेचना ही अभिदेह है। मनु ने भी अपराधों के वर्गीकरण में इन तीनों स्वरूपों को प्रधानता देते हुए अपराध-सूची को समग्र बनाने का प्रयास किया है।<sup>4</sup> ‘व्यवहार’ शब्द की इस स्वरूप की प्रामाणिकता अशोक के दिल्ली-तोपरा स्तम्भ के प्रथम अभिलेख से होती है जिसमें ‘वियोहाल समता’ (व्यवहार समता) का उल्लेख हुआ है। खारवेल (145-120 ई. पू.) के हाथीगुम्फा-शिलालेख में ‘व्यवहार विधि’ शब्द का उल्लेख मिलता है।<sup>5</sup> इसके अलावा बौद्ध-ग्रन्थों में भी ‘व्यवहार’ शब्द विवादों के विषय में ही प्रयुक्त हुआ है।<sup>6</sup> वर्तमान न्यायिक प्रक्रिया में ‘व्यवहार’ शब्द का प्रयोग दीवानी वादों के सन्दर्भ में किया जाता है। वस्तुतः प्राचीन काल से ही विशिष्ट अर्थों में ‘व्यवहार’ शब्द विवाद या अपराध के लिए ही प्रयुक्त होता रहा है जिसके अंतर्गत व्यक्ति के ऐसे अकरणीय कार्यों का परिगणन किया जाता है जिससे विधि की मर्यादा व समाज की शान्ति भंग होने का भय होता है। इस प्रकार के कृत्य चाहे अर्थ से संबंधित हों या व्यक्ति के जीवन के विविध पक्षों से, उसकी परिणति अपराध ही कहलाती है।

वैदिक व सूत्र-ग्रन्थों से अपराध व विधि का जो स्वरूप प्रकट होता है,

1. *महाभारत*, उद्योगपर्व, 37.80; *आपस्तम्बसूत्र*, 2.7.16.17
2. *मनुस्मृति*, 8.1; *वसिष्ठस्मृति*, 16.1; *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.11; *नारदस्मृति*, 1.1
3. *गौतम*, 10.48 तुलनीय काणे, पी. वी., *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ. 704
4. *मनुस्मृति*, 8.1
5. *Epigraphia Indica*, Vol. XXII, p.79
6. *महावग्ग*, 1.40.3; *चुल्लवग्ग*, 6.49

वह वस्तुतः पुण्य-पाप की अवधारणा पर अवलम्बित था। इसलिए मानवीय जीवन के प्रारम्भिक चरण में पापकृत्यों को अपराध के प्राकरूप में देखना समीचीन जान पड़ता है। वस्तुतः पाप एक आंतरिक वृत्ति है और जब इसका प्रतिकूल प्रभाव समाज पर पड़ने लगता है, तब यह मनोवृत्ति सामाजिक नियम-विधानों का उल्लंघन करने लगती है और 'अपराध' कहलाती है।

वेदकाल से धर्मशास्त्रों के काल तक अपराधों के परिगणन पर युग का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अपराधों की सूची पर देश, काल एवं परिस्थितियों से भी प्रभावित होती है। *मनुस्मृति* के संकलन-काल में पाप की परिणति पूर्ण रूप से अपराध के रूप में होती प्रतीत होती है। इस काल में पाप का स्थान अपराध ने ले लिया। अपराध के अंतर्गत, सामाजिक, राजनीतिक एवं लौकिक विषयों की स्थापना का प्रयास किया गया। *मनुस्मृति* के विश्लेषण से ऐसे समाज का चित्रण उपलब्ध होता है, जिसमें बाह्य सम्पर्कों से सुरक्षा की आवश्यकता थी। इस कालविशेष में पंथ-सम्प्रदायों की नूतन मान्यताओं के साथ-साथ विदेशी आक्रमणकारियों व उनके सम्मिश्रण से विशृंखलित होती व्यवस्थाओं के निराकरण का प्रश्न मनीषियों के सामने था। इसलिए भारतीय संस्कृति के पुरोधा मनीषियों ने मनु-वचनों और वैदिक नियम-विधानों का संशोधन व परिमार्जन करके उन्हें *मनुस्मृति* के रूप में संकलित कर लिया। *मनुस्मृति* से अपराधों का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है, उससे प्रतीत होता है कि इस काल में व्यक्ति के वैयक्तिक कार्यों के साथ ही उसके सार्वजनिक कार्यों को भी नियम-विधानों के द्वारा शासित करने का प्रयास किया गया।

*मनुस्मृति* से उपलब्ध नियम-विधानों से अपराध के परिवर्धनशील स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। *मनुस्मृति* से अपराधों का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है, उससे व्यवहार-विधि व दण्डापराध-विधि में पृथक्-पृथक् भेद दिखाई देता है। प्रो. हॉपकिंस के अनुसार इस प्रकार का भेद सर्वप्रथम मनु करते हैं व उत्तरवर्ती स्मृतिकारों ने उनका अनुकरण किया।<sup>1</sup> *मनुस्मृति* से उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर अपराध-संहिता दो सिद्धान्तों का अनुगमन करती दृष्टिगोचर होती है। प्रथमतः व्यक्ति की सुरक्षा और सुशासन की स्थापना व द्वितीयतः किसी भी ऐसे कार्य का निषेध जिससे किसी व्यक्ति को क्षति पहुँचे। इन दोनों प्रकार के

सिद्धान्तों के उल्लंघन से ही विवाद की उत्पत्ति होती है जिनका निराकरण न्यायालय का विषय होता है। एक निश्चित प्रक्रिया के अंतर्गत वाद का निराकरण करके उत्पीड़ित व्यक्ति के लिए उपचार और उत्पीड़क के लिए दण्ड का विधान किया जाता है।

*मनुस्मृति* से अठारह प्रकार के अपराधों का ज्ञान मिलता है जिनका यहाँ संक्षिप्त विवेचन विषयानुपयोगी होगा।

## अपराधों का वर्गीकरण

*मनुस्मृति* में 'विवाद-स्थान' शब्द ही अपराध का पर्याय है। ग्रन्थ में अपराधों के परिगणन के अंतर्गत प्रमुखतः से अठारह प्रकार के विवादों को स्थान दिया गया है। यद्यपि मनु ने भी इस प्रकार के संख्यात्मक विभाजन को आदर्शात्मक न मानते हुए राजा को परामर्श दिया है कि वह सनातन धर्म के अनुसार इन अठारह में ही अधिकांश 'भूयि म्' विवादों का निराकरण करते हुए अन्य कार्यों को संपादित करे।<sup>2</sup> निश्चित ही मनु ने इन अठारह विषयों के माध्यम से ही अपराध-संहिता को समग्र बनाने का प्रयास किया है। डॉ. काणे का अभिमत है कि सर्वप्रथम *मनुस्मृति* में ही अठारह विषयों अर्थात् व्यवहार-पदों के नाम उल्लिखित हैं।<sup>3</sup> इसके अन्यत्र मनु ने व्यवहार-पद के अंतर्गत जिन अठारह विषयों का उल्लेख किया है, वे प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था के इतिहास में मील का पत्थर सिद्ध हुए। प्रायः समस्त राज्यशास्त्रकारों एवं धर्मशास्त्रकारों ने किञ्चित् परिवर्तन के साथ मनु द्वारा निर्दिष्ट सूची को स्वीकार किया है।<sup>4</sup>

*मनुस्मृति* में अपराधों को अठारह शीर्षकों में विभाजित करते हुए तत्कालीन जीवन में व्याप्त बुराइयों व सामाजिक विशृंखलन को विश्लेषित करने का प्रयास मिलता है।<sup>5</sup> मनु का मत है कि मुख्यतः इन अठारह विषयों के फलस्वरूप ही विवाद की उत्पत्ति होती है।<sup>6</sup> यद्यपि *मनुस्मृति* में इन विषयों के अन्यत्र यातायात, पर्यावरण व इसी के समरूप प्रतीत होनेवाले साधारण प्रकृति के अपराधों का उल्लेख मिलता है। तथापि निश्चित ही मनु ने अपनी अपराध-सूची में

1. त्रिपाठी, हरिहरनाथ, *प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड*, पृ 150

1. *मनुस्मृति*, 8.8

2. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ 707

3. सिंह, श्याम नारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि*, पृ 140

4. *मनुस्मृति*, 8.8

5. *वही*, 8.4.5.6.7

गम्भीर विषयों को सम्मिलित किया है। ग्रन्थ में मुख्य रूप से निम्नांकित अपराधों का विस्तार से वर्णन मिलता है :

**1. ऋणदान—** प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में ऋण से मुक्त होने की उदात्त भावना पाई जाती थी। यद्यपि प्राचीन धर्मग्रन्थों में ऋण-संबंधी भावना का विकास आध्यात्मिक एवं लौकिक— दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में ऋणमुक्ति को स्वप्नों के दुष्प्रभावों से बचने के समतुल्य माना गया है।<sup>1</sup> एक अन्य स्थल पर ऐसे जुआरी का उल्लेख आया है जो रात्रि में छिपकर अन्य लोगों के यहाँ ऋण के रूप में धनप्राप्ति के निमित्त जाता है।<sup>2</sup> अथर्ववेद व तैत्तिरीयब्राह्मण में समान रूप से ऋणों से मुक्त होने की चर्चा हुई है।<sup>3</sup> वेदकाल में देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण की संकल्पना अस्तित्व में आ चुकी थी।<sup>4</sup> निश्चय ही यह ऋणों का आध्यात्मिक स्वरूप है। महाभारत में भी चार ऋणों— प्रथमतः तीन वैदिक ऋण (देव, पितृ, ऋषि ऋण), द्वितीयतः मनुष्य ऋण को स्पष्ट किया गया है।<sup>5</sup> प्राचीन ग्रन्थों के इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि ऋण से संबंधित व्यवहार का प्रचलन वेदकाल में हो चुका था, किन्तु अपराध के विषय के रूप में सर्वप्रथम मनु ने ही इसका उल्लेख किया है।

कृषि की समृद्धता, अधिशेष अन्न का उत्पादन, नगरीकरण का उदय व परिणामतः बड़े-बड़े नगरों का क्रमिक विकास— यह वैदिक व सूत्रकाल से विश्लेषित अध्ययन कालावधि से पूर्व की महत्त्वप्राप्त विशेषता है। इस समृद्धि के होते हुए भी ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन-साक्ष्य इस बात के द्योतक हैं कि अनेक लोग ऐसे थे जिनके पास खाने के दाने नहीं थे, दासकर्म आदि के रूप में अपनी जीविका निर्वाह कर रहे थे। जीविका चलाने में असमर्थ लोगों के लिए भारतीय परम्परा में आपद्धर्म की व्यवस्था सुज्ञात ही है।<sup>6</sup> मनुस्मृति से ऐसे समाज का चित्रण प्रस्तुत होता है जो नगरीकरण से उपजी नागर संस्कृति की बुराइयों,

1. ऋग्वेद, 8.47.17

2. वही, 10.34.20

3. अथर्ववेद, 6.117.3; 3.7.98

4. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ 761

5. महाभारत, आदिपर्व, 120.17.20

6. स्वर्णकार, अनिता, धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण : मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, पृ 220

घूत-क्रीड़ा, वेश्यावृत्ति, मदिरापान आदि से ग्रस्त था। इस प्रकार के दुर्व्यसनी लोगों के पास अपने दुर्व्यसनों की पूर्ति के लिये साधन नहीं थे। इस प्रकार इन दोनों प्रवृत्तियों के व्यक्तियों के पास ऋण ग्राह्य करने के अलावा कोई साधन नहीं था। तत्कालीन समाज में ब्याज पर धन लेने-देने की एक ऐसी प्रवृत्ति प्रचलन में आ चुकी थी जो कालान्तर में अर्थोपार्जन का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गयी। बौद्ध-साहित्य में भी इसका बहुलता से उल्लेख मिलता है।

मनुस्मृति के उद्धरणों से तत्कालीन समाज में धन के लेन-देन संबंधी व्यवहारों का पता चलता है। मनु ने इस विषय का विस्तार से वर्णन किया है। इसमें ऋण, ऋणदाता, स्वरूप, ब्याज की दर, समय, विवाद के समय न्यायालय की भूमिका, विवाद के निमित्त साक्षी, प्रतिभू, निक्षेपादि का अक्षरशः विवरण है। वस्तुतः मनु का आशय ऋणदाता के देय धन की वापसी व उससे ऋणग्रहिता की सुरक्षा करना था। मनु ने ऋणदान-संबंधी अनेक प्रकार के नियमों का उल्लेख किया है। ऋण प्राप्त करने के लिए ऋण-पत्र लिखवाने की महत्ता की अनुशंसा की है और उसके नवीनीकरण पर विशेष बल दिया है। प्रतीत होता है इस कालविशेष में यह एक वृत्ति का रूप धारण कर चुकी थी। इसलिए यह राज्य के संरक्षण का विषय बन गया था। मनु ने ब्याज के लिए 'वृद्धि' ( 'वसि विहितां वृद्धि' ) व 'कुसीद' ( 'कुसीद वृद्धि द्वैगुण्य' ) का उपयोग किया है।<sup>1</sup> ब्याज की दर धर्मवर्धक होती थी। मनु ने सर्वप्रथम ब्याज के रूप में वसिष्ठ के द्वारा निर्धारित मूलधन का 1/80 भाग अर्थात् सवा रुपया प्रतिशत मासिक सूद का विधान किया है। ऋणदाता सज्जनों के द्वारा देश, काल व परम्परा के द्वारा निर्धारित ब्याज-दरों को स्मरण करता हुआ दो प्रतिशत प्रतिमाह की राशि भी सूद के रूप में लेता था।<sup>2</sup> ब्याज के निर्धारण में भी वर्णक्रम को ध्यान में रखा गया था। इसके अन्यत्र ग्रन्थ में ब्राह्मणों से ब्याज की यह दर दो, क्षत्रिय से तीन, वैश्य से चार व शूद्र से पाँच रुपये सैकड़ा की दर से स्वीकार की गई है। इस नियम के विरुद्ध ब्याज लेना दोषवह था। शूद्र से अन्यो की अपेक्षा अधिक राशि वसूलने का प्रावधान सम्भवतः उनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया था जिससे मूलधन की राशि वसूल हो सके। इसलिए यथासमय

1. मनुस्मृति, 8.140.151

2. वही, 8.142

मूलधन व सूद न देने पर द्विजों के लिए भी इस राशि को बढ़ाकर पाँच प्रतिशत कर देना विधानित था।<sup>1</sup> इस प्रकार का विधान कालान्तर में अन्य स्मृति-ग्रन्थों में भी मिलता है।<sup>2</sup> *मनुस्मृति* में यह भी विधानित है कि ऋणदाता ऋण देने से पूर्व ऋण लेनेवाले से पहले ही एक, दो, तीन मास में सालभर तक के लिए लिए जानेवाले सूद की दर को निर्धारित कर ले। इसे एक बार में लेना अनुज्ञप्त नहीं था। ग्रन्थ में चक्रवृद्धि, कालवृद्धि, कायिक तथा कारित ब्याज की भी वर्जना मिलती है, किन्तु समय के साथ-साथ इस प्रकार की वर्जनाएँ केवल सैद्धान्तिकमात्र रह गई थीं।<sup>3</sup> ऋणग्रहिता को ऋण लेने के लिये प्रतिभू (जमानतदार) की व्यवस्था करनी होती थी ताकि ऋणदाता को सुरक्षित धन वापसी का विश्वास हो सके। ऋणी के प्रतिभू का यह दायित्व था कि वह समय पर ऋणी को उपस्थित करे, ऐसा न कर पाने की स्थिति में उसे स्वयं ऋण का भुगतान करना होता था। प्रतिभू ने इस बात का उल्लेख किया है कि यदि ऋणी ऋण का भुगतान नहीं करेगा या वह स्वयं उस ऋण का भुगतान कर देगा तो ऐसा ऋण उसे प्रतिभू के पुत्र को देना पड़ता था। इसके अनन्तर यदि ऋणी ने प्रतिभू को धन दे दिया है किन्तु ऋणदाता को दिए जाने से पूर्व वह मर जाता है तो उसके सामर्थ्यवान् पुत्र को ऋण चुका देने का निर्देश मिलता है।<sup>4</sup> इसके अन्यत्र मनु का निर्देश है कि मत्त, उन्मादी, रोगी, सेवक, नाबालिग व वृद्ध— इनके साथ किया गया कोई भी ऋण-व्यवहार तब तक मान्य नहीं होता, जब तक उक्त ऋण के लिए पिता या बड़े भाई की सहमति प्राप्त न हुई हो। यदि कोई ऋण-संबंधी लेख या वचन-पत्र विधि या व्यवहार के विरुद्ध हो तो वह भी मान्य नहीं था।<sup>5</sup>

*मनुस्मृति* के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में कुछ ऐसे भी लोग थे जो ऋण लेकर मुकर जाते थे। निश्चित ही ऐसी स्थिति में ऋणी और ऋणदाता के मध्य विवाद उत्पन्न हो जाने की सम्भावना रहती है। *मनुस्मृति* में ऐसे विवादों के निराकरण के उपायों की व्यापक समीक्षा मिलती है। मनु ने ऐसे विवादों के निराकरण के लिए परम्पराओं व आचरण को महत्त्व दिया है।<sup>6</sup>

- 
1. *मनुस्मृति*, 8.152
  2. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.37; *विष्णुस्मृति*, 6.2
  3. *मनुस्मृति* -8.153.154
  4. *वही*, 8.158.160.162
  5. *वही*, 8.163.164
  6. *वही*, 8.46

ऋणदाता को ऋण प्राप्त करने के लिए न्यायालय से निवेदन करना चाहिये। ऐसे विवादों के लिए लिखित साक्ष्यों, लेखादि को महत्ता दी गई है।<sup>1</sup> मौखिक साक्ष्य के रूप में तीन साक्षियों के कथनों को प्रामाणिक माना गया है। राजा को धर्म-व्यवहार, छल-बल का आचरण करके ऋण लेनेवाले से ऋणदाता को धन दिलवाने का निर्देश भी मिलता है।<sup>2</sup> यदि कोई ऋणदाता बलपूर्वक अपना धन वसूल करे तो राजा को उसमें हस्तक्षेप न करने का परामर्श भी मिलता है।<sup>3</sup> ऋण लेकर मुकरने पर ऋणग्रहिता से ऋण का दशमांश अतिरिक्त धन, दण्ड के रूप में लिया जाना विधानित था।<sup>4</sup> इसके अलावा एक अन्य स्थल पर राजा ऋण-धन के चतुर्थांश से ऋणी को दण्डित करने का भी निर्देश दिया है। न्यायालय में ऋणी द्वारा ऋण लेना स्वीकार कर लेने पर ऋण का पाँच प्रतिशत और असत्यता से ऋण लेना स्वीकार नहीं करने पर दस प्रतिशत दण्ड से दण्डित करने का निर्देश अनुज्ञेय था।<sup>5</sup> धन की अदायगी में असमर्थ होने पर अपनी सामाजिक वरीयता के अनुरूप ऋणदाता के यहाँ काम करके एवं सामाजिक व जातिगत श्रेष्ठता होने पर धीरे-धीरे ऋण चुकाने का भी ग्रन्थ में परामर्श है।<sup>6</sup> इस प्रकार के विधान को दण्ड की उदारता के रूप में लेना श्रेयस्कर होगा।

उक्त उद्धरणों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि मनु ने ऋणदान से संबंधित विवादों के माध्यम से आर्थिक अनियमितताओं को नियन्त्रित करने का महनीय प्रयास किया है जिससे ऋणदाता व ऋणग्रहिता—दोनों के अधिकारों की समान रूप से रक्षा हो सके।

**2. गिरवी (निक्षेप)–** *मनुस्मृति* में निक्षेप-संबंधी अपराध का व्यवहार-क्रम में द्वितीय स्थान पर उल्लेख मिलता है। ऐसा लगता है कि ऋण लेते समय निक्षेप के रूप में वस्तु भी धरोहर के रूप में रखी जाती थी और यदा-कदा ऋण चुका देने के बावजूद निक्षेप वस्तु को ऋणदाता लौटाने से मना करता होगा। *मनुस्मृति* में इस प्रकार के अपराधों का परिगणन अर्थमूलक वादों के रूप में किया

- 
1. *मनुस्मृति*, 8.52
  2. *वही*, 8.49
  3. *वही*, 8.50
  4. *वही*, 8.47.51
  5. *वही*, 8.64.67.109
  6. *वही*, 8.176.177

गया है। प्रतीत होता है कि तत्कालीन जीवन में आर्थिक व्यवहारों के अंतर्गत निक्षेप व उपनिधि को न लौटाना, अधिक सूदखोरी, धरोहर का उपयोग करना आदि वादजनित विषमपूरण परिस्थितियाँ वाद के उत्पन्न होने का कारण थीं। मनु ने इस प्रकार की अपराधजनित परिस्थितियों के उन्मूलनार्थ ही नियमों का विधान किया है। *मनुस्मृति* में गिरवी के रूप में रखी जानेवाली वस्तुओं को 'निक्षेप' या 'उपनिधि' की संज्ञा से अभिहित करते हुए दोनों को पृथक्-पृथक् रूप में पारिभाषित किया है। मनु ने गणना की हुई बिना मोहर की वस्तुओं को निक्षेप तथा मोहरबंद वस्तुओं को 'उपनिधि' कहा है।<sup>1</sup> याज्ञवल्क्य का भी मत इसी प्रकार का है।<sup>2</sup> वसिष्ठ व कौटिल्य ने भी निक्षेप व उपनिधि को पृथक्-पृथक् रूप में उल्लिखित किया है।<sup>3</sup>

*मनुस्मृति* में धरोहर रखने-संबंधी विधानों का विस्तार से उल्लेख मिलता है। यद्यपि सामान्य रूप से यह रक्षा के लिए रखी गयी वस्तु का सूचक है। ग्रन्थ में धरोहर रखनेवाले (ऋणी) और धरोहर ग्रहण करनेवाले (ऋणदाता)— दोनों के लिए समान रूप से विधिक उपबन्धों का विधान मिलता है। धरोहर रखने से पूर्व व्यक्ति की योग्यता-अयोग्यता पर विचार किया जाता था। मनु ने कुलीन, चरित्रवान्, धार्मिक, सत्यवादी, दीर्घकुटुम्बी, धनी व्यक्तियों के पास साक्षी की उपस्थिति में धरोहर रखने पर बल दिया है।<sup>4</sup> ऋणदाता को धरोहर उसके वास्तविक स्वरूप में सील मुद्राओं के साथ लौटाना ही अनुज्ञेय था। यदि धरोहर-संबंधी लेनदेन एकान्त में हुआ है तो उसे उन्हीं परिस्थितियों में लौटाना विधानित था।<sup>5</sup> अधिक समय बीत जाने पर भी ऋणदाता को धरोहर रखी हुई वस्तु या सम्पत्ति को सामान्यतया किसी दूसरे को देने का अधिकार नहीं था और न ही बेचने का। बन्धक में रखी हुई उपभोग योग्य वस्तु का उपयोग न करने पर ऋणदाता को सूद लेने का अधिकार था। निक्षेप यदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाए तो उसका मूल्य देकर ऋणी को संतुष्ट करने का नियम था अन्यथा ऋणदाता को बन्धक रखी हुई वस्तु की चोरी का पाप लगने की मान्यता के प्रचलन में होने का

1. *मनुस्मृति*, 8.185.149
2. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.67.165
3. *वसिष्ठ*, 16.18; *अर्थशास्त्र* 3.12
4. *मनुस्मृति*, 8.179.194; *नारदस्मृति*, 5.2
5. *मनुस्मृति*, 8.180.185.188.195

भान होता है।<sup>1</sup> लेकिन गिरवी रखी वस्तु किसी कारण से नष्ट या खो जाए तो ऋणदाता के द्वारा प्रमाणित कर देने पर उसे ऋणी को कुछ नहीं देना पड़ता था। ऐसी परिस्थितियों में दिव्य ग्रहण कराए जाने-संबंधी सम्भावनाओं को भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।<sup>2</sup> प्रतीत होता है कि ऋणदाता को निक्षेप की रक्षा स्वयं की संपत्ति के समान ही करनी होती थी। इसके अन्यत्र गिरवी रखनेवाला यदि मर जाए तो ऋणदाता उसके संबंधियों को धरोहर लौटाता था।<sup>3</sup> ऋण हेतु बन्धक रखी वस्तु समय के नियन्त्रण से परे होती है, अतः धरोहर वस्तु को माँगने पर वापस कर देने का प्रावधान था।<sup>4</sup> लेकिन कोई ऋणदाता वस्तु के स्वामी के समक्ष दस वर्ष तक वस्तु का उपभोग करे तो वस्तु पर स्वामी का अधिकार समाप्त हो जाने का विधान मिलता है।<sup>5</sup> यहाँ इस नियम को अपवाद के रूप में लेना विधियानुकूल होगा।

इस प्रकार के विवादों में मनु ने राजा को धरोहर के मूल्य के अनुपात में दण्ड देने का निर्देश दिया है।<sup>6</sup> इसके अन्यत्र *मनुस्मृति* के उद्धरणों से इस अपराध के लिए शारीरिक व मृत्युदण्ड दिए जाने का अनुमान होता है।<sup>7</sup>

**3. अस्वामी विक्रय—** किसी वस्तु पर अपना स्वामित्व न होते हुए भी उसे बेचना या खरीदना 'अस्वामी विक्रय' कहलाता है। किसी वस्तु अथवा सम्पत्ति का स्वामी न होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति उसे बेच दे तो इस प्रकार का विवाद व्यवहार का विषय होता है। मनु ने इस प्रकार की विवादजनित परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए इस अपराध को चोरी के समतुल्य माना है।<sup>8</sup> इस प्रकार के विधानों से यह सम्भावना प्रखर होती है कि तत्कालीन समाज में चोरी के समान का क्रय-विक्रय होता होगा।<sup>9</sup> यदि बिना स्वामी के वस्तु का

1. *मनुस्मृति*, 8.143.144
2. *वही*, 8.189.190
3. *वही*, 8.186
4. *वही*, 8.143.145
5. *वही*, 8.147
6. *वही*, 8.192
7. *वही*, 8.193
8. *वही*, 8.197.202
9. *वही*, 8.199



क्रय-विक्रय करनेवाला दोषी व्यक्ति वस्तु के स्वामी का संबंधी या परिचित न हो या जो अज्ञानवश या जानते हुए इस अपराध को करता है तो उसके लिए 600 पणों का दण्ड निर्धारित था।<sup>1</sup> ग्रन्थ में अपवाद के रूप में इस प्रकार के अपराध से विमुक्ति का विधान भी मिलता है। यदि चोरी का समान क्रय करने के पश्चात् यदि यह ज्ञात हो कि यह चोरी का है तो उसे वापस कर देने पर क्रेता अपराध का दोषी नहीं होता था।<sup>2</sup> वस्तुतः इन विधिक उद्धरणों से यह धारणा प्रखर होती होती है कि ग्रन्थ के संकलन की कालावधि में नगरीकरण के चलते आर्थिक अपराधों में वृद्धि हो रही थी। इसलिए ग्रन्थ में वर्णित इस प्रकार के नियम-विधानों से बाज़ार-व्यवस्था पर नियन्त्रण का भाव प्रदर्शित होता है। यह नियम-विधान उस सुव्यवस्थित-विकसित बाज़ार-व्यवस्था के अस्तित्व में होने का प्रतीक है जो कि वर्तमान से लगभग 2500 ई पू भारत में प्रचलन में थी।

**4. साझेदारी—** ‘सम्भूय’ का शब्दिक अर्थ होता है ‘एकसाथ होना’ तथा ‘समुत्थान’ का शाब्दिक अर्थ है व्यापार, व्यवसाय या कर्म। वस्तुतः सम्भूय-समुत्थान का भावार्थ व्यावसायिक साझेदारी या व्यापारिक भागीदारी से लिया जाना चाहिए। पी वृ काणे ने इन दोनों के संयुक्त अर्थ के रूप में उस कार्य, व्यापार या व्यवसाय को प्रधानता दी है जिसमें परिश्रम व धन समान रूप से प्रयुक्त हुए हों।<sup>3</sup> यद्यपि *मनुस्मृति* में विवाद के रूप में साझेदारी का उल्लेख हुआ है, तथापि ग्रन्थ में इसे कहीं भी पारिभाषित नहीं किया गया है। कालान्तर के ग्रन्थकारों ने इस अपराध की समुचित व्याख्या प्रस्तुत की है। जब अनेक व्यापारी अथवा अन्य लोग, यथा— अभिनेता, संगीतज्ञ या शिल्पकार<sup>4</sup> परस्पर मिलकर कोई व्यापार करते हैं तो वह कार्य या व्यवसाय ‘सहकारिता’, ‘सम्भूयकारिता’ या ‘सम्भूय-समुत्थान’ कहा जाता है।<sup>5</sup> लेकिन अपराध-संहिता में सर्वप्रथम मनु ने ही इसे अपराध की श्रेणी में रखा है। यह भी ज्ञातव्य है कि *मनुस्मृति* के संकलनकालीन कालावधि में आर्थिक जगत् व्यापारिक समूहों व श्रेणी-संगठन के रूप में संगठित हो चुका था। लेकिन इनसे संबंधित विधिक उपबंधों के विकास

का पूर्णतया अनुमान नहीं होता। *मनुस्मृति* के उद्धरणों से इस विषय में यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है कि कुछ व्यक्तियों या उनके समूहों के द्वारा लाभार्जन की दृष्टि से किया जानेवाला संयुक्त विधिक व्यापारिक प्रयास ही ‘साझेदारी’ कहलाता था। इन विधिक नियमों के प्रतिकूल किया गया आचरण इससे संबंधित अपराध होता था। *मनुस्मृति* से लाभार्जन के लिए व्यापारियों द्वारा किए जानेवाले प्रयासों का अस्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऐसे साझा उपक्रम में सदस्यों की सम संख्या चार, आठ, बारह, सोलह पर विचार करते हुए उनके लाभांश को व्याख्यायित किया गया है। लाभांश का विभाजन व्यय राशि के अनुसार प्रथम पंक्त के भागीदारों को आधा भाग, व इसी क्रम में अन्य लोगों को शेष बचे लाभांश का क्रमशः 1/3 व 1/4 भाग अन्य सदस्यों को प्राप्त होता था। मिल-जुलकर अपने कार्य को करनेवाले मनुष्यों को (‘अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना’)— इस विधि के अनुरूप अपने लाभांश को विभाजित करने का विधान था।<sup>6</sup> मनु के इस विधान की महत्ता पी वृ काणे के इस अभिमत से स्पष्ट होती है कि मनु ने यज्ञों की दक्षिणा के विभाजन को लौकिक समवेत कार्यों तक विस्तारित किया है।<sup>7</sup>

इस साझेदारी में निवेश की गई सम्पत्ति के अनुरूप लाभ देने तथा समय-पूर्व साझेदारी को तोड़ लेने अथवा सदस्यता छोड़ देने पर लाभांश निरस्त कर देने की व्यवस्था का *मनुस्मृति* में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यद्यपि *मनुस्मृति* में साझेदारी की प्रक्रिया या भंग हो जाने पर दण्ड-विधान और उसके स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। सम्भवतः इसके पीछे इस सम्भूय-समुत्थान को श्रेणी संगठन द्वारा नियमित-संयमित होने का कारण माना जा सकता है। कदाचित् अधिक विवाद बढ़ जाने पर ही न्यायालय द्वारा इसका समाधान किया जाना अनुमानित था।

**5. दत्तस्यानपकर्म (दान में दिए पदार्थ को वापस लेना)—** *मनुस्मृति* में एक बार दान या उपहार में दी गई वस्तु की पुनः वापसी की मांग को विधिक आचरण के विरुद्ध माना गया है। इस तरह की मांग से उत्पन्न होनेवाले विवाद को ग्रन्थ में ‘दत्तस्यानपकर्म’ के नाम से अभिहित किया गया है। मनु ने

1. *मनुस्मृति*, 8.198

2. *वही*, 8.202

3. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ 792

4. *वही*, पृ 792

5. *नारदस्मृति*, 6.1; *कात्यायनस्मृति*, 624; *अपराध*, पृ 832

1. *मनुस्मृति*, 8.206, 210-211

2. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ 794

इस अपराध की परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है लेकिन उन अपराधजनित परिस्थितियों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार के विवाद का विषय बनती थी। मेधातिथि ने अपने भाष्य में लिखा है कि दत्तस्यानपाकर्म का तात्पर्य है जो कुछ दिया गया या दिए जाने के लिए प्रतिश्रुत-सा है, उसका उचित आदान या अपहरण।<sup>1</sup> इसी प्रकार का मत नारद का भी है कि जब कोई व्यक्ति कुछ देने के उपरान्त उसे पुनः लौटा देना चाहता है, क्योंकि उसने ऐसा करके नियम का अतिक्रमण किया तो इसे 'दत्तस्यानपाकर्म' कहा जाता है।<sup>2</sup> कालान्तर के स्मृतिकारों के द्वारा मनु-वचनों का पुनः संशोधन-परिवर्धन के साथ संकलन-ग्रन्थ कि समसामयिक उपयोगिता को स्पष्ट करता है।

मनु ने विधानित किया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी भी प्रयोजन से किसी वस्तु को दान या उपहार स्वरूप भेंट कर देता है तो स्वतः ही उस वस्तु पर से उसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है, लेकिन दान में दी गई राशि या वस्तु का सदुपयोग न होने की स्थिति में उसे पुनः दानदाता को लौटा देने का नियम था। यदि याचक अहंकार या किसी अन्य कारण से इस नियम का उल्लंघन करता था तो वह एक सुवर्ण दण्ड का भागी होता था।<sup>3</sup>

**6. वेतनादान ( कर्मचारियों को वेतन न देने-संबंधी अपराध )—** पारिश्रमिक विवाद प्रत्येक युग में विवाद का विषय रहा है। *मनुस्मृति* से तत्कालीन समाज में इस प्रकार के अपराध के कारित होने का अनुमान किया जा सकता है। प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में परिचारकों द्वारा कार्य किए जाने और न किए जाने-जैसी दोनों स्थितियों में वेतन दिए जाने और न दिए जाने-संबंधी विवाद प्रचलन में रहे होंगे। तत्कालीन न्याय-व्यवस्था में परिचारकों के हितों को ध्यान में रखते हुए विधान किया गया कि यदि कर्मचारी ईमानदार, कर्तव्यनिष्ठ, आज्ञाकारी, अस्वस्थ है या किसी भी प्रकार के अन्य कारण से अपने कार्य को करने में असमर्थ हो तो भी वेतन प्राप्त करने का हक्कार होता था। इस प्रकार की स्थिति में यदि स्वामी अपने सेवक को वेतन प्रदान नहीं करता है तो अनुमानतः ऐसी स्थिति में ही विवाद उत्पन्न होता होगा। इसके विपरीत ऐसा लगता है कि परिचारक द्वारा काम न करने की स्थिति में वेतन की मांग करना भी निश्चय ही

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ 795

2. नारदस्मृति, 7.1

3. मनुस्मृति, 8.212.213

अपराध की श्रेणी में आता था। यदि परिचारक आलस्य, अहंकार व स्वस्थ होने की स्थिति में काम नहीं करता है या फिर अपने कार्य को पूर्ण नहीं करता है तो ऐसे परिचारकों के लिए वेतन न दिए जाने के अलावा आठ बेंतों के दण्ड का विधान निर्धारित था।<sup>4</sup> अन्ततः यह कहा जा सकता है कि इस काल में कर्मचारियों के हितों को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के नियम-विधानों को *मनुस्मृति* में संकलित किया गया। इन नियम-विधानों में वर्तमान 'कर्मचारी कल्याण-विधि' के सूत्र ढूँढ़े जा सकते हैं, साथ ही इन नियमों से कर्मचारियों पर नियन्त्रण का भाव प्रदर्शित होता है।

**7. संविद व्यतिक्रम ( संविदा भंग )—** किसी कार्य को करने की प्रतिज्ञा (संविदा) करके उसका पालन न करना 'संविदा भंग' कहलाता है। *मनुस्मृति* में इस प्रकार के अपराध के लिए 'संविद-व्यतिक्रम' शब्दावली का उपयोग किया गया है। पृ 71 काणे का मत है कि मनु ने इस प्रकार के वादों को 'संविदा' व 'समयस्यानपाकर्म'— दोनों शब्दों द्वारा व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। ग्रन्थ में समय व संविदा को (परम्परा), व्यवस्था, समझौते के रूप में ग्रहण किया गया है।<sup>1</sup> मेधातिथि ने इसकी व्याख्या में इसका अर्थ बहुत से लोगों द्वारा किसी विशिष्ट नियम या रूढ़ि या परम्परा को अंगीकार करने से लगाया है। नारद ने भी संविदा को अपने ग्रन्थ में इसी रूप में वर्णित किया है।<sup>2</sup> प्रतीत होता है कि मनु के काल में व्यापारिक समूहों के रूप में गणों, वेश्यों, वणिकों के श्रेणी-समूहों का उदय हो चुका था। यह बात तत्कालीन आर्थिक समृद्धि के पक्ष को उद्घाटित करती है। निश्चित ही इस प्रकार के व्यावसायिक संगठनों की प्रचलित मान्य विधिक परम्पराएँ रही होंगी जो एक समझौते, संविदा या अनुबन्ध के तहत अनुपालन में आई होंगी। इस प्रकार की परम्पराओं का अक्षरशः पालन करना सदस्यों के लिये अनिवार्य होता था। मनु का राजा को स्पष्ट निर्देश है कि वह विवादों का निर्णय जाति, देश, वैश्य आदि की परम्पराओं के अनुसार करे।<sup>3</sup> *मनुस्मृति* के समवर्ती ग्रन्थकार कौटिल्य ने भी श्रेणी-समूहों के प्रचलन में होने की

1. *मनुस्मृति*, 8.221.217-218

2. *वही*, 8.215.218-219

3. *नारदस्मृति*, 2.18

4. *मनुस्मृति*, 8.41

बात का उल्लेख किया है।<sup>1</sup> उन्होंने *अर्थशास्त्र* में भृत्यों के संघ ( 'संघभृताः' ) की भी चर्चा की है।<sup>2</sup> कालान्तर में संकलित अन्य स्मृति-ग्रन्थों में श्रेणियों, संघों के नियम-विधानों का विस्तृत रूप से उल्लेख हुआ है।

प्रतीत होता है कि इस प्रकार के समूह या संगठनात्मक स्तर पर कार्य, व्यवहार या व्यवसाय करनेवाले समूहों के सदस्यों के द्वारा निर्धारित नियमों की अवेहलना की जाती थी तो ऐसी स्थिति विवाद का विषय बनती थी। इस काल में ग्राम, जाति, संघों, समुदाय, श्रेणी या अन्य किसी से की जानेवाली संविदा को भंग करना अपराध माना गया और जिसके लिए चार सुवर्ण और छः निष्क चाँदी के एक शतनाम-जैसे आर्थिक दण्ड के अलावा कारावास या देश-निर्वासन जैसे दण्डों का विधान था।<sup>3</sup> इसके अन्यत्र मेधातिथि ने संविदा-भंग के विषय में लिखा है कि यदि किसी ग्राम के निवासी यह निर्णय करें कि यदि पड़ोसी ग्राम के लोग उनके खेतों या चारागाहों में अपने पशु लाएँ या नहरों को अपनी ओर घुमा लें तो उनको रोकेंगे तथा ऐसा करने पर यदि विवाद हो जाए और राजा के यहाँ उसका विचारण हो तो सभी एकमत रहेंगे व उस व्यक्ति को दण्ड देंगे जो दूसरे ग्राम के मुखिया के पक्ष में अपना मत प्रस्तुत करे या विरोधी जनों की सहायता करे।

सामान्यतः संविदा-भंग से मनु का आशय किसी भी कार्य या उसमें निहित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की जानेवाली प्रतिज्ञा के उल्लंघन से लगाया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः इस प्रकार के अपराध व्यापारिक संगठनों के सदस्यों, ठेके पर कार्य करनेवाले व्यक्तियों द्वारा किए जाते थे।

**8. क्रय-विक्रय संबंधी अपराध ( क्रय विक्रयानुशय )—**  
'अनुशय' का अर्थ है 'पश्चात्ताप', अतः 'क्रय-विक्रयानुशय' के शाब्दिक अर्थ से आशय वस्तु के खरीदने व बेचने के उपरान्त होनेवाली पश्चात्ताप व संशय की स्थिति से लिया जा सकता है। *मनुस्मृति* में इस प्रकार के विवाद को 'क्रय-विक्रयानुशय' के नाम से अभिहित किया गया है। *मनुस्मृति* से इस अपराध के लिये उत्तरदायी परिस्थितियों व दिए जानेवाले दण्ड से संबंधित नियम-विधानों का उल्लेख मिलता है। वस्तु के क्रय-विक्रय के पश्चात् उसकी गुणवत्ता को लेकर

1. 'काम्भोजसुरातृक्षत्रिय क्षेप्याक्ष्यो वार्ता शास्त्रोपजीविनः'—*अर्थशास्त्र*, 1.11
2. *वही*, 3.14
3. *मनुस्मृति*, 8.219-220

उत्पन्न संशय की स्थिति का निराकरण निर्धारित दस दिनों की अवधि में कर लेना विधानित था<sup>4</sup> किन्तु उक्त तिथि के उपरान्त निर्मित विवाद की स्थिति में अभियुक्त को 600 पणों का दण्ड देने के लिए न्यायाधीश को निर्दिष्ट किया गया है।<sup>5</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि अनुमानतः इन नियम-विधानों का मुख्य उद्देश्य बाज़ार-प्रणाली को सुव्यवस्थित बनाते हुए उपभोक्ता के अधिकारों व हितों की रक्षा करना रहा होगा।

**9. स्वामीपाल-विवाद ( पशु-स्वामी और पशुपालक के मध्य विवाद )—** प्रारम्भ से ही कृषि व पशुपालन भारत की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार रहा है। अतः यहाँ पर पशुओं के स्वामित्व, चारण तथा सुरक्षा से संबंधित विवादों का होना स्वाभाविक था। *मनुस्मृति* में पशुओं के कारण होनेवाले विवादों के लिये 'स्वामीपाल विवाद' शब्दावली का उपयोग किया गया है। इस तरह के विवाद में मुख्यतः पशुओं के स्वामित्व, सुरक्षा, चारण, खेतों की सुरक्षा, चरवाहे के पारिश्रमिक को परिगणित किया गया है।<sup>6</sup> ऋषि वृषि काणे ने इस अपराध को पारिभाषित करते हुए लिखा है कि स्वामीपाल विवाद का मतलब पशुओं के स्वामी व उनके रक्षकों के बीच के झगड़े।<sup>7</sup> सूत्रकारों ने भी इस विवाद का उल्लेख पशुपालक या खेती के नौकर के रूप में किया है।<sup>8</sup>

प्रारम्भ से ही समाज में कृषि की प्रधानता होने के कारण *मनुस्मृति* में पशुपालन की समृद्ध परम्परा दिखलाई देती है और उनके भरण-पोषण की व्यवस्था के अंतर्गत चारागाह की व्यवस्था का विधान भी मिलता है। पशुओं को चराने व उनकी सुरक्षा के लिए चरवाहों की व्यवस्था की जाती थी जो 'परिचारक' या 'पशुपाल' कहलाते थे। चरवाहों को वेतन भी प्रदान किया जाता था लेकिन उसे अपना कार्य सतर्कता के साथ करने का परामर्श दिया गया है। यदि कोई गोरक्षक गायों के स्वामी से वेतन के स्थान पर धन नहीं लेकर दूध लेना चाहता है तो वह दस गायों में से किसी एक अच्छी गाय को चुनकर वेतन के बदले उसका दूध ले सकता है, साथ ही चरवाहे के उत्तरदायित्व का भी उल्लेख किया गया है।

1. *मनुस्मृति*, 8.222
2. *वही*, 8.223
3. *वही*, 8.229
4. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ. 842
5. *आपस्तम्बधर्मसूत्र*, 2.2.28.2-3; *गौतमधर्मसूत्र*, 12.16-17

पशु के भूल जाने, कृमि अथवा कुत्ते के काटने, ऊँचे-नीचे स्थान या मार्ग से गिरने या कहीं फँसकर पशु के मर जाने अथवा असतर्कता के कारण भाग जाने पर चरवाहे को उसकी भरपाई करनी होती थी।<sup>1</sup> याज्ञवल्क्य व अन्य ग्रन्थकारों का भी ऐसा ही मत है।<sup>2</sup> पशु की क्षति एवं क्षतिपूर्ति-संबंधी अन्य अनेक विधान भी मिलते हैं। ऐसा विधानित था कि पशु की चोरी होने के स्थान के निकट होने की स्थिति में यदि चरवाहा स्वामी को चोरी की उसी समय सूचना देता है तो वह चुराए गए पशु का देनदार नहीं होता था।<sup>3</sup> इस प्रकार सूचित कर देनेवाला चरवाहा पशुरक्षा के उत्तरदायित्व से मुक्त माना जाता था। आकस्मिक रूप से पशु के मर जाने पर चरवाहे को पशु के कान, चमड़ा, बाल, चर्बी, गोरोचन और अन्य चिह्न, खुर, सींग आदि लाकर स्वामी को दिखलाना निर्देशित था।<sup>4</sup> लेकिन यदि पशु की मौत पशुपाल की अकर्मण्यता व लापरवाही से होती थी तो वह उक्त अपराध के लिए दोषी माना जाता था व दण्ड का पात्र होता था। अज्ञानता में हुई क्षति के लिए चरवाहा दोषी नहीं माना जाता था।

ऐसे विवादों की उत्पत्ति के लिए चारागाह की समस्या भी एक प्रमुख कारण थी। इसलिए *मनुस्मृति* में ग्राम के चारों एक निश्चित परिमाण में भूमि छोड़ने का निर्देश मिलता है।<sup>5</sup> याज्ञवल्क्य भी इस मत के अनुसरण का परामर्श देते हैं।<sup>6</sup>

*मनुस्मृति* में पशुओं से फसलों की सुरक्षा की दृष्टि से भी अनेक नियम-विधानों का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ में खेतों की समुचित व्यवस्था के लिये भूस्वामियों को निर्देशित किया गया है। चरवाहे के न होने पर खेत के स्वामी द्वारा पशु को भगा देने का सुझाव है, किन्तु यदि पशुओं ने पूरा खेत नष्ट कर दिया हो तो चरवाहा या स्वामी के दोषी सिद्ध हो जाने की स्थिति में राजा के द्वारा उसकी क्षतिपूर्ति कराई जानी चाहिये।<sup>7</sup> लेकिन नियम-विधानों की उपेक्षा से

1. *मनुस्मृति*, 8.232,235

2. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.164.165; *नारदस्मृति*, 9.14.15

3. *मनुस्मृति*, 8.233

4. *वही*, 8.234

5. *वही*, 8.235

6. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.167

7. *मनुस्मृति*, 8.237.241

कारित क्षति के लिए पशुपालक या स्वामी उत्तरदायी नहीं होते थे।

प्रारम्भ से ही भारतीयों में पशुधन के प्रति उदारता का भाव रहा है, और यह परम्परा ऋग्वेदकालीन समाज से ही दिखाई देने लगती है। इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए मनु ने विधानित किया है कि दस दिन के भीतर ब्याही गाय या अन्य पशु तथा देवताओं के निमित्त छोड़े गए, खूँटा तोड़कर भागे पशुओं को खेत से बाहर कर देना चाहिये। ऐसे पशुओं के द्वारा की गई क्षति के लिए चरवाहा दोषी नहीं माना जाता था और न ही उसे दण्डित किया जाता था।<sup>1</sup> *मनुस्मृति* में पशुओं द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के खेत में नुकसान कर देने की स्थिति में पशुपाल पर सौ पणों के दण्ड का विधान किया गया है और यदि यह नुकसान पशु स्वामी की लापरवाही से हो तो वह दस गुना (एक हजार पणों) अधिक दण्ड का भागी होता था।<sup>2</sup>

इस प्रकार पशुओं की हरसम्भव सुरक्षा करना पशुपाल का कर्तव्य था और इसीलिए उसकी कर्तव्यव्युत्ति पर ही दण्ड का विधान मिलता है।

**10. सीमा-विवाद—** *मनुस्मृति* में भूमि-संबंधी विवादों को सीमा-विवाद के अंतर्गत स्थान दिया गया है। उसमें उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर सीमा-विवाद में मुख्यतः खेतों की सीमा उर्वर एवं अनुर्वर खेत, सेतु या बांध या अन्य किसी प्रकार की निजी या शासकीय भूमि से संबंधित विवादों को सम्मिलित किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृषिप्रधान जीवन होने के कारण तत्कालीन जीवन में खेतों या अन्य भूमि की सीमा के निर्धारण को लेकर विवाद की स्थिति निर्मित होती थी। इस तरह के विवादों के उन्मूलन के लिए *मनुस्मृति* में भूमि के सीमांकन पर बल दिया गया है। भूमि के सीमांकन के लिए प्राकृतिक सीमाओं (नदियों के प्रवाहों, तटाकों एवं जलाशयों द्वारा निर्मित सीमा) को प्रमुखता दी गई है। किन्तु इनके अभाव में वट, पीपल, ढाक, सेमल, ताल, गूलर, शमी वृक्षों, बल्ली, लता, मिट्टी के टीले, सरपत, झाड़ियों द्वारा किए गए सीमांकन को भी प्रामाणिक माना गया है।<sup>3</sup> इसके अंतर्गत होनेवाले सम्भावित भ्रम के निराकरण के लिए दो खेतों के मध्य में कोयला, ईंट, पत्थर, बालू,

1. *मनुस्मृति*, 8.243

2. *वही*, 8.243

3. *वही*, 8.247

हड्डियाँ, आईना, गोबाल, तुष भस्मादि सामग्री को गुप्त रूप से गाड़ने के लिए निर्दिष्ट किया गया है।<sup>1</sup> इस प्रकार के उपाय सम्भवतः भूस्वामी द्वारा अपने खेतों की सीमा को चिह्नित करने के लिए किए जाते रहे होंगे ताकि विवाद की स्थिति में साक्ष्य के रूप में इन्हें प्रस्तुत किया जा सके। सीमा-विवाद के निराकरण में साक्षियों के कथनों की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त साक्ष्यों से विवाद के निराकरण न होने की स्थिति में साक्षी के प्रमाणों के आधार पर निर्णय देने के लिए न्यायाधिकारी को निर्दिष्ट किया गया है। उपर्युक्त साक्षियों के अभाव में सीमावर्ती चार गाँवों के निवासी, वनवासी, शिकारी, शाकुनिक (चिड़ियामार), गोप, कैवर्त (मल्लाह), खान खोदनेवाले, साँप पकड़नेवाले, दाने बिनकर जीवन-यापन करनेवालों को भी साक्षी मानने का निर्देश मिलता है।<sup>2</sup> सीमा-विवाद के लिए सिद्ध दोषी पर परिस्थितिजन्य दशाओं के आधार पर दण्ड के निर्धारण का विधान मिलता है। किसी की भूमि पर बलपूर्वक अधिकार करने पर 500 पणों और अनजाने में किए गए अपराध के लिए 200 पणों के दण्ड का विधान मिलता है।<sup>3</sup> मनु ने इस प्रकार के विवादों व भूमि से संबंधित अन्य व्यवहारों के विषय में 'विचारण' व निर्णय के लिये ज्येष्ठ (मई-जून) के समय को श्रेष्ठता प्रदान की है।<sup>4</sup> आज भी भारत के कई क्षेत्रों में मनु द्वारा प्रतिपादित नियमों की प्रासंगिकता इस रूप में देखने को मिलती है। वर्तमान में भी गाँवों में भूमि से संबंधित सभी मानक व्यवहार इन्हीं महीनों में किए जाते हैं। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि भूमि-अतिक्रमण का प्रमुख कारण सम्भवतः जनसंख्या-वृद्धि व व्यक्ति की लालचपूर्ण भौतिक इच्छाएँ थीं। इसलिए *मनुस्मृति* में इस प्रकार की समस्या के निराकरण के लिए सीमा-विवाद संबंधी नियम-विधानों का संकलन मिलता है।

**11. वाक्पारुष्य—** सामान्यतः 'वाक्पारुष्य' का अर्थ होता है अपशब्द का प्रयोग। मनु ने इस अपराध की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी है लेकिन इस अपराध के लिए दिए जानेवाले दण्डों उल्लेख किया है। वाणी द्वारा

1. *मनुस्मृति*, 8.250-251
2. *वही*, 8.260
3. *वही*, 8.264
4. *वही*, 8.245

दूसरों को मानसिक कष्ट पहुँचाना 'वाक्पारुष्य' कहलाता था।<sup>1</sup> 'वाक्पारुष्य' का अर्थ होता है कठोर (पारुष्य) शब्द (वाक्), गाली-गलौज एवं निन्दा आदि। वस्तुतः अपशब्दों का प्रयोग ही 'वाक्पारुष्य' कहलाता है। मनु ने वाक्पारुष्य को केवल अपशब्दों के उपयोग तक ही सीमित नहीं रखा है। उन्होंने अपशब्दों के अतिरिक्त गुरु, माता-पिता, ब्राह्मणों के विरुद्ध की जानेवाली शाब्दिक अभद्रता, झूठ बोलना, व्यवसाय को छिपाना, निन्दा, शरीर को इंगित करके बोले जानेवाले वचन, झूठी प्रशंसा-जैसे कृत्यों को 'वाक्पारुष्य' अपराधों की श्रेणी में रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में यह अपराध सामाजिक मान-प्रतिष्ठा के विरुद्ध होनेवाली क्षति थी<sup>2</sup> जिसके लिए आर्थिक दण्डों के साथ-साथ शारीरिक दण्डों का विधान भी किया गया। वाक्पारुष्य-विषयक दण्ड-विधान के अध्ययन से ऐसा स्पष्ट है कि उसमें वर्णानुसार दण्ड देने की व्यवस्था की गई है। किसी ब्राह्मण के विरुद्ध अपशब्दों का प्रयोग किए जाने पर तीनों वर्णों के लोगों पर क्रमशः सौ, एक सौ पचास पणों के दण्डों व शूद्र के लिए मृत्युदण्ड का विधान किया गया है। इसके विपरीत ब्राह्मण द्वारा अन्य वर्णों पर किए गए इस प्रकार के अपराध पर क्रमशः पचास, पच्चीस और बारह पणों के दण्ड की व्यवस्था थी।<sup>3</sup> समान वर्णों में इस प्रकार के कृत्य के लिए मात्र बारह पणों और अपशब्दों की गम्भीरता पर दुगुनी राशि क्रमशः 'पूर्व साहस', 'मध्यम साहस' का दण्ड भी विधानित था।<sup>4</sup> इसके अतिरिक्त झूठ बोलने, माता-पिता व गुरु के साथ अभद्रता, शारीरिक व्याधि के सम्बोधन पर क्रमशः एक सौ, दो सौ व एक पण के दण्ड की अनुमत था।<sup>5</sup> शूद्र को वर्णों के नाम और जाति का उच्चारण करनेमात्र से ही उसके मुख में दस अंगुल लम्बी लोहे की जलती कील ठोकने एवं इसके अन्यत्र ब्राह्मणों को धर्मोपदेश देने पर मुँह और कान में गरम तेल डालने का विधान मिलता है।<sup>6</sup> इस प्रकार के दण्ड के पीछे मात्र भय की अनावृत्ति का ही अनुमान होता है। इन उद्धरणों के प्रक्षिप्त होने की सम्भावना को अस्वीकृत नहीं किया जा

1. दुबे, राजदेव, *स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति : याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में*, पृ. 338
2. *मनुस्मृति*, 8.273
3. *वही*, 8.268
4. *वही*, 8.276-277
5. *वही*, 8.274-275
6. *वही*, 8.271-272



सकता।

वाक्पारुष्य-जैसे अपराधों के लिए दिए जानेवाले दण्ड के पीछे अनुमानतः यही निहितार्थ रहा होगा कि समाज में वर्णों की श्रेष्ठता बनी रहे एवं व्यक्ति को अभद्र शब्दों के उपयोग से बचाते हुए समाज की प्रतिष्ठा व मर्यादा को बनाए रखा जा सके।

**12. मारपीट ( दण्डपारुष्य )—** मनुस्मृति में वाक्पारुष्य के पश्चात् ‘दण्डपारुष्य’ को विवाद पद के रूप में स्थान दिया है। ‘दण्डपारुष्य’ का शब्दिक अर्थ है मारपीट-आक्रमण। सामान्यतः किसी भी व्यक्ति या सजीवधारी पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आक्रमण या हमला करना ही ‘दण्डपारुष्य’ कहलाता है। हाथ, पत्थर, लाठी, शंख, पंक, धूल अथवा हथियार से मारना या चोट पहुँचाना ‘दण्डपारुष्य’ कहलाता है।<sup>1</sup> वस्तुतः वाक्पारुष्य व दण्डपारुष्य— दोनों ही अपराध एक-दूसरे के परिणामस्वरूप घटित होनेवाली परिवर्तित क्रिया के परिचायक हैं। दण्डपारुष्य, वाक्पारुष्य की परिवर्तित क्रिया है। प्रथमतः कोई व्यक्ति किसी को दूर से अपशब्द कहता है। इसके पश्चात् विरोधी के निकट होने पर अपशब्दों से ही प्रहार करता है।<sup>2</sup> यह कथन इस प्रकार के घटित होनेवाले अपराध की स्वाभाविक प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। निश्चय ही दण्डपारुष्य-जैसे अपराध की पूर्वपीठिका के रूप में वाक्पारुष्य को लिया जा सकता है। वर्तमान में भी साधारण मारपीट के विवाद में भारतीय दण्ड-संहिता की धारा 294 (गाली-गलौच) के साथ वाद को प्रथम सूचना रिपोर्ट (एफ्टी आई आर) में पंजीबद्ध किया जाता है।<sup>3</sup>

मनुस्मृति में व्यापक रूप से इस अपराध को विश्लेषित करने का सार्थक प्रयास मिलता है। मनुस्मृति में दण्डपारुष्य का जो उल्लेख मिलता है, उसमें किसी भी व्यक्ति या उसके अंगों, मानव-निर्मित वस्तुओं, यातायात के साधनों से होनेवाली क्षति, पशु-पक्षी, पेड़-पौधों की किसी भी प्रकार से की जानेवाली क्षति, यहाँ तक कि मानसिक प्रताड़ना (थूकना, मूतना) को भी सम्मिलित किया जा सकता है।<sup>4</sup> कौटिल्य ने तो स्पर्श करने तक को इस अपराध की श्रेणी में रखा

1. काणे, पी वी , धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ 820
2. सिंह, श्याम नारायण, प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि, पृ 188
3. रतनलाल तथा धीरजलाल, भारतीय दण्ड-संहिता, धारा 294, पृ 444
4. मनुस्मृति, 8.285-286, 288, 292

है।<sup>1</sup>

मनुस्मृति के उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस अपराध के घटित होने के लिए व्यक्ति की वृत्ति व प्रवृत्ति उत्तरदायी होती थी। मनु ने उक्त अपराध के लिए विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान किया है। मनु का मत है कि यदि शूद्र द्वारा अन्य तीन वर्णों के किसी व्यक्ति पर जिस अंग से प्रहार किया जाए उसका वही अंग काट देना चाहिये।<sup>2</sup> प्रकारान्तर से याज्ञवल्क्य व कौटिल्य ने भी इस विधान की पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त पेड़-पौधों व पशु-पक्षी को क्षति पहुँचाने एवं शरीर के अंगों, मानव-निर्मित वस्तुओं (चमड़े, लकड़ी, मृदा-निर्मित सामग्री) को नष्ट करने की स्थिति में आनुपातिक आर्थिक दण्ड या क्षतिपूर्ति देने का नियम था।<sup>3</sup> इसके अलावा पारस्परिक विवादों से होनेवाली शारीरिक क्षति के अनुरूप क्रमशः सौ पण, छः निष्क तथा देश-निष्कासन का दण्ड भोगना पड़ता था।<sup>4</sup>

इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में कुछ कतिपय उद्धरणों को मानव-हत्या के अपवादजनित परिस्थितियों को आत्मरक्षा के रूप में ग्राह्य किया जा सकता है। भारतीय दण्ड-संहिता की धारा 96 से 104 तक में आत्मरक्षा का उल्लेख मिलता है।<sup>5</sup> इस प्रकार के सन्दर्भ, मनुस्मृति की मूल्यपरकता के विषय में उपयोगी कहे जा सकते हैं।

**13. स्तेय ( चोरी )—** प्रारम्भ से ही चोरी (स्तेय) को घृणित एवं जघन्य अपराध माना गया है। मनुस्मृति में चोरी की विस्तृत व्याख्या मिलती है। स्वामी के सामने बलपूर्वक किसी सामान को ले जाना तथा असमय में वस्तु को चुराने व चुराकर मुकरने को चोरी कहा जाता है।<sup>6</sup> इस प्रकार स्पष्टतः कहा जा सकता है कि किसी भी प्रकार की चल व अचल सम्पत्ति का गुप्त रूप से हरण करना चोरी कहलाता है। इसके अन्यत्र ग्रंथ में दो प्रकार के चोरों— प्रकाश (दिन में चोरी करनेवाले) तथा गुप्त (रात्रि में चोरी करनेवाले) का उल्लेख मिलता है जो ‘प्रत्यक्ष वञ्चक’ व ‘गुप्त वञ्चक’ कहलाते थे। ‘प्रत्यक्ष वञ्चक’(चोर) में

1. ‘दण्डपारुष्यं स्पर्शनमवगूर्णं प्रहतमिति’ —अर्थशास्त्र, 3.19.1
2. मनुस्मृति, 8.278-280
3. वही, 8.287
4. वही, 8.284
5. वही, 8.350.351
6. वही, 8.332

रिश्वतखोर, भय दिखाकर धन ऐंठनेवाले, धोखेबाज, ठग, जुआरी, राजा की ओर से भलाई की सूचना देकर धन लूटनेवाले, हस्तरेखाएँ देख(कर ठगी कर)नेवाले, शिल्पकार, धूर्त व्यक्ति, वेश्याएँ आदि को परिगणित किया गया है। *मनुस्मृति* में चोरों की श्रेणी में समस्त चल व अचल सम्पत्ति, मूल्यवान् धातुओं, वस्त्र, अनाज, खाद्य-सामग्री, पशु-पक्षी, पुष्पों, हरे धान्य गुल्म, बल्ली, वृक्षों, कपास, सूत, गोबर, पवित्र धान्य, शाक, कुओं पर रखी मटका व रस्सी-जैसी वस्तुओं को चुरानेवाले को व एकान्त में या गृहभेदन करके चोरी करनेवालों को गुप्त और प्रकट चोरों के रूप में वर्णित किया गया है।<sup>1</sup> *तैत्तिरीयसंहिता* की टीका को उद्धृत करते हुए पी वी काणे ने 'तस्कर' का अर्थ प्रकट रूप से चोरी करनेवाला तथा 'स्तेन' का अर्थ गुप्त रूप से धन-सम्पत्ति का अपहरण करनेवाले चोर से लगाया है।<sup>2</sup> प्राचीन काल से ही चोरों से जन एवं राज्य की सम्पत्ति की रक्षा करना एवं चोरों को दण्डित करना प्राचीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था का आदर्श रहा है।<sup>3</sup> मनु ने विभिन्न प्रकार के उपायों से चोरों के उन्मूलन की ओर संकेत किया है। ग्रन्थ में राजा के लिए निर्देश है कि वह सार्वजनिक स्थानों, चौराहों, शिल्प व नाट्य-गृहों, सभा-स्थलों, जलपान-गृहों, व्यभिचारिक स्थलों पर गुप्त रूप से विचरण करनेवाले लोगों व चोरों को सहायता, भोजन, वस्त्र, आवास उपलब्ध करानेवाले व्यक्तियों को प्रजारक्षण में नियुक्त प्रहरियों, गुप्तचरों व रक्षकों के माध्यम से चिह्नित करके यथाशीघ्र उन्हें दण्ड दें या उनका वध करें।<sup>4</sup> लेकिन तत्कालीन विधान में सिर्फ सन्देह के आधार पर ही किसी व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जाता था। चोरी या अपराध को कारित करनेवाले साधनों के प्राप्त होने के बाद ही किसी व्यक्ति को दोषी माना जाता था।<sup>5</sup> कालान्तर में मिताक्षरा ने भी *याज्ञवल्क्यस्मृति* पर लिखे अपने भाष्य में इस प्रकार की व्यवस्था को मान्यता दी है।<sup>6</sup> उक्त कथन से तत्कालीन न्यायिक निष्पक्षता का भाव प्रदर्शित होता है।

1. *मनुस्मृति*, 8.256-260

2. 'स्तेनाः गुप्तचौराः तस्कराः प्रकटचौराः, अतिप्रकटा निर्भया ग्रामेषु बन्धिका मलिप्तुवः।' — *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ 824

3. *मनुस्मृति*, 8.302

4. *वही*, 9.222-223

5. *वही*, 9.270

6. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.268

मनु ने इस प्रकार के चौर्यकर्म के लिए विविध प्रकार के दण्डों का विधान किया है। तत्कालीन न्यायिक विधान में इस अपराध के लिए भयानक दण्ड प्रायोजित था। धातुओं व अन्य मूल्यवान् वस्तुओं की चोरी पर अंग-भंग व मृत्युदण्ड तक का विधान था। लेकिन अपराध की जघन्यता पर विचार किया जाता था। प्रतीत होता है कि चोरों को कठोरतम दण्ड उनकी आपराधिक मानसिक मनोवृत्ति के कारण दिया जाता था। मनु ने एक स्थल पर चोरी को राजद्रोह की श्रेणी में परिगणित किया है। सार्वजनिक स्थलों पर चोरी करने पर अंग-भंग या मृत्युदण्ड दिए जाने की अनुशंसा की है।<sup>1</sup> लेकिन मृत्युदण्ड, अपराध की पुनरावृत्ति में ही दिया जाता था। राजा के लिए चोर को भाँति-भाँति प्रकार से प्रताड़ित करना अनुदिष्ट था।<sup>2</sup> चोरी के अपराध के दण्ड के रूप में क्षतिपूर्ति दिए जाने का उल्लेख हुआ है। साधारण व नित्योपयोगी वस्तुओं की चोरी के लिए उस वस्तु के मूल्य के बराबर राशि का भुगतान दण्ड के रूप में करना पड़ता था।<sup>3</sup> ग्रन्थ में अर्थदण्ड दिए जाने का भी उल्लेख मिलता है।<sup>4</sup>

मनु ने चोरी-जैसे अपराध के लिए वर्णानुसार दण्ड दिए जाने की बात कही है, लेकिन ज्ञातव्य है कि इस प्रकार की व्यवस्था में उच्च वर्णों पर अधिक दण्ड का आरोपण किया जाता था। इस अपराध के लिये शूद्र को आठ गुना, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण को क्रमशः 16, 32 और 64 गुना दण्ड दिया जाता था।<sup>5</sup> वस्तुतः इस प्रकार के विधान से यही सम्भावना फलीभूत होती दिखाई देती है कि यह विधान सभी अपराधों में दिए जानेवाले दण्डों में समान रूप से क्रियान्वित होता होगा। ध्यातव्य है कि *मनुस्मृति* के अनेकत्र स्थलों पर गुण-कर्म योग्यता के आधार पर सामाजिक प्रतिष्ठा की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है। निश्चित ही यह एक स्वाभाविक विचारणा है कि शिक्षित व गुणी व्यक्तियों में विधि, कर्तव्यों व करणीयाकरणीय कृत्यों का अधिक ज्ञान होता है। इसीलिए विधि की उनसे यह अपेक्षा होती है कि वे विधिक उपबंधों के प्रति अधिक सजगता का परिचय दें।

*मनुस्मृति* के कतिपय स्थलों पर चोरी के अपराध से विमुक्ति भी प्रदान

1. *मनुस्मृति*, 9.275-276, 280, 292; 8.323

2. *वही*, 8.310

3. *वही*, 8.326-329

4. *वही*, 8.330-336

5. *वही*, 8.337-338

की गई है। क्षुधातृप्ति या अन्य परिस्थितियों में लघु पदार्थों, खेत से दो मूली, गाजर या अन्य किसी भी प्रकार की खाद्य-सामग्री, वनस्पति, कन्द-मूल, फूल, जलाने की लकड़ी तथा गायों के लिए घास की चोरी को अपराध की श्रेणी में नहीं रखा गया है।<sup>1</sup> कुल्लूक भट्ट ने अपनी व्याख्या में इस विषय को विश्लेषित करते हुए लिखा है कि ऐसा करने पर न तो दण्ड मिलता है और न ही पाप का दोषारोपण होता है। इस नियम के प्रमाण के रूप में समकालीन ग्रन्थकारों के मन्तव्यों को उद्धृत किया जा सकता है।<sup>2</sup>

प्रतीत होता है कि इस काल में यह अपराध एक गम्भीर समस्या का रूप धारण कर चुका था। वस्तुतः यह अपराध अपराधियों की अकर्मण्यता का परिचायक है। अन्य अपराधों की तुलना में यह अपराध व्यक्ति की वृत्ति का द्योतक है। इस अपराध में अपराधी पूर्व-नियोजित कार्य-योजना को क्रियान्वित करने का प्रयास करता है। इसलिए इस अपराध के दोषी व्यक्ति में सुधारात्मक प्रवृत्ति का विकास होना सन्देहास्पद होता है। इसलिए मनु ने इस अपराध के लिए कठोर दण्ड का विधान किया है।

**14. लूटपाट—** *मनुस्मृति* में लूटपाट-जैसे अपराध के लिए 'साहस' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'साहस' शब्द से गुण्डागर्दी, डकैती एवं लूटमार अभिप्रेय है। यद्यपि *मनुस्मृति* में लूटपाट को चोरी के समतुल्य अपराध माना गया है, तथापि इसके साथ ही चोरी व लूटपाट के भेद को भी स्पष्ट किया गया है। *मनुस्मृति* में उल्लेख मिलता है कि स्वामी के सामने बलपूर्वक उसकी वस्तु को लेना 'साहस' (लूटमार) तथा असमय में चुराने एवं चुराकर मुकर जाना 'चोरी' की श्रेणी में आता है।<sup>3</sup> कौटिल्य ने भी इस प्रकार के भेद को स्वीकार किया है।<sup>4</sup> पृ० वृ० काणे ने 'साहस' को ऐसा कर्म माना है जो राजकर्मचारियों या रक्षकों या अन्य लोगों की उपस्थिति में बलपूर्वक किया जाये।<sup>5</sup> मनु ने इस अपराध के अंतर्गत प्रथमतः दुष्ट वचन बोलनेवालों, द्वितीयतः चोर और तृतीयतः मारपीट करनेवालों को परिगणित करते हुए इसके स्वरूप को व्यापक अर्थ देने का प्रयास

- 
1. *मनुस्मृति*, 8.339,341
  2. *गौतमस्मृति*, 12.25; *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.166
  3. *मनुस्मृति*, 8.332
  4. *अर्थशास्त्र*, 3.17
  5. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ० 827

किया है।<sup>1</sup> डॉ० श्याम नारायण सिंह का मत है कि मनु ने साहस के अंतर्गत हत्या को गौण स्थान दिया है।<sup>2</sup> यद्यपि *मनुस्मृति* में साहस के अंतर्गत हत्या का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि हत्या के लिए दिए जानेवाले दण्डों के विषय में विस्तार से चर्चा की है। काणे ने हत्या के लिए दिए जानेवाले दण्डों के आधार पर इस अपराध को 'साहस' के अंतर्गत रखा है।<sup>3</sup> कदाचित् इसके अन्यत्र ही इस ग्रन्थ में हत्या व उसके लिए उत्तरदायी परिस्थितियों व दिए जानेवाले दण्डों के बहुतेरे दृष्टांत वर्णित हैं<sup>4</sup> जिनका साक्ष्य के रूप में उपयोग करके सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि मानव-हत्या साहस का ही एक रूप है।

*मनुस्मृति* में विधानित है कि आपसी संव्यवहार के चलते, लालच और भय का वातावरण व समाज की व्यवस्थाओं में गतिरोध उत्पन्न करनेवाले दण्ड के ही योग्य होते हैं; व्यक्ति, समाज व राज्य का विकास इनके उन्मूलन से ही सम्भव है।<sup>5</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि अराजकता, गुण्डागर्दी, उपद्रव फैलानेवाले व्यक्ति राज्य के लिए सदैव ही हानिकारक होते हैं। अतएव *मनुस्मृति* में इनके उन्मूलन को ही श्रेयस्कर माना गया है। इसलिए इसमें साहस के अंतर्गत स्तेय, गाली-गलौच, मारपीट-जैसे विवादों से संबंधित विवेचना मिलती है।

**15. परस्त्रीहरण (बलात्कार)—** *मनुस्मृति* में वर्णित सामाजिक जीवन के अंतर्गत नारी-विषयक विवरणों के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि विशृंखलित राजनैतिक कारणों व बाह्य आक्रमणों का प्रभाव समाज और स्त्रियों पर भी पड़ा। *मनुस्मृति* में चतुर्वर्णों की स्त्रियों को पूजनीय व रक्षणीय माना गया है। साधारणतः स्त्री के साथ अवैधानिक शारीरिक संबंध स्थापन को 'परस्त्रीहरण' कहा जाता है। *मनुस्मृति* में किसी परस्त्री से एकान्त (तीर्थस्थल, उपवन, नदियों के संगम) में मिलने व सम्भाषण करने को, परास्त्री को उपहार देना, हँसी-मजाक करना, आलिंगन, कपड़ों, आभूषणों की प्रशंसा, एक आसन पर बैठना, परस्त्री-पुरुष द्वारा अपने गुप्तांगों को स्पर्श करना, समलैंगिकता, वेश्यावृत्ति आदि कृत्यों को परस्त्रीहरण-जैसे अपराध के रूप में पारिभाषित किया

- 
1. *मनुस्मृति*, 8.345
  2. प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि, पृ० 190
  3. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ० 828
  4. *मनुस्मृति*, 9.241-242,232
  5. *वही*, 8.347,344,346

गया।<sup>1</sup> कुल्लूक भट्ट ने लिखा है कि (परस्त्रीहरण) संयोग की अभिलाषा से जो दूसरे को ग्रहण करे या पकड़े, उस क्रिया को 'संग्रहण' कहते हैं।<sup>2</sup> उक्त अपराधजनित परिस्थितियों के अलावा एक-दूसरे (स्त्री-पुरुष) की आपसी सहमति से गुप्तांगों को स्पर्श करके कामवासना को जाग्रत् करना-जैसी अन्य कतिपय स्थितियाँ भी परस्त्री-संग्रहण में परिगणित की गई थीं।<sup>3</sup> इस विषय पर मिताक्षरा की व्याख्या भी मनु के समीप ही प्रतीत होती है।<sup>4</sup> *मनुस्मृति* से इस अपराध के प्रति सजगता का भान होता है। प्रतीत होता है कि तत्कालीन विशृंखलित होती परिस्थितियों में समाज के सम्मुख अवैधानिक शारीरिक संबंधों के रूप में एक गम्भीर समस्या थी। इस प्रकार के संबंधों से सामाजिक मूल्य ध्वस्त होने लगे थे। समाज में वर्णसंकर संतानों की उत्पत्ति की समस्या भी व्याप्त थी। मनु का कथन है कि पराई स्त्री से यौन-संबंधों से वर्णसंकर संतानों की उत्पत्ति का अदेशा होता है जिससे सामाजिक व्यवस्थाएँ (धर्म) व मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न होने लगती हैं।<sup>5</sup> *मनुस्मृति* में उपलब्ध प्रमाणों से परस्त्रीहरण (बलात्कार)-जैसे अपराध का घृणात्मक व जघन्य स्वरूप उभरकर सामने आता है। निश्चित ही इस प्रकार की अनैतिकता प्रत्येक युग में विनाशकारी होती है। इसलिए इस ग्रन्थ में इस अपराध से संबंधित परिस्थितियों व विधिक उपबंधों को सूक्ष्मता के साथ विश्लेषित करने का प्रयास मिलता है। उक्त या अन्य दशाओं से यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का अपराध करता है तो उसके लिए *मनुस्मृति* में कठोर दण्ड का विधान मिलता है।

मनु ने स्त्रियों की सुरक्षा के लिए कदाचित् नियमों का प्रतिपादन किया है और इन्हीं नियम-विधानों के कारण मनु को नारी-विरोधी कहा जाता है। किन्तु यथार्थतः ये विधिक उपबंध भारतीय मानस और ग्रन्थों में प्रतिपादित नारी-स्वातन्त्र्य को ध्यान में रखकर संकलित किए गए हैं। ये विधिक उपबंध नारी की वैधानिक स्वतंत्रता का तो समर्थन करते हैं, लेकिन उस दैहिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबंध आरोपित करते हैं जिसे वर्तमान समय में या पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा नारी-स्वतन्त्रता के अर्थों में ग्राह्य किया जाता है। इस संबंध में मनु का स्पष्ट

1. *मनुस्मृति*, 8.354-357 व 369
2. *वही*, 8.356 पर कुल्लूक भट्ट की व्याख्या
3. *मनुस्मृति*, 8.358
4. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.283
5. *मनुस्मृति*, 8.353

निर्देश है कि चतुर्वर्णों को अपनी पत्नियों को नियन्त्रण व सुरक्षा में रखना चाहिये, क्योंकि स्त्रियाँ स्वाभावतः कमजोर होती हैं।<sup>6</sup> इस अपराध के लिए विधानित दण्ड का स्वरूप अत्यन्त भयावह प्रतीत होता है। सामान्यतः उक्त अपराध के लिए आर्थिक व शारीरिक— दोनों ही प्रकार के दण्डों के प्रचलन में होने की पुष्टि होती है। प्रथमतः दण्ड के निर्धारण से पूर्व यह विचार किया जाता था कि यदि इस प्रकार का अनैतिक संबंध समान वर्ण के स्त्री-पुरुष में पारस्परिक सहमति से बना है तो उसे वैवाहिक संबंध के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता था।<sup>7</sup> याज्ञवल्क्य ने भी इस प्रकार के नियम की प्रासंगिकता का समर्थन किया है।<sup>8</sup> इसके अन्यत्र यदि कोई व्यक्ति बलपूर्वक, स्त्री की इच्छा के विरुद्ध शीलभंग या स्त्री की पवित्रता को भंग करता है तो उसके लिए अंग-भंग, लिंग काटने व मृत्युदण्ड और स्त्री की इच्छा या अन्य परिस्थितियों में मृत्युदण्ड न देकर अन्य सामान्य आर्थिक व शारीरिक दण्डों की व्यवस्था थी।<sup>9</sup> समलैंगिक संबंधों पर दस बेंतों का दण्ड दिया जाता था।<sup>10</sup> इसके अनन्तर यदि कोई महिला किसी कन्या को बलपूर्वक शारीरिक संबंधों के लिए प्रेरित या उत्पीड़ित करे तो उसका मुण्डन करके गधे पर बिठाकर नगर में घुमाना निर्देशित था।<sup>11</sup> उक्त उद्धरण से तत्कालीन समाज में बलपूर्वक वेश्यावृत्ति कराने का बोध होता है। इस कालविशेष में कतिपय महिलाएँ थीं जो सीधी-सादी कन्याओं को लोभ, लालच, छल-बल से इस कार्य को करने के लिए उत्प्रेरित करती थीं। वह स्त्री भी पापी मानी जाती थी जो पिता या बान्धवों के धनी होने पर या अपने सौन्दर्याभिमान में पुरुष के साथ संगति करके अपने पति का अपमान करती थी। उक्त प्रकार की स्त्रियों को जनसामान्य के सम्मुख कुत्तों से नुचवाने का विधान था।<sup>12</sup> इस अपराध के लिए दिए जानेवाले दण्डों में वर्णों के क्रम को ध्यान में रखा गया है।<sup>13</sup> शूद्रों को इस अपराध में अंग-भंग या

130. *मनुस्मृति*, 8.359; 9.14-15
131. *वही*, 8.366
132. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.288
133. *मनुस्मृति*, 8.364, 359, 367-368
134. *वही*, 8.369
135. *वही*, 8.370
136. *वही*, 8.371-372
137. *वही*, 8.375-376, 383-384

सम्पत्ति-हरण जैसे दण्ड दिए जाने का विधान था।<sup>1</sup> इसके अलावा *मनुस्मृति* में कतिपय चिह्नित लोगों— संन्यासी, भिक्षु, बन्धियों, हलवाई को परिस्थितियों के अनुसार नट, गायक, चारण, भार, वेश्याओं, अपनी पत्नी की वृत्ति से जीविका चलानेवाले को वृत्ति के अनुसार इस प्रकार के अपराध से मुक्ति प्रदान की गई है।<sup>2</sup>

उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि *मनुस्मृति* में स्त्रियों की महत्ता, सुरक्षा व सम्मान को बनाए रखने के लिए यथोचित विधि-विधानों का समावेश मिलता है। इस ग्रन्थ के उद्धरणों से नारियों के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में स्त्रियों को पूजनीय माना गया है। यही बात *मनुस्मृति* से उभरकर सामने आती है। कतिपय स्थलों पर स्त्रियों के लिए भयानक दण्ड के भाव का प्रदर्शन मिलता है जो समसामयिक नैतिक विशृंखलन को दर्शाता है। इस प्रकार का कठोर विधान अनाचारी व दुष्ट प्रवृत्तियों की महिलाओं के लिए था। तत्कालीन समाज में नारी के प्रति सुरक्षा का भाव था।

**16. स्त्री पुंभर्म**— प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम के अंतर्गत पति-पत्नी के संबंधों को पवित्रता, समर्पण, त्याग, अधिकार और कर्तव्यों के प्रतिपालक के रूप में महत्ता प्रदत्त की गई है। वैदिक ग्रन्थों में दोनों के आपसी प्रेम-सौहार्द व पारस्परिक सामञ्जस्य के विषय में विस्तार से उल्लेख किया गया है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक विवाह नामक संस्था से बने इस पवित्र बन्धन से सामाजिक रीति-नीति व आपसी कर्तव्यपरायणता का बोध होता है। *अथर्ववेद* से पाणिग्रहण के समय पति द्वारा पत्नी के भरण-पोषण की घोषणा विचारणीय है।<sup>3</sup> पत्नी के भरण-पोषण के कारण ही पत्नी को 'भार्या' एवं पति को 'भर्ता' की संज्ञा प्राप्त हुई है। *मनुस्मृति* से भी इस प्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। ज्ञातव्य है कि *मनुस्मृति* वैदिक मान्यताओं का संशोधन-परिमार्जन है। इसलिए पति-पत्नी के धर्म अर्थात् कर्तव्यों को व्यवहार का विषय मानते हुए 'स्त्री पुंभर्म' के रूप में इसका उल्लेख किया है, किन्तु न्यायिक विषय के रूप में इस पद का *मनुस्मृति* में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः यह एक पारिवारिक समस्या (विवाद) थी, जिसका निराकरण परिवार के श्रेष्ठ जनों के द्वारा किया जाता होगा। इसलिए इस अपराध को राजकीय दण्ड-विधि के अंतर्गत सम्मिलित नहीं किया गया था।

1. *मनुस्मृति*, 8.374

2. *वही*, 8.360.362

3. 'ममेयमस्तु पोष्या' — *अथर्ववेद*, 14.1.52

विवाद पद के इस विषय में पति-पत्नी के करणीयाकरणीय कार्यों का वर्णन किया गया है जो धर्मानुकूल थे। *मनुस्मृति* में सभी वर्णों की स्त्रियों को परिवार के सदस्यों के नियंत्रण में रखने का निर्देश देते हुए उसे स्वतन्त्रता के योग्य नहीं माना है।<sup>1</sup> क्योंकि यत्नपूर्वक स्त्री की रक्षा करने से ही पुरुष अपने परिवार, चरित्र, कुल व धर्म की रक्षा करने में समर्थ होता है।<sup>2</sup> इसलिए धन-संग्रह, व्यय, गृहकार्य और अन्य पारिवारिक दायित्व— ये ऐसे कार्य हैं जिनके भार से स्त्रियाँ स्वतन्त्र न होकर अपने कुल एवं धर्म के प्रति समर्पित रहती थीं।<sup>3</sup>

**17. सम्पत्ति-विभाजन ( विभाग )**— *मनुस्मृति* में सम्पत्ति-विभाजन (विभाग) का व्यवहार-पद के रूप में उल्लेख करते व उसके लिए 'रिक्थ', 'दायभाग' व 'विभाग'—जैसे शब्दों का उपयोग मिलता है।<sup>4</sup> यद्यपि इस काल में अन्य अपराधों की तुलना में इस अपराध को कम दोषवह माना गया है, तथापि कालान्तर की अन्य स्मृतियों में इस अपराध को प्रमुखता प्रदान की गई व साथ ही उक्त अपराध के उन्मूलन के लिए कठोर दण्डों का विधान भी किया गया। मनु ने सम्पत्ति के स्वामित्व-स्वत्व, विभाग, नियोग, पुत्रिका, दत्तक प्रकरण, क्षेत्र-विभाग, विजातीय पुत्र, द्वादश पुत्र, अपुत्र, स्त्री-धन, अविभाज्य सम्पत्ति, उत्तराधिकारियों की योग्यता व अयोग्यता, धन का विभाजन आदि विषयों के रूप में उत्पन्न विवादजनित परिस्थितियों का इस विवाद के रूप में विवेचन प्रस्तुत किया है।

*मनुस्मृति* में माता-पिता की मरणोपरान्त ही सम्पत्ति-विभाजन का निर्देश मिलता है।<sup>5</sup> मनु ने सर्वप्रथम संयुक्त परिवार की महत्ता को वर्णित किया है। लेकिन प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में एकल परिवार को मान्यता दी जाने लगी थी व इस व्यवस्था को धर्म के साथ संबंधित कर दिया गया था।<sup>6</sup> सर्वप्रथम ज्येष्ठ पुत्र को ही सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त थी क्योंकि वही पितृऋण से मुक्ति का माध्यम था। ज्येष्ठ होने के कारण उसका परिवार में स्थान पिता के समकक्ष था, वही कुल के मान-सम्मान का सूचक व उसे अपयश

1. *मनुस्मृति*, 9.3,5-6,13,15

2. *वही*, 9.8-9

3. *वही*, 9.11-12

4. *वही*, 9.103

5. *वही*, 9.104

6. *वही*, 9.111



की ओर ले जानेवाला था। इसलिए इस ग्रन्थ में उसके पारिवारिक कर्तव्यों का विस्तार से उल्लेख किया गया है।<sup>1</sup>

**विभाग—** वस्त्राभूषण, वाहन, पका अन्न, जल, पुरोहित, दासी, नलकूप, घर का संयुक्त प्रवेश-मार्ग, स्त्री तथा अन्य निर्वाह-योग्य वस्तु के अतिरिक्त सभी प्रकार की सम्पत्ति को विभाजन योग्य माना गया है।<sup>2</sup> मनुस्मृति में सम्पत्ति के न्यायोचित विभाजन का विधान मिलता है किन्तु यदि भाइयों के आपसी संबंध सौहार्दपूर्ण हों तो ज्येष्ठ भ्राता को सम्पत्ति पर अपना स्वामित्व बनाए रखते हुए छोटे भाइयों के पितृवत् पालन-पोषण के लिए भी निर्दिष्ट किया गया है।<sup>3</sup> सम्पत्ति का विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि बड़े, मझले व छोटे भाई को सम्पत्ति का क्रमशः 20वाँ, 40वाँ और 80वाँ भाग व अन्य शेष भाइयों को 160वाँ भाग समान रूप से प्राप्त होना चाहिये। साथ ही अपने हिस्से का चौथा भाग बहिनों को देने का नियम था। विभाजन के इसी क्रम में पशुओं के विभाजन के लिए भी विधिक उपबंध थे।<sup>4</sup>

**नियोग-प्रकरण—** मनु ने नियोग-विधि से उत्पन्न संतानों को विभाजन के द्वितीय क्रम में रखा है। मनु ने विधानित किया है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र की निःसंतान पत्नी अपने देवर से पुत्र को जन्म दे तो वह पुत्र अपने चाचाओं के समान सम्पत्ति का अधिकारी होगा न कि ज्येष्ठ पुत्र की भाँति प्रथम अधिकारी। इसके अन्यत्र मनु ने इसी क्रम में अन्य विधियों का भी उल्लेख किया है। एक से अधिक पत्नियाँ होने पर माता की ज्येष्ठतानुसार निर्णय करना चाहिये। यदि जुड़वा संतान हो तो प्रथम जन्मी संतान को ही ज्येष्ठता प्रदत्त करनी चाहिये।<sup>5</sup>

**पुत्रिका से जन्मा पुत्र—** विभाजन के तृतीय क्रम में पुत्र के अभाव में पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्री से जन्मा पुत्र होता था। पुत्र व कन्या के पुत्र में कोई अंतर नहीं होता क्योंकि मनु का मत है कि इन दोनों का जन्म एक ही रक्त व देह से होता है, इसलिए कन्या के पुत्र के होते कोई अन्य व्यक्ति सम्पत्ति का

भागी नहीं हो सकता था।<sup>1</sup> लेकिन इसके लिए एक निश्चित विधि का पुत्री के विवाह के समय पालन करना होता था कि मैं अपनी भ्रातृहीन कन्या को तुम्हें देता हूँ और इससे जो भी पुत्र होगा, वह मेरे पुत्र के समान होगा। दक्ष प्रजापति के कथानक को ग्रन्थ में इसके प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है।<sup>2</sup> यदि पुत्रिका-विधि के पश्चात् किसी व्यक्ति को पुत्र उत्पन्न होने की दशा में पुत्री का पुत्र व पुत्र समान रूप से धन के भागी होते हैं।<sup>3</sup> पुत्री से जन्मा पुत्र ही पिता व नाना का पिण्डदान करता था।

**दत्तक पुत्र—** मनुस्मृति में 'दत्तक पुत्र' को पारिभाषित किया गया है। आपत्तिकाल में माता-पिता संकल्प के साथ जिस सजातीय पुत्र का दान लेते हैं, ऐसा पुत्र 'दत्तक' कहलाता है।<sup>4</sup> दत्तक पुत्र समान रूप से उसके माता-पिता, जिसका उसने गोत्र ग्रहण किया है, की सम्पत्ति का अधिकारी हो सकता था; लेकिन वह अपने जन्मदाता की सम्पत्ति के किसी भी अंश को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता था। इसके अतिरिक्त तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था में दत्तक पुत्र को अपने माता-पिता का पिण्डदान करने का भी अधिकार था।<sup>5</sup>

**क्षेत्र-विभाग—** तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में क्षेत्रज पुत्र को भी उत्तराधिकारी के रूप में ग्राह्यता प्राप्त थी लेकिन उसका भी विधिसम्मत होना एक अनिवार्य शर्त थी। आचार्या व विधि द्वारा निर्देशित स्त्री से उत्पन्न संतान भी पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती थी, साथ ही निःसंतान मृत व्यक्ति का छोटा भाई गुरु की आज्ञा लेकर अपने भाई की पत्नी से पुत्र उत्पन्न करता था तो वह पुत्र ही मृत व्यक्ति की सारी सम्पत्ति को पाने का अधिकारी होता था। काम के वशीभूत होकर उत्पन्न संतानें इस प्रकार की सम्पत्ति की भागी नहीं हो सकती थीं।<sup>6</sup>

**विजातीय पुत्र—** ब्राह्मण पति की सजातीय पत्नी से उत्पन्न पुत्र

1. मनुस्मृति, 9.105-110

2. वही, 9.219

3. वही, 9.108

4. वही, 9.113-119

5. वही, 9.121-126

1. मनुस्मृति, 9.127,130,133

2. वही, 9.127-129,136

3. वही, 9.132,134

4. वही, 9.168

5. वही, 9.141-142

6. वही, 9.143-148

कृषियोग्य एक वृषभ, वाहन, भूषण, गृह और इन सबमें भी जो श्रेष्ठ हो तथा अन्य भागों में से एक भाग का अधिकारी होता था। उपर्युक्त विभाजन के पश्चात् शेष सम्पत्ति में तीन भाग— क्षत्रियाणी का पुत्र दो भाग, वैश्यानी का पुत्र डेढ़ भाग व शूद्रा से जन्मा पुत्र एक भाग का अधिकारी होता था।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र अन्य वर्णों से उत्पन्न संतानों के लिए ग्रन्थ में उल्लिखित विधि के अनुरूप सम्पत्ति का विभाजन करना विधानित है।<sup>2</sup>

**द्वादश पुत्र और विभाग—** मनुस्मृति में उत्तराधिकार के क्रम में 12 पुत्रों का विस्तार से वर्णन हुआ है। यहाँ इस विषय की संक्षिप्त व्याख्या ही ध्येय है। मनु ने 12 पुत्रों को अपने ग्रन्थ में वर्णित किया है लेकिन छः पुत्रों— क्रमशः औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृतिम, गूढोत्पन्न और अपविद्ध को ही पुत्र व बान्धव के रूप में विधिक मान्यता दी है। इसके अन्यत्र शेष छः पुत्रों— कानीन, सहोद, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र को गोत्र और दाय के उत्तराधिकारी के रूप में अयोग्य माना है।<sup>3</sup> वस्तुतः इस काल की सामाजिक व्यवस्था में औरस पुत्र को श्रेष्ठता का सूचक माना गया था। औरस पुत्र ही सम्पत्ति का अधिकारी होता था और वह अपने धन में से क्षेत्रज पुत्रों को छठा या पाँचवाँ भाग उत्तराधिकार के रूप में प्रदान करता था। शेष अन्य पुत्र अपनी पूर्व-परिस्थितियों के अनुरूप धन के भाग को पाने के अधिकारी होते थे।<sup>4</sup> श्रेष्ठ व औरस पुत्र के अभाव में ही अधम पुत्रों को धन को प्राप्त करने का अधिकार होता था।<sup>5</sup>

**पुत्राभाव में सम्पत्ति-विभाजन—** मनु का मत है कि पुत्र ही पिता की सम्पत्ति का वास्तविक अधिकारी होता था और पुत्राभाव में ही पिता व भाई सम्पत्ति को प्राप्त करने के योग्य होते थे।<sup>6</sup> उपर्युक्त उत्तराधिकारियों के अभाव में सम्पूर्ण सम्पत्ति को योग्य ब्राह्मण को दान दिए जाने का भी निर्देश मिलता है।<sup>7</sup>

**स्त्रीधन—** मनुस्मृति में स्त्रीधन के अंतर्गत नारी की विभिन्न सम्पत्तियों

1. मनुस्मृति, 9.150-151, 153
2. वही, 9.154-157
3. वही, 9.159-160
4. वही, 9.162-165
5. वही, 9.184
6. वही, 9.185
7. वही, 9.188

का उल्लेख किया गया है। स्त्री के गरिमापूर्ण सुरक्षित जीवन के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है। इस प्रकार के विधान को राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के साथ परस्पर सम्बद्ध करके भी देखा जा सकता है। वर्तमान समसामयिक परिवेश में समय-समय पर नारी-सशक्तिकरण के लिए होनेवाले प्रयासों के साथ इसकी तारतम्यता स्थापित की जा सकती है। मनु का यह विधान यह सुनिश्चित करता है कि अन्य समकालीन संस्कृतियों की तुलना में भारतीय संस्कृति में हजारों वर्ष पूर्व ही नारी-सशक्तिकरण की दिशा में महनीय प्रयास आरम्भ हो चुके थे। स्त्रीधन के अंतर्गत उस धन का उल्लेख मिलता है जिस पर स्त्री का पूर्ण स्वामित्व होता था। यहाँ इस ग्रन्थ में स्त्रीधन के रूप में परिगणित वस्तुओं के प्रकार, उस पर उसके अधिकार व अनन्तर स्त्रीधन के वितरण की प्रणाली आदि का उल्लेख प्रासंगिक होगा। मनुस्मृति में छः प्रकार के स्त्रीधन का उल्लेख हुआ है :

**1. अध्यग्नि—** यह वह धन होता था जो किसी स्त्री को विवाह के समय अग्नि के समक्ष पिता आदि द्वारा प्राप्त होता था।

**2. अध्यावाहनिक—** पिता के घर से विदाई के समय स्त्री को उपलब्ध धन।

**3. प्रीतिदत्त—** पति आदि द्वारा स्नेहवश किसी सुअवसर पर दिया गया धन।

**4. भ्रातृदत्त—** भाई द्वारा देय धन।

**5. मातृदत्त—** माता द्वारा दिया गया धन।

**6. पितृदत्त—** पिता द्वारा प्रदत्त धन।<sup>1</sup>

इन सभी प्रकार के धन पर नारी का अधिकार होता था। इस धन को वह अपने पास रख सकती थी व उसका विनियोजन कर सकती थी। पति की मृत्यु के बाद भी नारी को इस धन से वञ्चित नहीं किया जा सकता था, इस प्रकार का कार्य करनेवाले पाप के भागी होते थे।<sup>2</sup> निश्चय ही मनु की यह विलक्षण दूरदर्शिता थी जिसके चलते विपत्ति के क्षणों में नारी स्वयं को सुरक्षित अनुभव कर

1. मनुस्मृति, 9.194

2. 'स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।

नरियानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥' —वही, 3.52

सकती थी। नारी के स्त्रीधन के कौन-कौन व्यक्ति अधिकारी हो सकते थे, इसका भी मनु ने निर्धारण किया है।<sup>1</sup> इसके अलावा इस ग्रन्थ में उत्तराधिकारियों-संबंधी योग्यता व अयोग्यता का भी विधान किया गया है व अविभाज्य धन (विद्या से, मित्र, विवाह के समय और यज्ञ से प्राप्त धन) का उल्लेख किया गया है।<sup>2</sup> उपरिवर्णित विधियों का यथोचित अनुपालन न करने पर दण्ड प्रायोजित था।<sup>3</sup>

**18. द्यूत समाह्वम्**— भारत में द्यूत समाह्वम् की परम्परा वेदकाल से ही दिखाई देती है किन्तु वेदकाल में द्यूत समाह्वम् को अपराध की श्रेणी में नहीं रखा गया था जबकि मनु ने इसे अपराध मानते हुए इसका परिगणन चोरी-जैसे जघन्य अपराध के रूप में करते हुए इसके उन्मूलन पर बल दिया है।<sup>4</sup> मनु ने द्यूत समाह्वम् को पृथक्-पृथक् रूप से पारिभाषित किया है। उनके अनुसार ‘जो खेल अप्राणियों, जैसे— अक्ष, शलाका के माध्यम से खेला जाए, उसे ‘द्यूत’ तथा प्राणियों के माध्यम आदि से पणपूर्वक खेला जाए, उसे ‘समाह्वम्’ कहा जाता है। इस काल में द्यूत और समाह्वम् को करना व करवाना— दोनों को अपराध माना जाता था। राज्य व समाज के लिए हानिकारक होने के कारण मनोरंजन के लिए भी इनके प्रयोग को न करने का विधान मिलता है।<sup>5</sup> द्यूत समाह्वम् को खेलनेवाले व इसका आयोजन करनेवाले— दोनों को ही मृत्युदण्ड या नगर-निर्वासन के दण्ड का निर्देश मिलता है।<sup>6</sup> यहाँ तक कि द्यूत को रोकने के लिए नियुक्त कर्मचारी भी यदि रिश्वत लेकर इस प्रकार के अपराध को करवाता है तो उसकी सम्पत्ति को राजसात् व उन्हें सेवा से पृथक् करने के लिए भी राजा को परामर्श दिया गया है। इसके अलावा इस अपराध को करानेवाले गुप्त चोर होते थे, इसलिए उन्हें देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाता था।<sup>7</sup> अन्ततः यह कहा जा सकता है कि इस काल में द्यूत-क्रीड़ा का निरूपण एक सामाजिक बुराई के रूप में हो चुका था। इसी को ध्यान में रखते हुए कठोर दण्डों का विधान किया गया।

1. मनुस्मृति, 9.192-198

2. वही, 9.201-208

3. वही, 9.213-214

4. वही, 9.222

5. वही, 9.221, 223

6. वही, 9.224

7. वही, 9.225-226

उपर्युक्त लिखित विवादों के निराकरण के लिए न्यायाधिकारी को सनातन धर्म के अनुसार न्याय करने का निर्देश मनुस्मृति में मिलता है। न्यायाधिकारी को देश, काल एवं अपराधी की मनोस्थिति को ध्यान में रखकर निर्णय देने का विधान भी मनुस्मृति में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त सावधानियाँ न्यायिक व्यवस्था की निष्पक्षता को बनाए रखने के लिए थीं।

## 5.2 दण्ड का स्वरूप, प्रकृति एवं चिन्तन

प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुरोधाओं ने राजनीतिक व सामाजिक जीवन के लिए दण्ड को संस्थागत इकाई के रूप में अधिक महत्वपूर्ण माना है। इसलिये उन्होंने राज्य के सप्तांग सिद्धान्त के अंतर्गत दण्ड-नीति की विस्तार से चर्चा की है। अपराध-विधि की तरह ही दण्ड-विधि ऐतिहासिक विकास का सुफल है। भारतीय दण्ड-विधान समकालीन अन्य विश्व-संस्कृतियों में प्रचलित दण्ड-विधानों की तुलना में श्रेष्ठ था, क्योंकि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय विधि कहीं भी किसी दण्ड के रूप में प्रतिशोध या बदले की भावना का अनुगमन करती प्रतीत नहीं होती। इतिहास की विषय-वस्तु के रूप में राजनीतिक जीवन के विविध पहलुओं से संबंधित जो भी तथ्य उपलब्ध हैं, उनसे यही सम्भावना प्रबल प्रतीत होती है कि दण्ड का उद्देश्य वस्तुतः विधि व न्याय के सिद्धान्त को चरितार्थ करना था। भारतीय समाज में यह स्थिति वेदकाल से ही स्पष्ट होने लगती है। वेदकाल में किसी दण्ड-संहिता के प्रचलन में होने की बात स्पष्टतया नहीं कही जा सकती, लेकिन परिवर्तित काल में स्पष्टतः एक दण्ड संहिता के अस्तित्व में होने के बहुतेरे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेदकाल से ही, विशेषकर परिवर्तित काल में अपराध-संहिता की तरह दण्ड-संहिता का भी विकास होने लगा था।

वेदकाल के पश्चात् युगानुरूप होते सामाजिक परिवर्तनों के चलते व्यक्ति में स्वत्व की भावना, स्वार्थ, जनसंख्या-वृद्धि, अहंकार, लोभ, मद, ईर्ष्या-जैसी प्रतिस्पर्धात्मक प्रवृत्तियों का विकास हुआ। व्यक्ति के पापमूलक (आपराधिक) कर्मों के कारण उत्पन्न हुई अराजक स्थितियों के उन्मूलन और समाज में सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए धर्मग्रन्थों में अपराध-विधि या दण्ड-संहिता का प्रतिपादन हुआ। मनुस्मृति का संकलन-काल भी भौतिक उन्माद से उपजे सांस्कृतिक विशृंखलन, अनीति व वैदिक मान्यताओं की उपेक्षा का काल

था और चिन्तकों द्वारा तत्कालीन जीवन में एक सर्वमान्य प्रभावी विधि-संहिता की आवश्यकता महसूस की गयी। *मनुस्मृति* को इसी आवश्यकता का सुफल मानना उचित होगा; क्योंकि इसमें वर्णित अपराध और उसके लिए निर्धारित दण्ड के स्वरूप के चिन्तन से स्पष्ट है कि ध्वस्त होती वैदिक परम्पराओं-मान्यताओं की पुनर्स्थापना के प्रयासों के फलस्वरूप पाप, अपराध के रूप में परिवर्तित हो गया एवं व्यक्ति के द्वारा किए गए अकरणीय कृत्यों को अपराध की श्रेणी में रख लिया गया। ध्यातव्य है कि समकालीन वैदिकेतर सम्प्रदायों के कारण छिन्न-भिन्न होती सामाजिक व्यवस्थाओं के चलते समाज की विकृत शक्तियाँ इस रूप में विकसित हो रही थीं। उन्हें नियन्त्रित करने के लिए एक सामाजिक व राजनीतिक शक्ति की अपेक्षा थी। प्रथमतः सामाजिक विधि द्वारा व्यक्ति के चरित्र को सुगठित रखने का प्रयास किया गया। द्वितीयतः अपराधों पर नियन्त्रण रखने के लिए व्यक्ति को एक निश्चित विधि के अंतर्गत शासित करने के लिए राजकीय विधि की आवश्यकता पर बल दिया गया जिससे समाज की अनियन्त्रित होती शक्तियों को विधिरूपी दण्ड-शक्ति के माध्यम से नियन्त्रित किया जा सके।

**(क) 'दण्ड' की परिभाषा—** प्राचीन धर्मग्रन्थों में सर्वप्रथम ऋग्वेद में 'दण्ड' शब्द का उल्लेख मिलता है कि दूसरे के पशु को हाँक लेना दण्डनीय था।<sup>1</sup> लेकिन यहाँ स्पष्टतः उसका अर्थान्वयन न्यायिक सन्दर्भ के रूप में नहीं किया जा सकता, लेकिन यहाँ दण्ड का उपयोग नियन्त्रक के रूप में परिलक्षित होता है। न्यायिक प्रशासन या विधिक प्रणाली के घटक तत्त्व के रूप में दण्ड-नीति का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में हुआ है। सर्वप्रथम *शतपथब्राह्मण* में दण्ड, शक्ति के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

मनु ने अपने ग्रन्थ में 'दण्ड' को सर्वांग रूप से पारिभाषित करने का प्रयास किया है। ग्रन्थ में 'दण्ड' को नियन्त्रक व अनुशासन के सर्वोच्च पर्याय के रूप में महत्ता प्रदत्त करते हुए उल्लेख मिलता है कि दण्ड वह विधान है जिसके भय से सभी प्राणी अपने-अपने कार्यों का समुचित ढंग से पालन करने के लिए प्रेरित होते हैं। अपने विस्तृत निहितार्थ में दण्ड, धर्म (विधि) का रक्षक व प्रेणता है।<sup>2</sup> *महाभारत* में भी दण्ड को इसी रूप में व्याख्यायित किया गया है। दण्ड मर्यादा का

पर्याय है। दण्ड उस मर्यादा का नाम है जो मनुष्यों में असंमोह (अव्यवस्था के निवारण) और अर्थ (धन-सम्पत्ति या मनुष्यों द्वारा बसायी पृथिवी) के संरक्षण के लिए स्थापित की गई है।<sup>1</sup> इसके अतिरिक्त विद्वानों ने सामाजिक संबंधों, सांपत्तिक अधिकारों एवं परम्पराओं के उचित ढंग से परिपालन को दण्ड माना है।<sup>2</sup>

इस प्रकार दण्ड-विधि का वह स्वरूप है जो संसार के सभी मनुष्यों, प्राणियों को लौकिक व पारलौकिक कर्म की उचित अवधारणा में आबद्ध करता है। वस्तुतः वह व्यक्ति को सत्यपथ के अनुगमन के लिए प्रेरित करने का माध्यम है। वस्तुतः भारतीय मनीषा में दण्ड की शक्ति सर्वातिशायी शक्ति है जो मर्यादा (सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक अनियमितारूपी प्रतिबंध) का अधिरोपण करती है। अपने विशिष्ट अर्थों में वह राजा, गुरु, नेता, वर्ण व आश्रम-विधि का प्रवर्तक है। अन्ततः मनुष्य को अनैतिक कार्य व पापवृत्ति की ओर अग्रसर होने से रोकनेवाली विधिक व्यवस्था ही दण्ड है। अपने इसी स्वरूप में व्यक्ति के जीवन व सम्पत्ति की रक्षा के लिए लोक में जो मर्यादा प्रतिष्ठापित की गई है, वही दण्ड है।

**(ख) दण्ड की उत्पत्ति, प्रकृति, उद्देश्य व उसका दार्शनिक पक्ष—** भारतीय मनीषा में इस विचार को स्वीकार किया गया है कि सत्त्व के काल में व्यक्ति के अंतःकरण में पापवृत्ति नहीं थी। सम्भवतः इसलिए राज्य अथवा दण्ड-जैसे किसी विधिक नियामक के प्रचलन की आवश्यकता को उस युग में महत्त्व नहीं दिया गया। सत्त्व ही आदर्श युग का परिचायक था। युग के प्रभाव के चलते रज और तमोगुणों के कारण लोगो में स्वत्त्व का विकास हुआ जिसकी परिणति संघर्ष के रूप में हुई। इस प्रकार की विवादित परिस्थितियों में आदर्शमय युग के स्थान पर मत्स्यन्याय की स्थापना को बल मिला जिससे धर्म, जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा पर प्रश्न-चिह्न लग गया। ऐसी ही विषम परिस्थितियों में मनीषियों द्वारा दण्ड का औचित्य एवं आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इसलिए ग्रन्थ में इस अराजकतापूर्ण वातावरण के निवारणार्थ दण्ड की महत्ता को

1. ऋग्वेद, 7.33.6

2. *मनुस्मृति*, 8.15

1. *महाभारत*, शान्तिपर्व, 15.10

2. दुबे, राजदेव, *स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति : याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में*, पृ. 334

प्रतिपादित किया गया है।<sup>1</sup>

मनुस्मृति से भी ऐसी ही स्थिति का आभास होता है। ग्रन्थ में व्यक्ति के नैतिक पतन के चलते, स्वार्थ-वृत्ति का प्राबल्य दिखाई देता है। स्वार्थ-प्राबल्य की स्थिति में मत्स्यन्याय का हो जाना स्वाभाविक था। ऐसी विषम परिस्थितियों में दण्ड की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, 'ब्रह्मा ने 'ब्रह्म तेजोमय दण्ड' की सृष्टि की जो श्यामवर्ण और लोहित आँखोंवाला, पाप का नाशक है। इसके चार दाँत, चार भुजाएँ हैं। इस उग्र रूप से भय उत्पन्न हो जाता था एवं इसके सदुपयोग से प्रजा सुखी रहती है।'<sup>2</sup> महाभारत में वर्णित एक कथानक में दण्ड की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है।<sup>3</sup> इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर मनु को ही दण्ड का पर्याय माना गया है।<sup>4</sup> कौटिल्य ने भी इन्हीं परिस्थितियों के साथ मनु का दण्डप्रणेता के रूप में तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया है। परवर्ती ग्रन्थकार याज्ञवल्क्य भी दण्ड की उत्पत्ति के इसी माहात्म्य का वर्णन करते हैं।<sup>5</sup>

इस प्रकार उपर्युक्त ग्रन्थों के इन उद्धरणों से निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दण्ड की उत्पत्ति युग की आवश्यकता थी और इसे आवश्यकता व समाज के क्रमिक विकास के साथ परस्पर रूप से सम्बद्ध किया जा सकता है। ऐसी बदलती परिस्थितियों में समाज के नियमन-संयमन के लिए नियन्त्रणात्मक दण्ड-विधानों की अपेक्षा थी। यद्यपि मनुस्मृति व अन्यान्य ग्रन्थों में चित्रित धर्मप्रवण विधानों के अंतर्गत दण्ड की उत्पत्ति के पीछे दैवीय सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है तथापि यह अलग बात है कि इतिहास दैवीय भाव में विश्वास नहीं करता, लेकिन इसके अनन्तर यह भी ध्यातव्य है कि भारतीय चिन्तन में सृष्टि एवं उससे संबंधित विभिन्न पक्षों की उत्पत्ति के पीछे किसी-न-किसी दैवीय योजना को उजागर किया गया है। यहाँ इस सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि दैवीय योजना के पीछे यह भाव व संकल्पना रही होगी कि जगत् के चराचर प्राणियों व उसको सञ्चालित करनेवाले

1. मनुस्मृति, 7.3
2. वही, 7.14-15
3. महाभारत, 15.30.67; 16.171.47
4. वही, शान्तिपर्व, 121.20, 22; 56.14, 17
5. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.354

नियम-विधानों के प्रति मनुष्य की एक स्वाभाविक श्रद्धा बनी रहे और वह इन विधि-विधानों का अक्षरशः पालन कर सके। यही बात भारतीय संस्कृति के अनुकूल भी प्रतीत होती है।

मनुस्मृति व अन्यान्य ग्रन्थों में जिस कालकराल विरोचित स्वरूप के अंतर्गत दण्ड का चित्रण प्रस्तुत हुआ है, उसे विशेषणात्मक रूप में ग्राह्य करके दण्ड के वास्तविक स्वरूप व व्यवहार के साथ उसका तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। मनु का दण्ड केवल लोक-प्रवर्तक नहीं वरन् वह सृष्टि के अन्य नियमों की भाँति एक पौरुषेय सत्ता का परिचायक है जो अपने समग्र रूप में व्यक्ति के नैतिक आचरण का द्योतक है। मनुस्मृति में दण्ड का जिस स्वरूप के अंतर्गत विवेचन मिलता है, उसे विशिष्ट अर्थों में मनुष्य के अंतःकरण के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। मनु का कथन है कि जिसके अंतःकरण में (बुद्धि) मानसिक, वाचिक और शारीरिक दण्ड स्थित है, अभिप्रायतः वह व्यक्ति स्वयं को मन, वचन और शरीर से वश में रखता है, उसे ही त्रिदण्डी कहते हैं। ऐसे ही व्यक्ति काम-क्रोध जैसी व्यर्थ दुष्प्रभावी चेष्टाओं को नियन्त्रित करके जीवनोद्देश्य प्राप्त कर लेते हैं।<sup>1</sup> मनु इस रूप में दण्डशक्ति के चिन्तन का आध्यात्मिक मार्ग प्रशस्त करते हैं। वस्तुतः अपने इस स्वरूप में दण्ड की संकल्पना व्यक्ति के विधिक अनुपालन पर निर्भर करती है जिसे मनु ने धर्म (विधि) कहा है। मुख्यतः अपने इस स्वरूप में दण्ड धर्मरूपी विधि की तरह एक आंतरिक वृत्ति है जो व्यक्ति को सत्पथ पर चलने के लिए प्रेरित करती है। मनु का यह चिन्तन लौकिक और पारलौकिक— दोनों ही अर्थों में दण्डरूपी भय का प्रतिपादन करता है। इसे हम दण्ड का भयात्मक सिद्धान्त भी कह सकते हैं। स्वाभाविक है कि यदि व्यक्ति के अंतःकरण में पुण्य-पाप अर्थात् करणीयाकरणीय, कर्म-अकर्म को समझने की बुद्धि हो तो वह अपराध की ओर उन्मुख नहीं होगा।

मनुस्मृति में दण्ड को विधि की प्रमुख विशेषता मानते हुए विधि व दण्ड में सामञ्जस्य स्थापित करने का हरसम्भव प्रयास मिलता है। यहाँ दण्ड ही नियन्ता व नियामक है और अपने इसी स्वरूप में वह मनुष्यों, यहाँ तक कि देवताओं को भी अपने-अपने कर्मों के सतत पालन के लिए निर्देशित करता है।<sup>2</sup> इन दण्ड-विधानों पर सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव भी स्पष्ट है। मनु का

1. मनुस्मृति, 12.11
2. वही, 7.17, 22-23



दण्ड-चिन्तन दो सिद्धान्तों पर अवलम्बित जान पड़ता है— प्रथमतः विधि का कठोरता से क्रियान्वयन व अनुपालन, द्वितीयतः व्यक्ति को विधिक मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करना। इसलिए मनु ने दण्ड को सामाजिक व धार्मिक स्थिति के साथ सम्बद्ध किया है, क्योंकि दण्ड-भय से ही वर्णों एवं अन्यादि सामाजिक जीवन से सरोकार रखनेवाले पक्षों की रक्षा सम्भव है। यदि दण्ड का यथारूप पालन न होने से चारों वर्णसंकर (पथभ्रष्ट) हो जाते हैं, धर्म का हास होने लगता है तथा चारों और अराजकता का वातावरण निर्मित हो जाता है। इसलिए ग्रन्थ से विधि (धर्म) का उल्लंघन करने पर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को दण्डित करने का निर्देश प्राप्त होता है। यदि राजा स्वयं विधि का पालन नहीं करता है या अपराधियों को दण्डित नहीं करता है तो वह भी दण्ड का भागी होता है।<sup>1</sup> मनु का कथन है कि दण्ड का समुचित पालन न होने से समाज में अराजकता, उपद्रव, अशान्ति, भय का वातावरण निर्मित हो जाता है।<sup>2</sup> इसलिए पापियों को दण्ड देने से राजा पापमुक्त रहता है।<sup>3</sup>

*मनुस्मृति* में दण्ड के प्रयोक्ता के रूप में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के ज्ञाता राजा का अनुमोदन मिलता है;<sup>4</sup> क्योंकि धर्मानुरूप दण्ड का क्रियान्वयन त्रिवर्ग की प्राप्ति का माध्यम है लेकिन इसके विपरित आचरण करनेवाला दण्ड-प्रयोक्ता अपने परिवारसहित पतन को प्राप्त होता है।<sup>5</sup> *मनुस्मृति* के इन उद्धरणों में मौर्य-सम्राज्य की अवनति को खोजने की चेष्टा की जा सकती है। मनु का मत है कि दण्ड-विधि के सम्यक् पालन नहीं करने से देश, समस्त लोक, यहाँ तक कि देवगण भी नष्ट हो जाते हैं।<sup>6</sup> इसलिए इस ग्रन्थ में दण्ड की शक्ति को सर्वोच्चता प्रदान की गई है एवं राजा को धर्मानुसार निर्णय होने पर अथवा दण्ड का आरोपण करने पर उसकी प्रासंगिकता व महत्ता को बनाए रखने अर्थात् उस पर पुनर्विचार न करने के लिए निर्देशित किया गया है।<sup>7</sup> *मनुस्मृति* में दण्ड के संरक्षक व प्रणेता के रूप में वरुण को प्रतिष्ठित किया गया है। यहाँ वरुण का

1. *मनुस्मृति*, 8.335-336
2. *वही*, 7.21
3. *वही*, 8.311
4. *वही*, 7.26
5. *वही*, 7.27-28,30
6. *वही*, 7.29
7. *वही*, 9.233

स्वरूप राजा के समदृश्य प्रतीत होता है।<sup>1</sup> इस प्रकार का विचार वेद व अन्यान्य ग्रन्थों में भी मिलता है।

इस प्रकार मनु का दण्डिक चिन्तन व दर्शन व्यक्ति, समाज, राज्य, यहाँ तक की देवगणों से भी उच्च है। वह स्वयं धर्म का रक्षक है किन्तु विधि से परे नहीं है। इसलिए *मनुस्मृति* से दण्ड की सर्वोच्चता का भान होता है। इसलिए मनु द्वारा प्रतिपादित दण्ड-सिद्धान्त को वैदिक धर्म, सामाजिक संबंधों, साम्प्रतिक अधिकारों की परम्परा के पालक के रूप में लेना इतिहासमूलक होगा। मनु अपने काल की समाज-व्यवस्था, वर्णाधारित शक्ति एवं उसके संरक्षक शास्त्रों व उसमें निहित व्यवस्थाओं की सर्वविध रक्षा करना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने समाज और जनहित में ही दण्ड-शक्ति के प्रयोग को आवश्यक माना है। मनु की इस व्यवस्था में व्यक्ति, समाज एवं राज्य एक धर्मानुकूल विधिक व्यवस्था के रूप में आबद्ध दिखाई देते हैं और इस व्यवस्था में शंका उत्पन्न करना भी दण्डनीय था।<sup>2</sup> अतः इस प्रकार दण्ड आवश्यकता भी है और उपयोगिता भी। दण्ड-विधि का अनुपालन करना इसलिए भी अपरिहार्य था कि उसके बिना धर्म, सम्पत्ति, सम्मान, कीर्ति— कुछ भी सुरक्षित नहीं हो सकते, यहाँ तक कि व्यक्ति और समाज की सुरक्षा भी मूलतः दण्ड पर केन्द्रित है।

*मनुस्मृति* में दण्ड के जिस स्वरूप व प्रकृति का वर्णन हुआ है, वह सैद्धान्तिक रूप से भयात्मक स्वरूप को गवेषित करती है। *मनुस्मृति* के अधिकांश उद्धरणों में जहाँ-जहाँ दण्ड का उल्लेख हुआ है, वहाँ-वहाँ कहीं-न-कहीं भय का समावेश भी मिलता है। वस्तुतः ‘दण्ड’ शब्द दम (दमयति) क्रिया से लिया गया है। अपने शब्दार्थ में वह निरोधक है, अथवा वह उसका निरोध करता है जो स्वयं अपने का निरोध नहीं कर सकते। इस प्रकार अपने विधिक स्वरूप में दण्ड की प्रकृति व्यक्ति के उस कार्य का निरोध करती है जिनसे सामाजिक, धार्मिक मर्यादा के उल्लंघन का भय होता है। इसलिए अपने इस स्वरूप में वह अराजक व दुष्ट प्रवृत्ति के लोगों का शमन करता है और अभद्र तथा अनीतिमान को दण्डित करता है।<sup>3</sup> इस प्रकार दण्ड की प्रकृति शाश्वत रूप में देवोमयी व धर्ममयी है। इसी के अनुरूप वह सब प्राणियों पर राज्य करता है, शासक होने के फलस्वरूप सबकी

1. *मनुस्मृति*, 9.244-245,308
2. त्रिपाठी, हरिहरनाथ, *प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड*, पृ 130
3. *मत्स्यमहापुराण*, 17.225; *अग्निमहापुराण*, 16.226

रक्षा करता है, सबके सोने पर केवल दण्ड ही जागता है। ज्ञानीजन दण्ड को धर्म का अंग कहते हैं।<sup>1</sup> दण्ड ही सत्य का पर्याय है और जगत् में सत्य को स्थापित करने का माध्यम भी। इसलिए मनु ने दण्ड को देवत्व की स्थिति में ला खड़ा किया है।<sup>2</sup> परवर्ती अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी दण्ड की प्रकृति को इन्हीं अर्थों में व्याख्यायित किया है।<sup>3</sup>

अतः मनु-वचनों से यही सम्भावना प्रखर होती है कि जब दण्ड का अभाव था तो समाज में सर्वत्र उपद्रव व अशान्ति का वातावरण निर्मित हो गया। करणीयाकरणीय कृत्यों में अन्तर करना कठिन हो गया था। सर्वत्र समाज दुराचार में लिप्त था। नैतिक मर्यादाओं का कोई स्थान नहीं रह गया था। बलवान् निर्बलों पर अत्याचार करते हैं। ऐसी ही विषमपूर्ण परिस्थितियों में चिन्तकों व मनीषियों द्वारा दण्ड की आवश्यकता को महसूस किया गया। वस्तुतः दण्ड-संहिता भी ऐतिहासिक विकास का सुफल थी जो शनैः-शनैः अस्तित्व में आयी व समाज की आवश्यकता के अनुरूप विकसित हुई।

**( ग ) दण्ड-विधि के सिद्धान्त—** *मनुस्मृति* में दण्ड को शक्ति के रूप में चरितार्थ किया गया है। अपने इस स्वरूप में वह शक्ति, भय, अनुशासन और नियन्त्रण का पर्याय है। मनु द्वारा प्रतिपादित दण्ड की शक्ति समाजिक हित व लोक-संरक्षण की वैचारिकता का समर्थन करती है। इसलिए यहाँ दण्ड भय का प्रतीक होने के साथ ही अनुशासन, नैतिकता व आज्ञापालन का साधन है। दण्ड के प्रभाव से प्रादुर्भूत हुए अनुशासन का कार्य सिर्फ दण्ड देना ही नहीं अपितु ऐसा वातावरण निर्मित करना है जिसमें अपराध की स्थिति उत्पन्न न हो सके क्योंकि शक्ति से किसी भी अधिकार की स्थापना नहीं हो सकती है। *मनुस्मृति* के उद्धरणों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन न्यायिक-प्रक्रिया में दण्ड-विधि कुछ प्रमुख उद्देश्यों व सिद्धान्तों का अवलम्बन करती दृष्टिगोचर होती है। *मनुस्मृति* में वर्णित दण्ड-विधि अपने सैद्धान्तिक रूप में क्रमशः प्रतीकारात्मक, निरोधक, अवरोधक, सुधारात्मक व भयात्मक सिद्धान्त का अनुगमन करती प्रतीत होती है। यहाँ यह कहना न्यायोचित नहीं होगा कि मनु का

दण्ड-विधान मुख्यतः प्रतीकारात्मक दण्ड पर आधारित था।<sup>1</sup> निश्चित ही विद्वानों की इस विषय को लेकर एक सुनिश्चित दृष्टि रही होगी लेकिन इस प्रकार का अभिमत कि मनुस्मृति में सिर्फ दण्ड का प्रतीकारात्मक स्वरूप ही लक्षित होता है एक भ्रान्त धारणा है। यद्यपि ग्रन्थ के कुछ उद्धरणों से फलीभूत होती इस प्रकार की सम्भावना को भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि दण्ड का प्रतीकारात्मक सिद्धान्त प्रचलन में नहीं था, लेकिन इन प्रतीकारात्मक दण्डों के साथ-साथ दण्ड के कठोर व्यवहार से भयात्मक भाव की पुष्टि भी होती है। *मनुस्मृति* के दण्डपरक अनुशीलन से स्वतः ही दण्डापराध-विधि में पाँचों सिद्धान्तों का बोध होता है।

तत्कालीन न्यायिक विधान में अपराधी को सर्वप्रथम वाकूदण्ड, तत्पश्चात् क्रमशः धिग्दण्ड, अर्थ व शारीरिक दण्ड दिया जाना विधानित था। दण्ड का यह अधिरोपण तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया के उस सत्य को उद्घाटित करता है जिसमें व्यक्ति को आपराधिक कृत्यों की दोषावृत्ति से मुक्ति का अवसर प्रदान किया जाता था। वस्तुतः मनु की दण्ड-संहिता अपराधी के दमन का नहीं वरन् अपराध के कारणों व मनोवृत्ति को समाप्त करने की सुनियोजित व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करती है। इसके अतिरिक्त मनु ने दण्ड के क्रियान्वयन के लिए राजा व न्यायाधिकारी के बौद्धिक अनुशासन पर बल दिया है। ग्रन्थ के बहुतेरे दृष्टान्तों को इस कथन की पुष्टि के रूप में लिया जा सकता है। इस विषय में राजा के लिए स्पष्ट निर्देश है कि वह अपराध और अपराधी की मनोवृत्ति, लघुता व गुरुता, देश, काल व परम्पराओं के अनुरूप ही दण्ड का अधिरोपण करे।

मनु का दण्ड-विधान प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से क्रमशः प्रतीकारात्मक, अवरोधक, निवारक, सुधारात्मक व भयात्मक सिद्धान्तों का मिला-जुला रूप है। यहाँ दण्ड के इन सिद्धान्तों की युक्तिसंगत विवेचना ही अभिप्राय है।

**प्रतीकारात्मक स्वरूप—** प्रतिकार, प्रतिशोध का ही पर्याय है किन्तु यह प्रतिशोध पीड़ित पक्ष के द्वारा नहीं लिया जाता था। इस सिद्धान्त में अपराधी से पीड़ित व्यक्ति को क्षति के रूप में दण्ड दिया जाता था। मुख्यतः यह वैचारिक मत आँख के बदले आँख व दाँत के बदले दाँत अर्थात् अपराधी को उतना ही दण्ड दिया जाये जैसा उसने अपराध किया हो। विद्वानों ने इस प्रकार के दण्ड के रूप में

1. *मनुस्मृति*, 7.18

2. *वही*, 7.25

3. *मत्स्यमहापुराण*, 8.225; *विष्णुमस्मृति*, 9.35; *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 1.354

1. *Institutes of Hindu law*, 1796, p.192 तुलनीय त्रिपाठी, हरिहरनाथ, *प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड*, पृ 130

प्रतिफल को भी मान्य किया है।<sup>1</sup> मनु का स्पष्ट निर्देश है कि अपराध से व्यथित व्यक्ति के दुःख के अनुरूप ही दण्ड दिया जाना चाहिये।<sup>2</sup> इस कालविशेष में दण्ड पारुष्य व जारकर्म (बलात्कार)-जैसे अपराधों के लिए इस प्रकार के दण्ड को दिया जाता था।<sup>3</sup>

**अवरोधक स्वरूप—** दण्ड के इस प्रकार में अपराधी को इतना निर्योग्य कर दिया जाता है कि वह अपराध की पुनरावृत्ति न कर सके। वस्तुतः यह समाज के उपद्रवी, अराजक तत्त्वों के लिए एक चेतावनी के समान था। इसके द्वारा अपराधियों में भय उत्पन्न किया जाता है। इस सिद्धान्त के पीछे यह भी भाव था कि समाज के अन्य लोग इससे शिक्षा ग्रहण करें। मनु ने चोरी, राजद्रोह, जारकर्म, मारपीट, शाब्दिक अभद्रता, सुरापान-जैसे अन्य अपराधों में अंगच्छेदन व चिह्नों के अंकन का विधान किया है। इस प्रकार के दण्डों से घृणा व भय का भाव प्रदर्शित होता है।

**निवारक स्वरूप—** दण्ड के निवारक स्वरूप का उद्देश्य अपराधों का निवारण होता है। यह सिद्धान्त प्रतिरोधक व सुधारात्मक के मध्य का समन्वय-मार्ग माना जाता है। विद्वानों ने इसे सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में मान्यता दी है। निरोधक से अभिप्रायतः जनकल्याण की स्थापना में बाधक तत्त्वों के उन्मूलन से है। इसके अंतर्गत दण्ड की कठोरता का स्वरूप सुधारमूलक होता है। इस प्रकार के विधान में अपराधी पर नियन्त्रण करने की बात ज्ञात होती है।<sup>4</sup> निवारक दण्ड का प्रयोजन समाज से अपराधों की निवृत्ति एवं अपराधों की संख्या न्यून करने से है। इस प्रकार के दण्ड में कारावास व अर्थदण्ड को सम्मिलित किया जा सकता है। *मनुस्मृति* के 8वें और 9वें अध्याय के अधिकतर उद्धरणों में इस विषय को विस्तार के साथ व्याख्यायित किया गया है।

**सुधारात्मक स्वरूप—** सुधारात्मक दण्ड के सिद्धान्त के अंतर्गत अपराधी को उचित दण्ड देकर उसकी प्रवृत्ति में सुधार करना था। इससे पीड़ित और अपराधी— दोनों के अधिकारों की रक्षा का भाव प्रकट होता है। इस

सिद्धान्त में अपराधी को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जाता है जिससे उसकी असामाजिक आपराधिक वृत्तियाँ समाप्त हो जायें। *मनुस्मृति* में विधानित है कि उचित दण्ड पा लेने से अपराधी शुद्ध, दोषमुक्त हो जाता है। प्रायश्चित्त को दण्ड के सुधारात्मक स्वरूप में लिया जा सकता है। *मनुस्मृति* के 11वें अध्याय में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। प्रतीत होता है कि इस काल में इस प्रकार के दण्ड भी प्रचलन में रहे होंगे जिससे अपराधी की मनोवृत्ति को सुधारा जा सके।

**भयात्मक स्वरूप—** दण्ड के भयावह स्वरूप से आशयित ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जिससे समाज में विधि व दण्ड को लेकर भय रहे। *मनुस्मृति* में वर्णित कठोर दण्ड के पीछे यही भाव अंतर्निहित था कि व्यक्ति दण्ड के भय से अपराध के प्रति उन्मुख न हो क्योंकि दण्ड के क्रियान्वयन से अधिक आवश्यक उसका प्रदर्शन है। ग्रन्थ में अपराधों के लिए निर्मम दण्डों का उपबन्ध विधानित है जो भय प्रदर्शित करते हैं।

चोरी, व्यभिचारादि अन्य अभियोगों में अंग कटे अपराधी स्वयं तो भविष्य में अपराध किए जाने का साहस नहीं कर सकता और दूसरे लोग भी उसके कटे अंग को देखकर अपराध करने का साहस नहीं करते हैं। *मनुस्मृति* में दण्ड-स्थानों को विकृत कर देने का प्रावधान है।<sup>1</sup> दण्ड की इस भयात्मक प्रकृति और स्वरूप से स्पष्ट होता है कि अपराध पर दिए जानेवाले दण्ड का उद्देश्य समाज में अपराध के प्रति भय की उत्पत्ति करते हुए अपराध को पूर्णतः समाप्त करना था।

**नारी व दण्ड-व्यवस्था—** प्रवृत्तिमार्गी परम्परा में गृहस्थाश्रम का अपना विशिष्ट स्थान रहा है, जिसमें स्त्री एवं पुरुष— दोनों का समान महत्त्व विदित है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तनधारा में नारी को पुरुष की अर्धांगिनी के रूप में प्रतिष्ठाप्राप्त है। फिर भी इनकी स्थिति सर्वदा एक सी नहीं रही। जहाँ प्रारम्भ में इनका अतिशय सम्मान रहा, वहीं परिवर्तित होते सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक परिदृश्य से इनकी सामाजिक स्थिति में पतन भी आया। वस्तुतः इसका मूल कारण सामाजिक विशृंखलन की स्थिति थी जो विभिन्न परिवर्तनों के कारण दूषित रूप ग्रहण कर रही थी। *मनुस्मृति* से नारियों की स्थिति के विषय में

1. त्रिपाठी, हरिहरनाथ, *प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड*, पृ. 144-145

2. *मनुस्मृति*, 8.286-287

3. *वही*, 8.371-372; 11.103-104

4. त्रिपाठी, हरिहरनाथ, *प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड*, पृ. 147

1. *मनुस्मृति*, 8.125

विविध विधानों के सृजन का भाव परिलक्षित होता है, किन्तु इस प्रकार के विधानों को किसी भी स्थिति में नारीविरोधी मंतव्यों के रूप में ग्राह्य नहीं किया जा सकता। निश्चित ही इस प्रकार के मतैक्यों को ऐतिहासिक विकास के परिणामों के सुफल के रूप में लिया जा सकता है। मनु अपने नारी-विषयक चिन्तन से स्त्रियों के सम्मान एवं प्रतिष्ठा के रक्षक के रूप में उभरकर सामने आते हैं। यद्यपि वर्तमान में पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित नारी-स्वातन्त्र्य के प्रवक्ताओं व समाज के आधुनिकरण या फिर पाश्चात्य दर्शन के अनुशरणकर्ता विद्वानों द्वारा मनु के नारी-संबंधी चिन्तन व दर्शन पर प्रबल आक्षेप किया जाता है, तथापि *मनुस्मृति* में वर्णित नारी-संबंधी विविध विधिक उपबंधों के ऐतिहासिक अनुशीलन और समग्र अध्ययन के आलोक में इस प्रकार के आक्षेप निराधार व पक्षपातपूर्ण परिलक्षित होते हैं। निश्चय ही ऐतिहासिक कारकों तथा परिवर्तनों के मध्य निश्चित ही भारतीय नारी की स्थिति क्रमशः विचारणीय होती गई लेकिन परम्परागत चिन्तन में नारी की प्रतिष्ठा बनी रही। भारतीय संस्कृति के नारी-विषयक चिन्तन में यह भाव सतत रूप से प्रवाहित होता रहा कि नारी मात्र उपभोग की वस्तु नहीं अपितु वह कन्या, पुत्री, माता, पत्नी भी है, और इसलिए भारतीय संस्कृति में माता के रूप में उसका स्थान अतुलनीय है। भारत में मातृभू की उपासना का दर्शन भी स्त्री के इसी पूजनीय स्वरूप पर अधिष्ठित है। वर्तमान समाज में भी वह पत्नी के रूप में पुरुष के जीवन का प्रतिनिधित्व करती है और इसीलिए उसे आज भी शक्तिस्वरूपा अर्धांगिनी के रूप में महत्ता प्राप्त है। प्राचीन भारत में नारी के जीवन के विभिन्न स्वरूपों का जो प्रकटीकरण दिखाई देता है, वस्तुतः वह शक्तियों से चली आ रही रूढ़ परम्पराओं व उससे प्रादुर्भूत होते सामाजिक दबावों और इससे कहीं अधिक विदेशी आक्रमणों व विभिन्न सम्प्रदायों के उद्भव से उत्पन्न होते सामाजिक परिवर्तनों की स्थिति का परिणाम है। मात्र *मनुस्मृति* के अंशों के आधार पर इसका मूल मनु को मानना न्यायोचित नहीं है। *मनुस्मृति* में वर्णित नारी के विभिन्न रूपों और तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक परिदृश्य तदनुरूप बनती-बिगड़ती व्यवस्थाओं के मध्य नारी की स्थिति और तत्संबंधी विधि-निषेधों का मूल्यपरक अध्ययन ही यहाँ अभीष्ट है।

मनु ने अपने नारी-विषयक चिन्तन में सर्वप्रथम कन्या को महत्ता प्रदान की है। *मनुस्मृति* व अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से ऐसा आभासित होता है कि तत्कालीन समाज में उसे पर्याप्त आदर प्राप्त था। इसीलिए मनु ने उसे

पुत्रवत् मानते हुए पुत्र के अभाव में प्रथमतः अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाई को अपने-अपने भाग का चतुर्थांश अविवाहित बहनों को देने के लिए निर्देशित किया है।<sup>1</sup> वह स्नेह की धात्री थी और इसीलिए मनु ने उसकी त्रुटियों को क्षम्य मानने का परामर्श दिया है। तत्कालीन पारिवारिक जीवन में पिता के मरणोपरान्त भ्राता द्वारा जिस पुरुष के साथ बहिन का विवाह किया जाए, उसकी सेवा व आज्ञापालन ही उसका यथोचित धर्म था। पति की मृत्यु के पश्चात् नियम व व्रतों को धारित करना निर्दिष्ट था।<sup>2</sup> इस प्रकार के विधानों को किसी भी रूप में नारी-विरोधी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चरित्र-रक्षण की दृष्टि से इस प्रकार के नियमों की वर्तमान में भी उपयोगिता है। मनु ने चारों वर्णों की कन्याओं का शुल्क लेकर विवाह करने को निन्दनीय माना है।<sup>3</sup> सर्वप्रथम महर्षि मनु ने ही कन्याओं के विवाह के लिए निर्धारित आयु को तर्कसंगत रूप से व्याख्यायित किया है। मनु यौवनसंपन्न कन्या के विवाह के ही पक्षधर प्रतीत होते हैं। ऋतुमती कन्या द्वारा एक कालविशेष के उपरान्त स्वतः ही विवाह करने का अनुमोदन मनु ने किया है, लेकिन साथ ही उन्होंने इस प्रकार के विवाहानुमोदन के लिए सवर्ण और सद्गुणसंपन्न वर की ही अनुशंसा की है।<sup>4</sup> निश्चय ही स्त्रीधर्म का पालन अपने ही वर्णधर्म में श्रेयस्कर रूप में होता है। इसके अन्यत्र ही मनु ने विवाह में किसी भी प्रकार के अर्थ-व्यवहार की निन्दा की है। स्त्रियों के सुखी जीवन के लिए मनु ने पुरुष के गुण-कर्म योग्यता को विशेष महत्त्व दिया है।<sup>5</sup> निश्चय ही तत्कालीन समाज के विशृंखलन को देखते हुए और नारी-सुरक्षा की दृष्टि से इस प्रकार के विधानों को महत्ता प्रदत्त की गई है, और इस प्रकार के नियम व मर्यादा प्रत्येक काल के लिए मूल्यपरक होती है। मनु ने विवाह के लिए कुछ निर्धारित आयु का भी निर्देश दिया है, लेकिन यथासम्भव 16 वर्ष की आयु को ही विवाह के लिए मान्यता प्रदान की गई है। *मनुस्मृति* में विवाह के लिए निर्धारित आयु को लेकर पृथक्ता का भाव परिलक्षित होता है। निश्चित ही इस प्रकार की मतभिन्नता से यह धारणा फलीभूत होती है कि कन्याओं का वैदिक अध्ययन तथा उपनयन अप्रचलित हो जाने, विदेशी

1. *मनुस्मृति*, 9.98,102

2. *वही*, 4.185; 5.151

3. *वही*, 9.98-102

4. *वही*, 3.12; 9.89-91

5. *वही*, 3.51,54; 9.89

आक्रमणों से भारतीयों का समाजिक जीवन संकटापन्न हो जाने से कन्याओं की अल्पायु में ही विवाह को बल मिला। वैदिकेतर बौद्ध एवं जैनमत के प्रचार-प्रसार एवं संघ में स्त्रियों की दीक्षा के कारण भी कम अवस्था में विवाह करने की प्रवृत्ति का आभास होता है। अस्तु, इसके मूल में जो भी कारण अंतर्निहित हो, वस्तुतः यहाँ भी नारियों के प्रति सुरक्षा का भाव प्रदर्शित होता है।

मनु वैदिक परम्परा के पोषक हैं, अर्थात् वैदिक मान्यताओं की स्थापना का सुफल ही *मनुस्मृति* है। इसीलिए मनु ने वेदानुशरण का बारम्बार आग्रह किया है। वैदिक ग्रन्थों में भार्या' के रूप में नारी को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वह *मनुस्मृति* के संकलनकाल तक भी प्रचलित रही और आज भी हिंदू-परिवारों में पत्नी को वही स्थान प्राप्त है जिसका उल्लेख मनु ने किया है। मनु ने स्त्री को गृहस्थाश्रम की धुरी माना है। मनु के अनुसार पुरुष स्त्री के बिना अपूर्ण है, इसीलिए ग्रन्थ में एक सामाजिक इकाई के रूप में परिवार में पत्नी को पति से अधिक महत्ता प्रदान की गई है। स्वयं, स्वदेह तथा सन्तान— इन तीनों में श्रेष्ठता स्त्री को ही प्राप्त है। मनु ने पुरुष को 'गृहस्वामी' तथा स्त्री को 'गृहस्वामिनी' कहकर सम्बोधित किया है।<sup>1</sup> इस प्रकार यह दोनों ही शारीरिक शक्ति, क्षमता तथा मनोवैज्ञानिक स्तर में पर्याप्त असमानता होने के बाद भी केवल ऐहिक आमुष्मिक सुख-समृद्धि के लिए आवश्यक है वरन् किसी एक के अभाव में सृष्टि-सञ्चालन सम्भव नहीं है। मनु ने नारी को पूज्यनीय मानते हुए उसका अनादर न करने के लिए निर्देशित किया है, क्योंकि स्त्री के सम्मान और उसके आदर व प्रसन्नता से परिवार प्रसन्न रहता है और जिस परिवार में स्त्रियाँ संताप करती हैं, वह कुल नष्टप्राय हो जाता है। इसलिए परिवार व कुल की सुख-समृद्धि के लिए मनु ने यथोचित रूप से नारी के सम्मान का परामर्श दिया है।<sup>2</sup> यहाँ पर कुल को समाज के रूप में लेना समीचीन जान पड़ता है क्योंकि हिंदू-संस्कृति में ही नारी को देवीस्वरूपा मानते हुए उसे सम्माना माना गया है। इसके अन्यत्र मनु ने पति-पत्नी के आपसी सामञ्जस्य व सहभागिता पर बल दिया है। वह सन्तानोत्पादन में समर्थ आदर-सत्कार के योग्य गृहलक्ष्मी है और श्री तथा स्त्री में कोई भेद नहीं है। इसलिए मनु ने यज्ञ-परम्परा व अन्य धार्मिक क्रियाकलापों में पति के साथ पत्नी की अनिवार्यता पर बल दिया

1. ऋग्वेद, 1.66.3; 3.53.4; 10.85.46
2. *मनुस्मृति*, 9.45
3. *वही*, 3.56-60, 62

है।<sup>3</sup>

पत्नी के अलावा मनु ने नारी के प्रत्येक स्वरूप को पवित्र व पूजनीय मानते हुए उसके प्रति अनादर व अशोभनीय व्यवहार की निन्दा करते हुए दण्ड का प्रावधान किया है। *मनुस्मृति* में माता को अत्यन्त उच्च स्थान प्रदान किया गया है। उपनयन-संस्कार के समय बालक जब भी भिक्षाटन करने के लिए निकलता था, तो वह सर्वप्रथम माता से ही भिक्षा ग्रहण करता था। मनु का स्पष्ट निर्देश है कि माता, पिता से सहस्र गुना आदर की पात्रा है। मेधातिथि का मत है कि यहाँ जिस क्रम से अभिवादन करने की बात कही गई है, उससे स्पष्ट है कि सर्वप्रथम माता का अभिवादन करना चाहिए, तदुपरान्त पिता, आचार्य एवं उपाध्याय का।<sup>4</sup> मनु के इस कथन से माता के रूप में स्त्री की सर्वोच्चता का भान होता है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि सृष्टि-सञ्चालन में उसके महत्त्व, गृह-जीवन में उनकी उपयोगिता, सन्तति के प्रति उसके उत्सर्ग की यह सहज स्वीकृति है। निश्चित ही परिवार की समस्त स्त्रियों में माता का स्थान ही उच्च होता है। यही नहीं, माता के यशोगान में उसकी समानता मातृभू के साथ करने का भाव भी ग्रन्थ से प्रकट होता है।<sup>5</sup> इसके अलावा मनु ने माता के रूप में भी स्त्री की सुरक्षा का विधान किया है। मनु की दृष्टि में माता का परित्याग व उसकी आज्ञा का उल्लंघन, अनादर या उनसे विवाद, मिथ्या आरोप को दण्डनीय अपराध माना है। पिता के मरणोपरान्त माता की रक्षा करना पुत्र का पुनीत कर्तव्य था।<sup>6</sup> इस प्रकार *मनुस्मृति* में माता के रूप में भी नारी की प्रतिष्ठा का भाव परिलक्षित होता है। ग्रन्थ में उसे अन्य संबंधियों, यहाँ तक कि पिता से भी अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

इसके अतिरिक्त *मनुस्मृति* के उद्धरणों से तत्कालीन समाज की विधवाओं की स्थिति पर भी प्रकाश डाला जा सकता है व उन आक्षेपों का निराकरण किया जा सकता है जिनसे मनु को नारी-विरोधी कहा जाता है। मनु ने विधवा के लिए कुछ विधि-निषेधों का परामर्श दिया है जिनके आधार पर *मनुस्मृति* पर आक्षेप लगाए जाते हैं। सामान्यतः तत्कालीन जीवन में विधवा से

1. *मनुस्मृति*, 5.155; 9.26
2. *मनुस्मृति* 2.50, 145 पर मेधातिथि की टीका
3. *मनुस्मृति*, 2.138, 227-228
4. *वही*, 8.389, 275, 180; 4-180



सात्विक आचरण की अपेक्षा की जाती थी, लेकिन प्रतीत होता है उसका कठोरता से क्रियान्वयन नहीं होता था। मनु ने फिर भी उस विधवा को अधिक महत्त्व दिया है जो पति के मरने के बाद भी सन्तान के लोभ से परपुरुष से सन्तान न उत्पन्न कराये। ग्रन्थ में उल्लेख आया है कि पति के मरणोपरान्त जो स्त्री ब्रह्मचारिणी का जीवन-यापन करती है, वह अपुत्र होते हुए भी धर्म की अधिकारिणी होती है। मनु उसे परिवार में सामान्य जीवन व्यतीत करने का परामर्श देते हैं।<sup>1</sup> इस प्रकार की व्यवस्था के पीछे मनु का उद्देश्य नारी के अधिकारों को कम करना या उसे प्रताड़ित करना नहीं था, जैसा कि वर्तमान में आक्षेप किया जाता है। वस्तुतः समाज की परम्परा, सुव्यवस्था, नैतिक आचरण को संयमित रखने के लिए इस प्रकार के विधान अस्तित्व में आये। यद्यपि मनु विधवा-विवाह और नियोग की अनुज्ञा प्रदान करते हैं, तथापि इसे निन्दनीय मानते हुए पशुधर्म के रूप में इसका वर्णन करते हैं। वास्तव में वेदकाल से ही इस व्यवस्था को हिंदू जीवन-पद्धति में निन्दनीय माना गया है। निश्चित ही यह एक सामाजिक परम्परा थी जिसका कोई धार्मिक आधार नहीं था।<sup>2</sup> अतएव मनु के लिए यह आवश्यक था कि इसे निन्दितकर समाप्त करने का प्रयास करे। वस्तुतः मनु देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप इस प्रथा को स्वीकार्यता प्रदान करते हैं।

प्राचीन काल से ही समाज का स्वरूप अर्थप्रधान रहा है। इसीलिए धर्मशास्त्रकारों ने पुरुषार्थचतुष्टय के अंतर्गत अर्थ को द्वितीय स्थान पर रखा है। वर्तमान में भी अर्थ को ही मानवीय व्यवहार का मुख्य साधन माना जाने लगा है। मनु नारी के सम्पत्ति के अधिकार के भी पक्षधर हैं और इसीलिए स्त्रीधन को लेकर सजग दिखाई पड़ते हैं। मनु ने पैतृक सम्पत्ति में पुत्र व पुत्री की भागीदारी को समान माना है। मनु के इस विधान की पुष्टि कालान्तर के अन्य धर्मग्रन्थों से भी होती है, यहाँ तक कि मनु ने माता की सम्पत्ति अर्थात् मातृधन में सिर्फ कन्या को ही अपना उत्तराधिकारी माना है।<sup>3</sup> मनु के इस प्रकार के विधान को स्त्री के विशेषाधिकार के रूप में लिया जा सकता है। तत्कालीन समाज में विविध अर्थ साधनों पर स्त्रियों के अधिकार को स्वीकार किया जाता था। मनु ने स्त्रीधन के अंतर्गत छः स्वरूपों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इन सभी प्रकार के धनों

1. मनुस्मृति, 5.156, 161
2. वही, 9.56, 63, 65, 68, 176
3. वही, 9.129-131, 192; निरुक्त, 3.4

पर नारी के स्वामित्व व उसके व्यय की अनुशंसा मनु ने की है। पति की मृत्यु के बाद भी उसे अपने अधिकार से वञ्चित नहीं किया जा सकता था। इसके अलावा मनु ने ग्रन्थ में नारी को आर्थिक रूप से सक्षम बनाने की दृष्टि से कई नियम व उपनियमों के सन्दर्भ में विस्तार से उल्लेख किया है।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र मनु ने स्त्री-धन की सुरक्षा के लिए विशेष दण्ड-विधि की व्यवस्था को प्रचलन में लाने का प्रयत्न भी किया है। मनु ने राजा को प्रत्येक स्थिति में स्त्रीधन की रक्षा करने के लिए निर्देशित किया है।<sup>2</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनु ने स्त्रियों को आर्थिक रूप से समुन्नत करने का भरसक प्रयास किया है। इस प्रकार के विधानों के आलोक में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि मनु का अर्थ-विधान स्त्री के आर्थिक अधिकारों का सम्पोषक और उनकी सामाजिक स्थिति के सुदृढ़ीकरण का महनीय प्रयास है। मनुस्मृति में उल्लेखित अर्थ-विधि से वर्तमान के उन सभी मिथकों का पटाक्षेप हो जाता है जिनसे हिंदू जीवन-पद्धति में नारी की आर्थिक परतन्त्रता का बोध होता है।

मनुस्मृति में वर्णित नारी-संबंधी अनेक वृत्तान्तों से नारी के प्रति सम्मान और सुरक्षा का भाव प्रदर्शित होता है। प्रतीत होता है कि वेदकाल व कालान्तर में समाज में नारी को जो महत्ता प्राप्त थी, इस कालविशेष में कहीं-न-कहीं उसकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हो रहा था। समाज में उसकी महत्ता, प्रतिष्ठा की पुनर्स्थापना के लिए मनु प्रयासरत प्रतीत होते हैं। ध्यातव्य है कि मनुस्मृति का संकलनकाल वैदिक मान्यताओं की पुनर्स्थापना का काल है। नगरीकरण व बौद्ध-जैन क्रान्तियों के फलस्वरूप समाज में जो परिवर्तन होता दिखाई देता है, इन विषम परिस्थितियों से समाज को सुरक्षित रखने का प्रश्न मनु के समक्ष था। इसलिए मनु ने स्त्रियों को महत्ता व सुरक्षा की दृष्टि से एक आचार-संहिता में आबद्ध करने का महनीय प्रयास किया। मनु के इन प्रयासों का प्रभाव न्याय व दण्ड-व्यवस्था पर भी दृष्टिगोचर होता है। स्त्रियों की सुरक्षा की दृष्टिगत नारियों की हत्या और उनके अपहरण करनेवालों के लिए मृत्युदण्ड का विधान करके तथा बलात्कारियों के लिए यातनापूर्ण दण्ड देने के बाद देशनिकाला का आदेश देकर मनु ने नारियों की सुरक्षा को सुनिश्चित बनाने का यत्न किया है। नारियों के जीवन में आनेवाली प्रत्येक छोटी-बड़ी कठिनाई का ध्यान रखते हुए मनु ने उनके

1. मनुस्मृति, 3.52, 91-92, 194-195
2. वही, 9.212; 3.52; 8.28-29

निराकरण के निर्देश दिए हैं।<sup>1</sup> मनु स्त्रियों की सुरक्षा को प्रथमतः परिवार से ही विधानित करते हैं। माता, पत्नी और पुत्री के साथ किसी भी प्रकार के अमानवीय व्यवहार की वर्जना का प्रतिपादन मनु ने किया है।<sup>2</sup> इसके अलावा स्त्री-संबंधी अन्य साधारण व जघन्य अपराधों में मनु ने अपराधियों को कठोर दण्ड देने का समर्थन किया है। इस प्रकार मनु द्वारा विधानित संहिता से आभासित होता है कि तत्कालीन समाज में कहीं-न-कहीं स्त्री-संबंधी अपराधों में वृद्धि हो रही थी और उन्हीं के निराकरण के लिए मनु ने कठोर दण्ड का विधान किया है।<sup>3</sup>

मनु ने अपनी आचार-संहिता में दण्ड को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है, इसलिए मनु ने किसी को भी दण्ड से विमुक्ति प्रदान नहीं की है। चाहे वह पिता, आचार्य, मित्र, माता, पत्नी, पुत्र या पुरोहित ही क्यों न हो, कोई भी अपनी मर्यादा का पालन नहीं करता था तो उसके लिए आवश्यक दण्ड निर्धारित था।<sup>4</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय स्त्रियों ने भी मनु द्वारा या परम्परा से प्रचलित आचार-व्यवस्था या अनुमत नियमों का दुरुपयोग किया था। इसलिए मनु अपराधी स्त्रियों को भी दण्डित करने के पक्षधर थे, किन्तु वह मृत्युदण्ड के विरोधी थे। पति की आज्ञा का उल्लंघन, दुराचार, गर्भपात, मद्यपान, वेश्यावृत्ति के लिए प्रेरित करना-जैसे अपराध, जिससे समाज की मर्यादा भंग होने की स्थिति निर्मित हो, में मनु ने स्त्रियों के लिए कठोर दण्ड का प्रावधान किया है।<sup>5</sup> इसलिए मनु ने दुराचारी, व्यभिचारिणी व अपराध में लिप्त रहनेवाली स्त्रियों के लिए कठोर दण्डों का विधान किया है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के लिए प्रायश्चित्त का विधान भी किया है। निश्चित ही तत्कालीन विशृंखलित होती सामाजिक स्थिति में स्त्रियों के चरित्र का भी पतन हो रहा होगा। समाज में कतिपय स्त्रियाँ रही होंगी जो समाज के द्वारा अनुमोदित व्यवस्थाओं के प्रतिकूल आचरण करती रही हों। वर्तमान सामाजिक परिवेश में भी स्त्रियों के चरित्र में जो कमी उभरकर सामने आई है, उसके लिए भी कहीं-न-कहीं स्वच्छन्दता का वातावरण उत्तरदायी है। वस्तुतः मनु द्वारा अनुमोदित दण्ड-विधान का उद्देश्य जनसामान्य में बढ़ रही

इस प्रकार की व्याभिचारिक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना था जिससे भविष्य में इस प्रकार के दुराचार से दूर रहने के लिए स्त्रियों को सीख मिल सके।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र इस प्रकार के दण्ड से मनु का अभिप्राय है कि समाज में स्त्रियों का पूजनीय स्वरूप बना रहे। मनु ने पतित स्त्रियों के पुनर्वास के लिए भी राजा को निर्देशित किया है।<sup>2</sup>

*मनुस्मृति* में उल्लेखित नारी-विषयक उद्धरणों व तथ्यों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि मनु ने नारी के प्रति उदार व सकारात्मक दृष्टिकोण को व्याख्यायित किया है। वस्तुतः मनु का आदर्श वैदिक आदर्श है। इसलिए समाज को चारित्रिक सम्बल प्रदान करने की दृष्टि से मनु ने उक्त विधानों का प्रतिपादन किया है। मनु ने नारी को सर्वोच्चता प्रदान की है, लेकिन साथ ही कुछ आदर्श, जो उनके चरित्र रक्षण व उन्नयन की दृष्टि से आवश्यक परिलक्षित होते हैं, को भी विवेचित करने का महनीय प्रयास किया है। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनु व *मनुस्मृति* का चिन्तन नारी-विरोधी नहीं है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति के आदर्शों की उपेक्षा ही स्त्रियों की दुर्दशा के लिए उत्तरदायी है। वर्तमान में विगत पिछले 65 वर्षों में पाश्चात्य संस्कृति के अनुसरण ने भारतीय समाज, विशेषकर स्त्रियों को पतनोन्मुखी बना दिया है। वर्तमान में स्त्रियों के साथ होनेवाले दुष्कर्म-जैसे अपराधों के लिए निश्चय ही स्त्रियों का पाश्चात्य संस्कृति की और उन्मुख होना है। दुष्कर्म-जैसे अपराध पश्चिमी देशों में होते हैं।<sup>3</sup> इसलिए मंत्रद्रष्टा प्राचीन ऋषियों ने समाज को सुव्यवस्थित बनाए रखने के निमित्त विधि-निषेधों का सृजन किया। यही भाव *मनुस्मृति* से प्रकट होता है। परिवार के सदस्यों की सेवा व पोषण और विधानित कर्तव्यों का निर्वहन करना ही स्त्रियों का धर्म था। स्त्रियों के लिए धर्मविरुद्ध आचरण की वर्जना का भाव *मनुस्मृति* में मिलता है। स्त्रियों की पारिवारिक अधिसत्ता को देखते हुए मनु ने कुछ अस्तित्वप्राप्त दुर्गणों से स्त्रियों को बचने का निर्देश दिया है, यथा— उन्हें मादक द्रव्यों के सेवन, दुष्टों के संसर्ग, स्वच्छन्द-परिभ्रमण, परगृह-निवास आदि से दूर

1. डॉ. सुरेन्द्र कुमार, *महर्षि मनु बनाम डॉ. अम्बेडकर*, पृ. 166

2. *मनुस्मृति*, 8.180

3. *वही*, 8.323,352; 9.232

4. *वही*, 9.214

5. *वही*, 8.371; 9.84

1. स्वर्णकार, अनिता, *धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक ऐतिहासिक विश्लेषण : मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में*, पृ. 165

2. *मनुस्मृति*, 8.28,370

3. *पत्रिका समाचार पत्र (भोपाल-संस्करण)*, दिनांक 17 जनवरी, 2013

रहने का परामर्श है।<sup>1</sup> इस प्रकार की विधिसम्मत वर्जनाओं से यह आभासित होता है कि तत्कालीन समाज में इन दुराचरणों से संपन्न स्त्रियाँ रही होंगी और उनके अकरणीय कार्यों से समाज व परिवार की मर्यादा भंग होती रही होगी। इसीलिए मनु ने स्त्रियों की प्रकृति के अनुरूप ही इन दोषों के लिए निषेधाज्ञा का अनुमोदन किया है। यह शाश्वत सत्य है स्त्रियों का चरित्र-रक्षण समाज व राष्ट्र के चरित्र-रक्षण और उसके बहुआयामी विकास और सामाजिक आदर्श का मार्ग प्रशस्त करता है।

*मनुस्मृति* के उद्धरणों से जहाँ एक ओर नारी का पूज्या और आदरणीय स्वरूप उभरकर सामने आता है, वहीं दूसरी ओर मनु उनको उनकी कतिपय दशाओं में परिवार के सदस्यों के संरक्षण में रहने का निर्देश भी देते हैं।<sup>2</sup> *मनुस्मृति* के इन्हीं उद्धरणों के आधार पर विद्वानों का एक वर्ग मनु को नारी-विरोधी कहकर सम्बोधित करता है। इसके अन्यत्र अनेक उद्धरणों के आधार पर मनु के आलोचक मनु द्वारा स्त्रियों के प्रति कुण्ठित विचार रखने का दोषारोपण करते हैं। मनु का मत है कि स्त्रियों का स्वभाव ही होता है कि वह पुरुषों को दूषित करे। स्त्री विद्वान् व अविद्वान्— दोनों को काम, क्रोधादि के वशीभूत करके कुपथ पर ले जाने में समर्थ होती है। इसलिए व्यक्ति को अपनी माता, बहन, पुत्री के साथ भी एकांतवास नहीं करना चाहिए<sup>3</sup> क्योंकि इन्द्रियाँ बहुत बलवती होती हैं, जो संन्यासी को भी पथभ्रष्ट कर सकती हैं। डॉ. अनिता स्वर्णकार का मत है कि यह कथन स्त्रियों पर किए गए आक्षेप के रूप में नहीं है अपितु यह चेतावनी वासनाजनित आकर्षण के प्रति है। यह चेतावनी स्त्रियों के स्वभाव को उतना प्रतिबिम्बित नहीं करती जितना पुरुषों की चञ्चलता को। बलवान् इन्द्रिय-समूह विद्वान् को भी वश में कर लेता है, तो सामान्य व्यक्ति को पथभ्रष्ट होने की पूर्णाशंका रहती है। सामान्यतः यह एक सामान्य नैतिक नियम है कि स्त्री-पुरुष के मध्य ऐसी स्वाभाविक मर्यादा से ही समाज का चरित्र-रक्षण किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति के पुरोधा मनीषियों द्वारा इस मर्यादा को समय-समय पर विस्तार से व्याख्यायित किया गया है। भारतीय संस्कृति में इसे स्त्री या पुरुष पर प्रतिबन्ध के रूप में प्रयोग में नहीं लाया गया वरन् यह हिंदू-जीवनशैली की एक

प्रवाहमान नैतिक प्रक्रिया है। ध्यातव्य है कि जब तक भारतीय संस्कृति की यह प्रवाहमान विशेषता समाज का मार्गदर्शन करती रही, तब तक भारत में नारी-अस्मिता को लेकर कोई संकट उत्पन्न नहीं हुआ। मुस्लिम, विशेषकर ब्रिटिश मिशनरी साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् हिंदू-सभ्यता व संस्कृति को समाप्त करने का जो सुनियोजित षड्यन्त्र या अभियान इस पावन भू-धरा पर प्रारम्भ किया गया, उसने हमारी समाज-व्यवस्था को नष्ट कर दिया। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी अंग्रेजों के मानस पुत्रों और उनसे प्रेरित छद्म विद्वानों ने इस कार्य को सतत रूप से प्रारम्भ रखा। वर्तमान भारत में तथाकथित समाज-विशेषज्ञों द्वारा 'इण्डिया' के पक्ष में नारी-स्वातन्त्र्य का जो शंखनाद किया जा रहा है, वह वास्तव में पाश्चात्य प्रपञ्च से बुना हुआ हिंदू-समाज के विघटन का मार्ग है जिसके परिणामों की दुःखद परिणिति हाल ही के कुछ दशकों में हुई है। वस्तुतः इन विद्वानों का नारी-स्वतन्त्र्य से आशय दैहिक स्वतन्त्रता से है जो किसी भी स्थिति में भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं है। निश्चित ही इस प्रकार के विद्वानों के अभिमत पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसीलिए इन विद्वानों ने कभी भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में भारतीय मानस को समझने की चेष्टा नहीं की कि भारत में वेदकाल से ही स्त्रियाँ स्वतन्त्र लेकिन मर्यादित जीवन-यापन करती हुई दिखाई पड़ती हैं। इसके अनन्तर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनके स्वतन्त्र सामाजिक मान व सत्ता को स्वीकार किया गया है। सरस्वती-सिंधु सभ्यता का मातृसत्तात्मक समाज इस बात का स्पष्ट प्रकटीकरण है कि भारत में स्त्रियों को इतनी प्रधानता प्राप्त थी कि पुत्र का परिचय उसकी माता के नाम से होता था। इस बात के अनेक प्रमाण धर्मग्रन्थों व समसामयिक साहित्य में देखने को मिलते हैं। इसीलिए इन धर्मग्रन्थों में इस वसुन्धरा को भारतमाता कहकर सर्वोच्चता प्रदान की गई है। नारी-शक्ति के प्रति ऐसा भाव विश्व के किसी भी धर्म व संस्कृति में न कभी देखने व सुनने को मिला और न ही भविष्य में मिलेगा।

अन्ततः प्राचीन भारत में समाज-जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जहाँ नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार न किया गया हो। *मनुस्मृति* के कुछ उद्धरणों में इस प्रकार की निषेधाज्ञाओं का वर्णन हुआ भी है तो वह सिर्फ स्त्रियों की भावनात्मक वृत्ति, शारीरिक बनावट आदि को ध्यान में रखकर उनकी सुरक्षा की दृष्टि से हुआ है। इसके पीछे ऐसा कोई उद्देश्य नहीं था जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि नारी को प्रतिबन्धित जीवन-यापन करना पड़ता था। भारतीय

1. *मनुस्मृति*, 5.156,165; 9.27-28,102

2. *वही*, 9.3; 5.147

3. *वही*, 2.213, 216

संस्कृति में तो गणिकाओं को भी सम्मान व आदर प्राप्त था। अन्ततः यह कहना ही इतिहासमूलक होगा कि समस्या मनु या *मनुस्मृति* में नहीं वरन् हमारी दोषपूर्ण दृष्टि में है। इसीलिए कालान्तर से लेकर वर्तमान तक के कुछ इतिहासज्ञ व विद्वान् भारतीय व्यवस्थाओं को भारतीय दृष्टिकोण से समझने व व्याख्यायित कर सकने में अक्षम रहे हैं।

### वर्ण (जाति) व दण्ड-व्यवस्था

वर्तमान में मनु और उनके ग्रन्थ *मनुस्मृति* पर सर्वाधिक आपत्ति मनु की वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत चतुर्थ वर्ण— शूद्र और उससे संबंधित विधान को लेकर है। विद्वानों के एक वर्ग का यह अभिमत एवं आक्षेप है कि मनु का दण्ड-विधान शूद्र-विरोधी अथवा उनका दृष्टिकोण एक वर्गविशेष के प्रति पक्षपातपूर्ण है। वस्तुतः विद्वानों के एक कतिपय वर्ग ने *मनुस्मृति* के कुछ प्रक्षिप्तांशों के आधार पर मनु को शूद्र-विरोधी घोषित करते हुए उनके मंतव्यों की गलत व्याख्या प्रस्तुत करके अर्थ का अनर्थ कर दिया और उनकी प्रतिष्ठा को धूमिल करने का प्रयास किया है। वस्तुतः इस प्रकार के उद्धरणों को अनेक विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है। मनुकालीन व्यवस्थाओं को समझने के लिए *मनुस्मृति* के उद्धरणों का गहन परीक्षण करना आवश्यक है। यदि उक्त आक्षेपों को स्वीकार कर भी लिया जाए तो यह तत्कालीन विधि और न्याय-व्यवस्था की निष्पक्षता पर प्रश्न-चिह्न लगाने के समान होगा; क्योंकि किसी समाज के बड़े जनसमुदाय की स्थिति शोचनीय हो और वह सामाजिक, राजकीय विधि द्वारा प्रतड़ित किया जा रहा हो, तो ऐसी स्थिति का परिगणन सुशासन, शान्ति-स्थापन के प्रयासों के रूप में नहीं किया जा सकता। ऐसी वर्ग-विरोधी, अराजक स्थितियों में तत्कालीन विधि में न्याय के आदर्श की बात नहीं की जा सकती।

*मनुस्मृति* पर आरोपित शूद्र-विरोधी आक्षेपों के समर्थकों को सर्वप्रथम यह ध्यान में रखना चाहिए कि मनु वैदिक परम्परा के पोषक हैं। वैदिक धर्म की स्थापना इस पुनर्जागरण का प्रमुख लक्ष्य था जिसे मनीषियों ने स्मृति-ग्रन्थों के माध्यम से पूर्ण करने का प्रयास किया। ध्वस्त होती वैदिक पृष्ठभूमि व विशृंखलित होती मान्यताओं की पुनर्स्थापना ही एकमात्र ध्येय था, इसलिए मनु ने वर्णागत शुद्धता का प्रत्यक्ष संबंध वेद के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। मनु पर शूद्र-विरोधी होने का आक्षेप लगाने से पूर्व मनु के उस मंतव्य को ध्यान में रखना होगा जिससे वैदिक मान्यताओं के पुनर्संवर्धन व पोषण का भाव

प्रदर्शित होता है। निश्चित ही *मनुस्मृति* विशृंखलित होती वैदिक परम्पराओं-मान्यताओं के पुनर्स्थापना का प्रयास है। *मनुस्मृति* में वर्णित शूद्र-संबंधी व्यवस्थाओं और विधि-विधानों को समझने से पूर्व वैदिक विधानों पर प्रकाश डालना समीचीन होगा। वैदिक ग्रन्थों में कहीं भी वर्ण का उल्लेख जाति के सन्दर्भ में नहीं हुआ है। सभी मंतव्यों से चातुर्वर्ण्य की समानता का भाव प्रदर्शित होता है।<sup>1</sup> मनु ने वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए वैदिक प्रमाणों को ही उद्धृत किया है।<sup>2</sup> हिंदू-संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदोपनिषद्, ब्राह्मण, महाकाव्यों, पुराणों में भी शूद्र-वर्ण के लिए सामाजिक भेदभाव का उल्लेख नहीं मिलता। वैदिकजन सभी की सुख-समृद्धि की कामना करते हैं। वेद में यज्ञ द्वारा सभी के कल्याण की प्रार्थना भी सुविज्ञात है। ऋग्वेद में केवल एक ही स्थान पुरुषसूक्त में ‘शूद्र’ शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में केवल तीन ही वर्ण हैं, शूद्र को चौथे वर्ण में वहाँ नहीं गिना गया है। शतपथब्राह्मण तथा तैत्तिरीयब्राह्मण भी तीन ही वर्णों की स्थिति का उल्लेख करते हैं। युक्तियुक्त सम्भावना यही हो सकती है कि शूद्र भी किसी-न-किसी प्रकार के द्विज थे और उनका स्थान घट-बढ़कर क्षत्रियों के ही समान था।<sup>3</sup> ऋग्वेद के एक सूक्त (नवम मण्डल, 112) में ऋषि का कथन है कि मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता चक्री चलाती हैं। इसी ग्रन्थ में (दशम मण्डल, सूक्त 120) ऋषि मौद्गल्य का उल्लेख है जिन्होंने गाय चुरानेवाले दस्युओं के साथ संघर्ष किया था। परशुराम ब्राह्मण होकर भी भयानक योद्धा के रूप में प्रसिद्ध हैं। भृगुओं का उल्लेख ऋग्वेद में रथ बनानेवाले बढ़ई के रूप में हुआ है। देवताओं में से भृगुगण धातु-शिल्प और लकड़ी के कार्य-शिल्प में सिद्धहस्त थे।<sup>4</sup>

वैदिक ग्रन्थों से जिस प्रकार का सामाजिक परिदृश्य बनता दिखाई देता है, उसमें आपसी समता व समरसता का भाव प्रकट होता है। याज्ञिक क्रिया के द्वारा पञ्चजन के सर्वतोभावेन उन्नति का भाव मिलता है :

‘पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां गोजता उत ये यज्ञियासः ।

पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसो ऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥’

1. अथर्ववेद, 19.32.8; 19.62.1; यजुर्वेद, 18.48; 26.2
2. ऋग्वेद, 10.90.11-12; यजुर्वेद, 31.10-11; मनुस्मृति, 1.30-31; महाभारत, शान्तिपर्व, 296.6
3. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 44-45
4. बही, पृ. 46 और अरुण, भारत की पहली धार्मिक क्रान्ति, श्याम पब्लिकेशन, दिल्ली

अर्थात्, हे पृथिवी पर उत्पन्न तथा यज्ञ के अधिकारी पञ्चजन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं निषाद) पुरुषो ! मेरे द्वारा उपदिष्ट यज्ञ किया करो। पृथिवी के देवता हमें पार्थिव पापों से बचायें और अंतरिक्ष के देवता हमें आकाश से उत्पन्न अलौकिक पापों से त्राण दिलायें।

वैदिक ऋषि यही कामना करता है कि मुझे ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों एवं सभी जनों के बीच प्रिय बनाए रखो।<sup>1</sup> ऋग्वेद के सामनस्यसूक्त में सभी को प्रेम तथा सम्मानपूर्वक साथ लेकर चलने की बात की गयी है। प्रत्येक मन्त्र में सभी की समानता की बात की गई है :

**‘सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।**

**देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥’**

अर्थात्, हे मनुष्यो ! तुम परस्पर मिलकर चलो, परस्पर मिलकर बात करो। तुम्हारे मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार विद्वान् ज्ञानीजन सेवनीय प्रभु को जानकर उसकी उपासना करते आए हैं, वैसे तुम भी किया करो।

**‘समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेधाम् ।**

**समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥’**

अर्थात्, सब मनुष्यों के विचार समान हों। इनकी समिति और सभा समान हो और चित्त एकसाथ समान उद्देश्यवाला हो। हे मनुष्यो ! मैं परमेश्वर तुम्हें समान विचारोंवाला करता हूँ और समान खान-पान और यज्ञ-भावना से युक्त करता हूँ।

**‘समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।**

**समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥’**

अर्थात्, हे मनुष्यो ! तुम्हारे संकल्प समान हों, तुम्हारे हृदय परस्पर मिले हुए हों, तुम्हारे मन समान हों, जिससे तुम परस्पर मिलकर एक होकर रहो।<sup>2</sup>

प्रख्यात समाज-चिन्तक डॉ. कृष्ण गोपालजी का अभिमत है कि ‘ये सभी मन्त्र सभी को साथ-साथ चलने, साथ-साथ बोलने तथा साथ-साथ समान मनबोध का सन्देश देते हैं। इन मन्त्रों द्वारा कल्पना की जाती है कि हम सभी के मन, मन्त्रणा, निर्णय, भोजन, भावना, हृदय तथा संकल्पादि सभी समान हों तथा

1. ऋग्वेद, 10.53.5; अथर्ववेद, 19.62.1

2. ऋग्वेद, 10.191.2-4

हम सभी मिलकर सहकार करें। यहाँ किसी भी वर्ग के साथ भेदभाव का लेशमात्र दर्शन नहीं होता।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र यजुर्वेद के एक मंत्र से चारों वर्णों की तेजस्विता की मंगलकामना का भाव प्रदर्शित होता है। इसके अलावा मन्त्रद्रष्टा ऋषि विविध कार्यों में लगे शिल्पियों की वन्दना करते हुए भगवान् शिव को शूद्र-समुदाय के विविध रूपों में देखते हैं :

**‘नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः**

**कर्मरिभ्यश्च वो नमो नमो पुञ्जितेभ्यो निषादेभ्यश्च वो नमो**

**नम इषुकृद्भ्यो धन्वकृद्भ्यश्च वो नमो ॥’<sup>2</sup>**

अर्थात्, शिल्प विद्या के ज्ञाता को हमारा नमस्कार, रथ निर्माण करनेवाले बढ़ई लोगों को हमारा नमस्कार, मिट्टी के पात्र बनानेवाले कुम्हार को हमारा नमस्कार है, लोहे के शस्त्रादि बनानेवाले लोहार को नमस्कार, भील आदि लोगों के अन्तर में स्थित रुद्र को नमस्कार, पक्षियों को मारनेवाली जातियों के अन्तर में वास करनेवाले रुद्र को नमस्कार, श्वानों के कण्ठ में रस्सी बाँधकर ले जानेवालों के अंतःकरण में स्थित रुद्र को नमस्कार, व्याधों के अन्तर में स्थित रुद्र को हमारा नमस्कार।

इसके अलावा यहाँ तक कि वैदिक ग्रन्थों के अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषि शूद्र-वर्ण के थे। इस विषय पर वात्स्यायन का मत है कि जिसने उचित माध्यम से धर्मसत्य का साक्षात्कार कर लिया हो, केवल वही ऋषि हो सकता है, चाहे वह जन्म से म्लेच्छ ही क्यों न हो। स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) ने इसी को और स्पष्ट किया है, ‘उस प्राचीन समय में देवर्षि वसिष्ठ अवैध सन्तान हैं, महर्षि व्यास मछुआरिन के पुत्र हैं, भक्त नारद दासीपुत्र हैं तथा और भी अनेक उदाहरण हैं जिन्होंने इस प्रकार अपनी साधना के बल पर ऋषि-पद पाया। इस प्रकार ऋषि बनना साधना का मार्ग है।<sup>3</sup> धर्मानन्द कौसाम्बी का मत है कि मर्तंग ऋषि चाण्डाल था और उसकी पूजा ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भी करते थे— यह बात वसलसुत्त की गाथाओं से स्पष्ट होती है।<sup>4</sup> वैदिक परम्परा में प्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थ के

1. डॉ. कृष्ण गोपाल, भारत की संत-परम्परा और सामाजिक समरसता, पृ 16-17

2. तैत्तिरीयसंहिता, 4.5.4

3. डॉ. कृष्ण गोपाल, भारत की संत-परम्परा और सामाजिक समरसता, पृ 14-15

4. भगवान् बुद्ध का जीवन और दर्शन, पृ 57 तुलनीय डॉ. कृष्ण गोपाल, भारत की संत-परम्परा और सामाजिक समरसता, पृ 14-15



प्रथम लेखक एक शूद्र महीदास थे। महीदास एतरे शूद्र थे और उन्होंने एक ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखा जो अन्ततः उन्हीं के नाम से (ऐतरेयब्राह्मण) प्रसिद्ध हो गया। विद्वान् लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि इसी ग्रन्थ के बाद ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखे जाने की परम्परा का सूत्रपात हुआ।<sup>1</sup> इसके अन्यत्र *वाल्मीकीयरामायण* में शूद्रों को ग्रन्थ के अध्ययन के लिए अनुमोदित किया गया है।<sup>2</sup> *महाभारत* के वनपर्व में भी कर्म व लक्षणों के आधार पर ही शूद्र-वृत्ति का निर्धारण किया गया है।<sup>3</sup>

इस प्रकार अधिकांश व्यवस्थाकार सभी वर्णों के लिए ‘जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विजोच्यते’ का उद्घोष करते हुए कर्माधारित वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हैं।<sup>4</sup> वस्तुतः भारतीय समाज-व्यवस्था में वर्णों का निर्धारण विद्या या ज्ञानरूपी कर्मों के आधार पर होता था। तत्कालीन और वर्तमान सामाजिक जीवन में भी शिक्षा ही मनुष्य की गुणवत्ता का मापदण्ड है। प्रारम्भ से ही शिक्षा मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का आधार-स्तम्भ रही है। अशिक्षित, अज्ञानी व्यक्ति जीवन में कदापि उन्नति नहीं कर सकता। वर्तमान में भी शिक्षा के माध्यम से ही किसी भी जाति-वर्ग में जन्मा व्यक्ति अपनी योग्यता से उच्च कोटि का जीवन-यापन कर सकता है। इसीलिए मनु ने भारतभूमि को ज्ञान की अधिष्ठातृ देवी मानते हुये विश्व के सभी मनुष्यों से अपने जीवनयोग्य कर्तव्यों एवं व्यवसायों की शिक्षा प्राप्तकर सुशिक्षित विद्वान् बनने का आह्वान किया है। इसके अन्यत्र ग्रन्थ में शूद्रों के लिए ‘एकजातिः’ शब्द का प्रयोग वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत ज्ञान, विद्या के आधार पर गुण-कर्म, योग्यता का पर्याय है।<sup>5</sup> मनु ने शूद्र को छोड़कर शेष अन्य तीन वर्णों को ‘द्विजाति’ कहकर सम्बोधित किया है। चौथा वर्ण केवल एकजातिः है; क्योंकि उसका केवल माता-पिता से एक ही जन्म हुआ है, वह विद्याध्ययन के रूप में दूसरा जन्म नहीं लेता। उसी को शूद्र माना गया

1. सूर्यकान्त बाली, *भारत गाथा*, पृ. 338

2. *वाल्मीकीयरामायण*, बालकाण्ड, 1.100

3. *महाभारत*, वनपर्व, 180.23, 25-26

4. *तैत्तिरीयब्राह्मण*, 3.2, 3.9; *शतपथब्राह्मण*, 14.4.2.23, 25, *वाल्मीकीयरामायण*, उत्तरकाण्ड, 30.19-20; *महाभारत*, शान्तिपर्व, 188.1, 11; *अनुशासनपर्व*, 143. 7, 9, 11, 26; *वनपर्व*, 180.19, *मनुस्मृति*, 2.39-40, 103, 126, 168; 10.65; 9.335; 4. 245

5. *मनुस्मृति*, 2.20, 39-40, 146, 126, 172; 4.245; 10.4

है।<sup>1</sup> मनु की वर्ण-व्यवस्था में पाँचवाँ कोई वर्ण नहीं है। निष्कर्षतः मनु के दृष्टिकोण में शूद्र वही है जो शिक्षा के अभाव के कारण निम्नतर जीवन-यापन करता है। शेष वर्ण विधिवत् शिक्षित होकर उच्च वर्ण धारण करते हैं। वही उनका दूसरा ब्रह्म जन्म विद्याध्ययन जन्म कहा जाता है। मनु अपने ग्रन्थ में शूद्र-वर्ण शिक्षा के अभाव में निम्न कार्य करनेवाला की भी श्रेष्ठता का परामर्श देते हैं, साथ ही श्रेष्ठजनों के दूषित आचरण को शूद्रों की कोटि में रखते हैं।<sup>2</sup>

*मनुस्मृति* के अनुशीलन से शूद्रों की स्थिति का उचित आकलन किया जा सकता है। ग्रन्थ में जाति-व्यवस्था के रूप में कहीं भी पक्षपात का भाव प्रदर्शित नहीं होता। *मनुस्मृति* के संकलन-काल के समय ग्रन्थकार के सम्मुख बौद्ध व जैन-क्रान्तियों व विदेशी जातियों के सामाजिक सम्मिश्रण का प्रश्न था। इसलिए *मनुस्मृति* की वैचारिकता पर बुद्ध व महावीर की प्रतिक्रिया का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसका सीधा असर दण्ड-व्यवस्था पर भी दिखाई देता है। इसलिए मनु ने घटित होते अपराधों की निवृत्ति के लिए जिस कठोर दण्ड का विधान किया है, वस्तुतः वह दूषित आपराधिक मानसिकता के निराकरण का क्रियात्मक रूप है, और मनु ने ऐसी वृत्ति और प्रवृत्तिवालों को शूद्र की श्रेणी में रखा है। वह किसी भी स्थिति में जन्मना नहीं है। मनु की दण्ड-व्यवस्था के मापदण्ड हैं गुण और दोष और आधारभूत तत्त्व हैं— बौद्धिक, सामाजिक स्तर या पद और उस अपराध का प्रभाव। मनु की दण्ड-व्यवस्था यथायोग्य दण्ड-व्यवस्था है जो मनोवैज्ञानिक है। यदि मनु गुण-कर्म योग्यता के आधार पर उच्च वर्णों को महत्ता प्रदान करते हैं तो अपराध करने पर उतना ही अधिक दण्ड देना विधानित करते हैं।<sup>3</sup> निश्चय ही इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं ‘शूद्र’ शब्द के साथ कठोर दण्ड का जो भाव दिखाई देता है, वह किसी भी रूप में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का शूद्र नहीं है। यह भाव उस अपराधी के लिए है जिसने यह जघन्य कृत्य किया है। वर्तमान में भी जघन्य अपराधों के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। ऐसे अपराधियों को कठोर दण्ड दिए जाने की मांग भी समय-समय पर आन्दोलन का रूप ले लेती है।<sup>4</sup> कतिपय दशाओं में शूद्र को न्यूनतम दण्ड देने का

1. कुमार, सुरेन्द्र, *महर्षि मनु बनाम अम्बेडकर*, पृ. 121

2. *मनुस्मृति*, 3.116, 4.245; 2-103, 126.168; 10.65, 9.335

3. कुमार, सुरेन्द्र, *महर्षि मनु बनाम अम्बेडकर*, पृ. 153

4. दिनांक 16 दिसम्बर, 2012 को दिल्ली-बलात्कार की घटना के सन्दर्भ में हुए जनांदोलन पर सभी प्रमुख समाचार-पत्रों के मुख्य अंश

परामर्श भी मिलता है, साथ ही सामाजिक गुरुता धारण करनेवाले वर्णों से विधियानुकूल वृत्ति व संयमित आचरण अपेक्षित था।<sup>1</sup>

अन्ततः मनु का विधान एक समतामूलक समाज की अवधारणा की स्थापना का प्रयास है। *मनुस्मृति* के उद्धरणों से यही सम्भावना प्रबल होती है कि मनु का दण्ड-विधान अपराध की प्रकृति, पद और अपराध के प्रभाव पर निर्भर है। विभिन्न आपराधिक परिस्थितियों में दण्ड का विधान चारों वर्णों के लिए समान है। यद्यपि कहीं-कहीं प्रथमतः दण्ड-विधान विषमता का भाव लिए हुए है, तथापि प्रथमतः तो वह ग्रन्थ का प्रक्षिप्तांश है और द्वितीयतः वह दण्ड के भयात्मक सिद्धान्त पर आधारित दिखाई देता है। *मनुस्मृति* के दण्ड-विधान की मूल्यपरकता इस प्रमाण से ही सिद्ध होती है कि कालान्तर के व्यवस्थाकारों ने मनु के आदर्शों को यथासंशोधन-परिवर्धन के साथ स्वीकार किया है।



251. *मनुस्मृति*, 8.337-338, 335-336, 347

## 6. न्याय-विधान की परम्परा और क्रियान्वयन

**म**नुस्मृति के अनुशीलन से तत्कालीन समाज में प्रचलित अपराध या पापकृत्यों का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है उसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि मनुस्मृति के काल तक निरन्तर विशृंखलित होते व्यक्ति के अनैतिक आचरणरूपी कृत्यों का परिगणन पाप या अपराध के रूप में कर लिया गया। वस्तुतः *मनुस्मृति* में अपराध का जो स्वरूप दिखलाई देता है, वह पाप या अधर्म का ही विकसित रूप है। अपराधरूपी धारणा के मूल में यह चिन्तन या विचार निहित है कि व्यक्ति अपने चारित्रिक पतन से पाप या अकरणीय कृत्यों की और अग्रसर होता है। जब इस प्रकार के कृत्य उसकी मनोस्थिति को प्रभावित करते हैं तो ऐसी स्थिति का प्रगत रूप अपराध होता है। इस प्रकार के कृत्य अपने प्रारम्भिक स्वरूप में सामाजिक विधि-विधानों द्वारा निन्दित होते हैं और जिनके लिए कोई राजकीय दण्ड का विधान नहीं होता लेकिन अपने द्वितीय स्वरूप में इन कृत्यों का परिणाम जघन्य व

समाज के वातावरण को बृहत् स्तर पर प्रभावित करनेवाला होता है। इसी द्वितीय अवस्था को *मनुस्मृति* में अपराध कहा गया है। इस प्रकार के आपराधिक कृत्यों का एक व्यवस्थित और विकसित न्यायिक-प्रक्रिया के माध्यम से उन्मूलन का सार्थक प्रयास ही *मनुस्मृति*-रूपी विधिक संहिता में समाहित है।

इन अपराधों के कारण इस काल में समाज व व्यक्ति को शासित, संयमित करने के लिए व्यवस्थित न्यायिक विधान की आवश्यकता महसूस की गयी। *मनुस्मृति* में वर्णित न्याय-विधान की परम्परा एक सतत् चिन्तन का सुफल है। इस ग्रन्थ में इसी न्याय-विधान के माध्यम से विधि को क्रियान्वित करते हुए समाज में धर्म को स्थापित करने का महनीय प्रयास किया गया है। न्याय-विधान से अभिप्राय एक ऐसी विधिक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत विधि के नियमोपनियमों को न्यायिक प्रशासन के माध्यम से क्रियान्वित किया जाता है और इस प्रक्रिया में किसी भी व्यक्ति को उन कृत्यों के लिए दण्डित किया जाता है जो विधि के अंतर्गत अकरणीय होते हैं। इस प्रकार के अकरणीय कृत्यों के लिए दण्ड का आरोपण किसी निश्चित न्यायिक संगठन एवं संस्था द्वारा एक निश्चित प्रक्रिया द्वारा किया जाता है।

*मनुस्मृति* में न्याय-विधान की परम्परा का प्रारम्भिक सुव्यवस्थित स्वरूप दिखाई देता है। न्याय-विधान की परम्परा का स्वरूप इतना तर्कसंगत परिलक्षित होता है कि कालान्तर में यही परम्परा अन्य व्यवस्थाकारों का पथ-प्रदर्शन करती दिखाई देती है। यहाँ तक कि वर्तमान न्याय-व्यवस्था पर भी *मनुस्मृति* का प्रभाव आंशिक रूप से दिखाई देता है। वर्तमान में भारतीय परिवेश में जिस न्याय-परम्परा को स्वीकार किया गया है, उसके मूल में समाहित सूत्रों को *मनुस्मृति* द्वारा विश्लेषित किया जा सकता है। *मनुस्मृति* के अपराधपरक अध्ययन से संकलनकालीन विधि, अपराध और दण्ड के स्वरूप और उससे संबंधित विविध घटकों का ज्ञान मिलता है जिससे तत्कालीन समाज में व्याप्त अव्यवस्था और विसंगतियों पर प्रकाश पड़ता है। वास्तव में ऐसी अव्यवस्थाओं पर नियमन-संयमन के लिए अनेक प्रकार के नियम-विधानों का ही *मनुस्मृति* में संकलन है। उससे तत्कालीन अपराध, उसके प्रकार, अवरोधों पर नियन्त्रण के लिए वैधानिक दण्ड, उसके प्रकार, न्यायदान की प्रक्रिया, तत्संबंधी अधिकारी, कार्यालय आदि का व्यापक अनुमान होता है। यहाँ न्याय के स्वरूप, उसकी प्रक्रिया, अधिकारी, कर्मचारी, कार्यालय आदि से संबंधित विवेचना ही अभिदेह

है।

## 6.1 विधि व विधि के स्रोत

भारतीय मनीषियों ने विधि-विधानों को पोषित करनेवाले विधिक (धर्म) ग्रन्थों में इस मत को सर्वमान्य रूप से स्वीकार किया है कि सृष्टि के उषाकाल में एक प्रारम्भिक अवस्था ऐसी थी जब 'राज्य' नामक संस्था अस्तित्व में नहीं थी। यह पृथिवी राज्यविहीन थी।<sup>1</sup> कृतयुग में न तो राजा था और न ही दण्ड-व्यवस्था थी, जिसके फलस्वरूप मानव में मोह, मत्सरादि का प्रवेश हो गया।<sup>2</sup> निश्चित ही यह मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था रही होगी। कालान्तर में व्यक्ति में सामूहिक स्वत्व की भावना का विकास हुआ। स्वत्व की इस मनोवृत्ति से उसमें अहं, स्वार्थ, लोभ, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्द्धा, द्वेष-जैसी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ और इस प्रकार की मनोवृत्तियों के कारण समाज में आपसी वैमनस्य व संघर्ष की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। इस प्रकार की विषम परिस्थितियों से प्रादुर्भूत हुए पापकृत्यों का परिगणन अपराध के रूप में कर लिया गया। इसके तदनुरूप इन परिस्थितियों को नियन्त्रित करने के लिए जिन नियमों का संकलन किया गया, उन्हें 'विधि' की उपमा से अभिहित किया गया।

*मनुस्मृति* या उसके पूर्व के ग्रन्थों में व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी के रूप में निरूपित किया गया है और यह एक ऐतिहासिक विचारणा व मानवीय प्रवृत्ति है कि व्यक्ति का जीविकोपार्जन समाज से होता है और समाज संस्थाओं से चलता है। व्यक्ति, संस्था और समाज— ये तीनों ही निकाय विधि से अनुशासित होते हैं। *मनुस्मृति* से भी इसी प्रकार का भाव प्रकट होता है। भारतीय विधिक दर्शन में व्यक्ति जन्म से ही विधि की विस्तृत शृंखला से शासित होता दिखाई देता है। धर्मग्रन्थों में तो व्यक्ति एक स्वयं संस्था है। व्यक्ति यदि किसी निर्जन द्वीप पर जा बसे तो वहाँ भी वह शौचाशौच, भक्ष्याभक्ष्य, दैनिक शारीरिक क्रियाओं तथा नैमित्तिक संध्या-वन्दन, अहिंसा, स्वास्थ्य-संबंधी अनेक विधियों के अधीन तो रहेगा; शयन, जागरण व अन्य जीव-जन्तुओं के प्रति अपने कर्तव्यों की विधियों से व्यक्ति एकाकी रहकर भी मुक्त नहीं है। जो विधियाँ नितान्त वैयक्तिक या व्यक्तिगत हैं, उनका विधान किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं वरन् निरपवाद प्रत्येक

1. अथर्ववेद, 11.8.30

2. महाभारत, शान्तिपर्व, ???.59

व्यक्ति के लिए है।<sup>1</sup>

वैदिक धर्म या जीवन-पद्धति से संबंधित विधि-विधानों की पुनर्स्थापना का ही प्रयास *मनुस्मृति* है। वस्तुतः यह ग्रन्थ उन विधियों का संकलन है जिन्हें आदि मनु ने सृष्टियुत्पत्ति के साथ प्रतिपादित किया था जो शनैः-शनैः सामाजिक परिवर्तन के विविध दौर में संशोधित-परिवर्धित होते हुए *मनुस्मृति* के रूप में संकलित हुए। इस कालविशेष में वैदिक धर्म के प्रति उपजे असंतोष से निर्मित विश्रृंखलित परिस्थितियों के निराकरण के लिए निश्चित विधि-विधानों व न्यायिक संगठन की आवश्यकता थी। *मनुस्मृति* में विधि के जिस स्वरूप की व्याख्या मिलती है, वह प्रथमतः सामाजिक विधि, जिसके अंतर्गत ऐसे अकरणीय कृत्यों का समावेश मिलता है जो सामाजिक विधि-निषेध परम्परा के रूप में वर्णित है और यहाँ जिसका प्रत्यक्ष संबंध वर्णाश्रम धर्म या फिर धर्मरूपी नैतिकता से लिया जा सकता है। *मनुस्मृति* में जगत् की उत्पत्ति, संस्कार-विधि, व्रतों का उपचार, महायज्ञ, नित्य श्राद्ध के प्रकार विधान, यहाँ तक कि स्नान-जैसे नित्य कर्म तक को भी विधि का ही एक स्वरूप माना गया है।<sup>2</sup> इसमें सम्पूर्ण रूप से धर्म (विधि) व उसके गुण-दोष व चातुर्वर्ण्य की आचार-परम्परा को समग्रता से व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। इसके अन्यत्र वृत्तियों के लक्षण, गृहस्थ-नियम, भक्ष्याभक्ष्य, शौच, द्रव्यों की शुद्धि, स्त्री-धर्म, मोक्ष, संन्यास एवं राजा (राजधर्म) के कार्य आदि निकायों को भी विधि द्वारा शासित होने का विधान मिलता है।<sup>3</sup> विधि के इन उपादानों के उल्लंघन को शिष्टाचार या आत्मतुष्टि के विरुद्ध किए गए कार्यों के साथ परिगणित किया जा सकता है, क्योंकि यहाँ विधि सामाजिक नियमों की द्योतक है।<sup>4</sup> इस प्रकार *मनुस्मृति* में विधि के सूक्ष्म स्वरूप की अभिव्यञ्जना मिलती है जिसमें धर्मरूपी नैसर्गिक विधि का सामाजीकरण किया गया है। मनु विधि के द्वितीय स्वरूप के अंतर्गत राजकीय विधि की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं। *मनुस्मृति* में वर्णित राजकीय विधि अपने समग्र रूप में राजा के कार्यों, विवादों के प्रकार व उनकी व्याख्या, स्त्री-पुरुष के धर्म, सम्पत्ति-विभाजन, न्याय-विधान की परम्परा और आपराधिक कृत्यों को

1. चतुर्वेदी, मुरलीधर, *मनु की विधि-संहिता*, पृ 258

2. *मनुस्मृति*, 1.107

3. *वही*, 1.113-114

4. *वही*, 1.118

व्याख्यायित करती है।<sup>1</sup> वस्तुतः *मनुस्मृति* में राजकीय विधि के अंतर्गत ऐसे पापकृत्यों का समायोजन किया गया है जो व्यक्ति व समाज से परस्पर सम्बद्ध थे। मुख्यतः राजकीय विधि द्वारा दण्डित अपराधों की प्रकृति जघन्य थी जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज की विविध व्यवस्थाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

*मनुस्मृति* में वर्णित न्याय-विधान की परम्परा को स्पष्ट करने से पूर्व विधि की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करना उपयोगी होगा, क्योंकि न्यायिक-प्रक्रिया विधि के ही क्रियान्वयन का प्रयत्न है। विधि शब्द संस्कृत के **वि + धा + कि-** इन शब्दों से मिलकर बना है जिसका भावार्थ है कार्य करने की रीति, प्रणाली, ढंग, आज्ञा, आचरण, विवाद-सृष्टि एवं रचना।<sup>2</sup> प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में विधि का तात्पर्य वेद एवं सूत्रग्रन्थों में समाहित नियम-विधानों का वह संकलन है जो करणीयाकरणीय कृत्यों को निर्दिष्ट करते हैं। *मनुस्मृति* से पूर्व यदि विधि व उसके अंतर्गत सञ्चालित न्याय-विधान की पृष्ठभूमि पर विचार करें तो यह पृष्ठभूमि पूर्व-वैदिककालीन समाज से ही निर्मित दिखाई देती है जहाँ विधि के स्रोत के रूप में प्रकृति को न्यायाधीश के रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए ऋत् को तत्कालीन जीवन में जनकल्याणकारी व सर्वशक्तियों के उद्गम व नियामक के रूप में निरूपित किया गया है। कालान्तर में उसी का उत्तर-वैदिककाल व सूत्रकाल में क्रमशः धर्म व सामाजिक आचरण के रूप में विकास हुआ। उपलब्ध साक्ष्यों के प्रकाश में उसका राजधर्म, सदाचरण, कुलाचार, देशाचार, जात्याचार, आत्मतुष्टि इत्यादि के रूप में विस्तार हुआ।

### (अ) वेद, श्रुति, स्मृति, सदाचार, आत्मतुष्टि

*मनुस्मृति* का काल वैदिक पुनरुत्थान मान्यताओं की पुनर्स्थापना का काल था। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि श्रमण-परम्परा के अभ्युदय से वैदिक परम्पराओं द्वारा निर्देशित सामाजिक व्यवस्थाओं में विकृति फैल गई थी और इसी विकृति को संयमित करने के लिए *मनुस्मृति* में अपराधों का वर्गीकरण तथा धर्ममूलक न्यायिक-प्रक्रिया की स्थापना का प्रयास किया गया। *मनुस्मृति* के अनुशीलन से धर्म ही नियम-विधान के मूल स्रोत के रूप में उभरकर सामने आता

1. *मनुस्मृति*, 1.115-117

2. वामन शिवराम आपटे, *संस्कृत-हिंदी कोश*, पृ 151

है। धर्म के आधार पर ही चातुर्वर्ण्य के करणीयाकरणीय कृत्यों का निर्धारण किया गया। *मनुस्मृति* धर्मरूपी विधि-विधानों की व्याख्या है और उसमें कर्मों के गुणदोषों का एवं चातुर्वर्ण्य की प्राचीन परम्पराओं व रीतियों का विवेचन मिलता है।<sup>1</sup> *मनुस्मृति* से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि ग्रन्थ में विधि (धर्म) के चार स्रोत— वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि का प्रमुखता से उल्लेख हुआ है।<sup>2</sup> वेद को ही विधि (धर्म) के स्रोत के रूप में प्रथमतः सर्वोच्चता प्रदान की गई है। ग्रन्थ में मनु वेदमीमांसक के रूप में दिखाई देते हैं, साथ ही वेद में प्रतिपादित धर्म को ही मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म के रूप में लिया गया है।<sup>3</sup> इसी धर्म के अनुपालन से व्यक्ति जीवन के परमोद्देश्य को प्राप्त करता है।<sup>4</sup> मनु ने वेद के लिए 'श्रुति' और धर्मशास्त्रों के लिए 'स्मृति' शब्द का प्रयोग किया है।<sup>5</sup> ग्रन्थ में वर्णित नियम-विधान पूर्णतया वैदिक धर्म-दर्शन का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं। यहाँ 'वेद' और 'श्रुति' शब्द के शाब्दिक अर्थ को स्पष्ट करना भी विषयानुकूल होगा। 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसकी शाब्दिक अभिव्यञ्जना 'ज्ञान' है।<sup>6</sup> वैदिक ज्ञान 'श्रुति' (सुनकर) के द्वारा प्राप्त किया जाता था, अतः वेदों को 'श्रुति' की संज्ञा प्रदान की गई है।<sup>7</sup> सदाचारी और धर्मप्रेरित व्यक्ति के लिए वेद ही उत्तम प्रमाण है।<sup>8</sup> यदि कोई वैदिक धर्म की अवेहलना या उस पर सन्देह करता है तो वह दण्ड का भागी है।<sup>9</sup> प्रतीत होता है कि तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया में सर्वप्रथम वेद-वर्णित व्यवस्थाओं को ग्राह्य किया जाता था, तदुपरान्त अन्य प्रमाणों पर विचार किया जाता था। वस्तुतः हिंदू-विधि या मनु के धर्म के विकास की प्रक्रिया नैसर्गिक विधि से प्रारम्भ होती है। ऋत् के सामाजिक संबंधों, आचारों, एवं नैसर्गिक व्यवस्था को व्यक्त करनेवाला प्रथम संहिताबद्ध रूप वेद ही है।<sup>10</sup> श्रुति-वैविध्य की स्थिति में

1. *मनुस्मृति*, 1.2.108

2. *वही*, 2.6

3. *वही*, 2.7

4. *वही*, 2.9

5. *वही*, 2.10

6. *वैदिक साहित्य का इतिहास*, पृ 1

7. *मनुस्मृति*, 2.21, 10

8. *वही*, 2.13

9. *वही*, 2.11

10. त्रिपाठी, हरिहरनाथ, *प्राचीन भारत में राज्य व न्यायपालिका*, पृ 98

वेद-वर्णित दोनों विधियों को स्वीकारते हुए विकल्प के आश्रय का विधान भी मिलता है।<sup>1</sup> इस कथन के प्रमाण के रूप में मनु ने वैदिक उद्धरण को प्रस्तुत किया है।<sup>2</sup> मनु का यह कथन तत्कालीन समाज में होनेवाले परिवर्तनों का सूचक है और विधि भी परिवर्तन की इस प्रक्रिया से अछूती नहीं जान पड़ती। इसलिए सूत्र-साहित्य की तुलना में *मनुस्मृति* से यत्र-तत्र विधि की उदारता का आभास भी होता है। यहाँ यह भी उल्लेख करना समीचीन होगा कि मनु का विधिक दर्शन दण्ड, भय, दमन का परिचायक नहीं है, अपितु यह नैतिक मापदण्डों का परिचायक है। विधि अपने इस स्वरूप में कर्तव्यों का मार्ग प्रशस्त करती है<sup>3</sup> जिससे व्यक्ति-निर्माण हो सके। पूर्व में भी स्पष्ट किया जा चुका है कि मनु के धर्म का उद्देश्य आचारवान् व्यक्तियों का निर्माण करना है जिससे वह समाज और राष्ट्र के संवाहक बन सके।

मनु ने विधि के द्वितीय स्रोत के रूप में स्मृतियों को प्रामाणिकता प्रदान की है।<sup>4</sup> इस पर टीका करते हुए मेधातिथि ने स्पष्ट किया है कि वेद के ज्ञाताओं का यह स्मरण कि यह करने योग्य है और न करने योग्य है स्मृति है।<sup>5</sup> सम्भवतः स्मृतियों से मनु का अभिप्राय सूत्र-साहित्य से रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समय में वेद प्राचीन विधिक-व्यवस्था के आधार थे; किन्तु ज्ञान, कर्मकाण्ड, नैतिकतामूलक होने के कारण विधिक व न्यायिक विधानों की पूर्ण व्याख्या देने में असमर्थ थे। विधि-व्यवस्था से संबंधित नियमों का वेद में से चयन करना होता है और उनमें विधि-व्यवस्था से संबंधित नियमों का आभाव भी है।<sup>6</sup> ऐसा लगता है कि वेदकाल के पश्चात् विधि का सर्वांगीण विकास स्थानीय परम्पराओं व मान्यताओं पर निर्भर था इसलिए भारतीय भू-भाग के विविध क्षेत्रों में निवासित चिन्तकों-मनीषियों ने क्षेत्रसः वैदिक ग्रन्थों की व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं और इसी के परिणामस्वरूप वेद की विभिन्न शाखाएँ अस्तित्व में आयीं। वेद के अध्ययन की दृष्टि से सूत्रों का निर्माण हुआ। इस प्रकार धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों एवं

1. *मनुस्मृति*, 2.12-14

2. *वही*, 2.15

3. *वही*, 2.8

4. *वही*, 2.9-10

5. *मेधातिथि*, 2.10

6. चतुर्वेदी, मुरलीधर, *मनुस्मृति की विधि-संहिता*, पृ 4



कल्पसूत्रों की रचना हुई।<sup>1</sup> स्मृतियों को पूर्व-स्मृतियों के रूप में विभाजित करके उन्हें 'धर्मसूत्र' एवं 'धर्मशास्त्र' नामाभिधान दिया गया। वैसे इन दोनों को विस्तृत रूप से 'धर्मशास्त्र' के नाम से जाना जाता है।<sup>2</sup> यहाँ मनु द्वारा व्याख्यायित 'स्मृति' शब्द को इसी रूप में लेना उचित होगा।

इसके अन्यत्र मनु ने विधि के तृतीय स्रोत के रूप में सदाचार या आचार-परम्परा का उल्लेख किया है। मनु ने सदाचार को पारिभाषित करते हुए स्पष्ट किया है कि उस देश में वर्णों और वर्णसंकरों में जो आचार (स्थानीय विधि) परम्पराओं से प्रचलन में है, वही सदाचार कहलाता है।<sup>3</sup> ङुं पृ वृ काणे ने सदाचार को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार वेद एवं स्मृतियाँ धर्म के विषय में प्रमाणिकता उत्पन्न करती हैं; उसी प्रकार जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों में वास्तविक धर्म के रूप में शिष्टों के व्यवहार हमें आवश्यक कसौटी प्रदान करते हैं अर्थात् शिष्टों के आचार से यह प्रकट हो जाता है कि हमारा कार्य शास्त्रविहित है या नहीं।<sup>4</sup> मनु ने विधि के स्रोत के रूप में सदाचार की महत्ता को तो प्रतिपादित किया ही है; साथ ही आचारों की वैधानिकता की ओर भी संकेत किया है। शिष्टों के सभी व्यवहार धर्म के लिए प्रमाण नहीं हैं। यदि उनके उन कार्यों को, जो व्यक्तिगत लाभ या आनन्द के परिणामस्वरूप होते हैं, कदाचित् प्रमाण या साक्ष्य के रूप में ग्राह्य नहीं किया जा सकता।<sup>5</sup> मनु ने सदाचार के अंतर्गत कुलाचार, देशाचार व जात्याचार को स्थान दिया है। ध्यातव्य है कि सदाचार भारतीय विधि का प्राकरूप है जिसका उद्भव भिन्न-भिन्न क्षेत्रों व ग्रामों में प्रचलित परम्पराओं व रीतियों के रूप में हुआ है। इसलिए ग्रन्थ में व्यक्ति को उसी मार्ग के अनुसरण का निर्देश है जो सदियों से धर्ममूलक आचार-परम्पराओं के रूप में प्रचलन में रहा हो क्योंकि धर्मानुकूल परम्पराओं के अनुपालन में किसी भी प्रकार की क्षति होने की सम्भावना नहीं रहती।<sup>6</sup> वर्तमान में भी हिंदू जीवन-पद्धति में पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वतः हस्तांतरित

होती मान्यताओं को महत्त्व दिया जाता है। यहाँ कुलाचार के अंतर्गत मात्र कुल के सदस्यों के ही सम्यक् आचरण का अनुवर्तन सम्मिलित नहीं है। वास्तव में कुलाचार अपने विशिष्ट अर्थों में विभिन्न समाजों में प्रचलित अलिखित आचार-परम्पराओं का द्योतक है।<sup>7</sup> इसके अन्यत्र मनु ने सदाचार के अंतर्गत जात्याचार अर्थात् जातिगत परम्पराओं व रूढ़ियों का भी उल्लेख किया है।<sup>8</sup> यहाँ जाति को परवर्तीभेदक स्वरूप में न लेते हुए वर्णाश्रम या जातिगत कर्मों से संबंधित नियमों के रूप में देखना युक्तिसंगत होगा, क्योंकि मनु का वर्णाश्रम-धर्म (विधि) सभी के लिए समान रूप से वर्णगत कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

देशाचार को भी मनु ने सदाचार के उपबन्ध के रूप में लिया है। यदि यहाँ विधि के विस्तृत स्वरूप पर विचार किया जाए तो स्वतः ही यह धारणा बलवती होती प्रतीत होती है कि तत्कालीन न्यायिक-प्रक्रिया में आचार-परम्परा में देशाचार सर्वाधिक प्रासंगिक था।<sup>9</sup> यद्यपि कुलाचार एवं जात्याचार विधिक रूप से प्रासंगिक थे, तथापि इनका प्रभाव-क्षेत्र सीमित परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त देशाचार की मान्यता उस सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए होती है जहाँ एक ही धर्म, संस्कृति की धारा समान रूप से प्रवाहित होती है। इसकी पुष्टि ङुं काणे के इस कथन से भी होती है कि यदि कोई व्यक्ति पूर्व को छोड़कर उत्तर चला जाए तो भी वह होली का उत्सव आयोजित कर सकता है; भले ही कोई प्राच्य-विधि उसे संपादित करे या न करे।<sup>10</sup>

ध्यातव्य है कि *मनुस्मृति* से जिस प्रकार के समाज का प्रतिबिम्ब निर्मित होता है उसमें सामाजिक विशृंखलन के साथ-साथ जातियों का पारस्परिक सम्मिश्रण होता भी दिखाई देता है। वस्तुतः इस काल में कहीं-न-कहीं समाज में बाहरी तत्त्वों का समायोजन हो रहा था चाहे वह किसी भी रूप में विदेशी या अवैदिक जातियाँ का हो। इन्हीं विषम परिस्थितियों के निवारणार्थ मनु ने विधिक स्रोत के रूप में सदाचार व उसके घटक तत्त्वों— कुलाचार, जात्याचार व देशाचार का उल्लेख किया है। इसलिए मनु ने राजा को देशकाल के आधार पर न्याय करने

1. दिवान, पारस, *आधुनिक हिंदू-विधि*, पृ 14
2. *वही*, पृ 15
3. *मनुस्मृति*, 2.18
4. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2, पृ 953
5. *मनुस्मृति*, 2.7
6. *वही*, 4.118

1. सिंह, श्यामनारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि*, पृ 57
2. *मनुस्मृति*, 1.118
3. सिंह, श्यामनारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि*, पृ 57
4. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 3, पृ 963

का परामर्श दिया है।<sup>1</sup> साथ ही मनु ने स्थानीय विधियों को भी प्रमाणिकता प्रदान की है।<sup>2</sup> *मनुस्मृति* में वैधानिक शासन या राजकीय विधि की सुदृढ़ता के लिए कुछ स्थानों या पड़ोसी राज्यों की परम्पराओं व मान्यताओं के अनुसरण के लिए राजा को निर्दिष्ट किया गया है।<sup>3</sup> सम्भवतः वह इस विषय में वह विधि के विद्वानों से विचार-विमर्श करता था।<sup>4</sup> इसके अन्यत्र तत्कालीन न्यायिक प्रशासन में विद्वानों व सदाचारियों के कथनों को महत्ता दी जाती थी। लेकिन ये विधि-विधान किसी भी स्थिति में जनपद, कुलों एवं जातियों के विरुद्ध प्रयुक्त किए गए आचरण के विरोध में नहीं होते थे।<sup>5</sup> यहाँ मेधातिथि के कथन का भी उल्लेख करना समीचीन होगा कि राजा यह सुनिश्चित करे कि जनपदों, कुलों जातियों एवं श्रेणियों की परम्पराएँ वेदविरुद्ध नहीं अथवा अन्य लोगों के हितों को प्रभावित करनेवाली अर्थात् अनैतिक तो नहीं।<sup>6</sup> कालान्तर की स्मृतियों व अन्य धर्ममूलक साहित्यों में यही भाव देखने को मिलता है। वसिष्ठ की यह घोषणा कि मनु ने घोषित किया है कि देशों, जातियों एवं कुलों की परम्पराएँ वेद-नियम के अभाव में प्रासंगिक होनी चाहिये।<sup>7</sup> इसके तदनुसार राजा को इस बात के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए कि धर्मरूपी परम्पराओं का चातुर्वर्ण्य के द्वारा उचित रूप से पालन हो।<sup>8</sup> *मनुस्मृति* में इसी प्रकार का विधान विवाद, निर्णय या न्यायिक-प्रक्रिया के सन्दर्भ में देखने को मिलता है।<sup>9</sup>

*मनुस्मृति* में विधि के अन्तिम स्रोत के रूप में आत्मसंतुष्टि का उल्लेख हुआ है। मनु ने इसे 'आत्मतुष्टि' कहकर सम्बोधित किया है। यद्यपि मनु इस विषय के प्रति बहुत आग्रहशील प्रतीत नहीं होते। इसलिए *मनुस्मृति* में विधि के इस स्रोत का विस्तार से उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि विवाद निर्णय की स्थिति में विरोधाभास या भ्रम की दशा उत्पन्न होने पर आत्मतुष्टि का उपयोग

1. *मनुस्मृति*, 7.10
2. *वही*, 7.17
3. *वही*, 7.203
4. *वही*, 8.41
5. *वही*, 8.46
6. *मनुस्मृति* 2.6 पर मेधातिथि की व्याख्या
7. *वसिष्ठधर्मसूत्र*, 1.17
8. *वही*, 19.7
9. *मनुस्मृति*, 8.3

विधि के मान्य स्रोत के रूप में होता हो। कालान्तर में मेधातिथि, गोविन्द नारायण, कुल्लूक भट्ट-जैसे *मनुस्मृति* के टीकाकारों ने भी विधि के स्रोत के रूप में आत्मसंतुष्टि का समर्थन किया है। अंततोगत्वा विधि के स्रोत के रूप में सदाचार (कुलाचार, देशाचार, जात्याचार) की महत्ता को डूँ पी वृ काणे के इस कथन से प्रामाणिकता प्रदान की जा सकती है कि 'सामान्य मनुष्यों के लिए यह विधि समझने एवं अनुसरण करने के लिए सरल है। यह कथन स्पष्ट करता है कि परिवर्तन अथवा प्रगतिशीलता की संभावना सदैव अनुभूत होती रहती है, परिवर्तन का भय निरर्थक है, जैसा कि बहुधा पहले और आजकल के कुछ लोग भ्रामक ढंग से समझते अथवा करते आए हैं। हमारे धर्मशास्त्रों ने नयी रीतियों अथवा श्रेष्ठ गुरुजनों एवं शिष्टों की रीतियों को समयानुसार समाज-कल्याण एवं नयी व्यवस्थाओं के लिए स्थितिनुकूल परिवर्तित होती रही सदा मान्यता दी है।'

इस प्रकार *मनुस्मृति* में विधिरूपी साक्ष्यों के अनुशीलन से विधि का जो प्रगत स्वरूप सामने आता है, उसमें विधि का बहुविध विकास परिलक्षित होता है। वस्तुतः मनु का विधान विधि की एक बोझिल व्यवस्था नहीं जैसी कि वर्तमान में दिखाई देती है। मूलतः यह एक विशिष्ट प्रकार की जीवन-पद्धति है जो धर्ममूलक नियम-विधानों से ओतप्रोत जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है जो व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक होते हैं। यहाँ विधि हठधर्मिता नहीं अपितु अनुकरण का विषय है जिससे व्यक्ति में मानवीय गुणों का विकास होता है। यहाँ अपने इस रूप में विधि को चरित्र-निर्माण की संस्था के रूप में लेना श्रेयस्करो होगा। इस प्रकार की विधिक व्यवस्थाओं के अनुपालन से व्यक्ति में उन विशिष्ट गुणों का विकास होता है जिनसे समाज की विधिक मर्यादा सुनिश्चित होती है। इन मर्यादाओं का पालन व्यक्ति भय से नहीं अपितु कर्तव्य के रूप में करता है।

अन्ततः *मनुस्मृति* से सामाजिक व राजकीय— दोनों ही विधियों के क्रियान्वयन का भाव प्रदर्शित होता है। *मनुस्मृति* में विधि के दोनों स्वरूपों में परस्पर अंतर्संबंध परिलक्षित होता है। जहाँ एक ओर सामाजिक विधि के पालन से व्यक्ति नैतिक व चारित्रिक सम्बल प्राप्त करके अपनी मनोवृत्ति के अनुरूप अपना विकास करता है, वहीं दूसरी ओर इसकी उपेक्षा या अवेहलना करने पर राजकीय विधि के उल्लंघन का दोषी होता है। यहाँ यह कहना ही विषयानुपयोगी

होगा कि मनु द्वारा प्रतिपादित विधिक उपबंध या नियम-विधान नैतिक या आचारमूलक नियमों की विस्तृत शृंखला है। धर्म और वेद, स्मृति, सदाचार या आचरण की विशिष्ट परम्पराएँ ही इसका मूलधार हैं।

## (ब) राजधर्म

मनु द्वारा प्रतिपादित न्याय-विधान की परम्परा की विधिसम्मत गवेषणा करने से पूर्व यहाँ विधि के आवश्यक स्रोत राजधर्म की युक्तिसंगत विवेचना करना विषयानुरूप होगा। निश्चित न्यायिक प्रक्रिया के संपादन में विधि व उसके स्रोत की महती भूमिका होती है। प्राचीन धर्मग्रन्थों, विशेषकर *मनुस्मृति* में विधि (धर्म) व राजधर्म समानान्तर चलनेवाली विधिक अवधारणा है जो अपने बृहत् अर्थों में एक-दूसरे पर अवलम्बित दिखाई देती है। यद्यपि यहाँ राजधर्म को विधि के घटक-तत्त्व के रूप में व्याख्यायित करना ही अभिप्राय है। *मनुस्मृति* में विधि का उल्लेख शाश्वत सत्य के रूप में हुआ है। यहाँ सत्य ही विधि को विवेचित करनेवाले उपबन्धों की अक्षय ऊर्जा का स्रोत है। मनु की यह विधिक व्यवस्था प्राकृतिक विधि या न्यायिक सिद्धान्तों की पोषक है; जिसमें विधि सिर्फ नैतिक व्यवस्थाओं के अनुपालन का विषय है जिसका अनुसरण व्यक्ति के स्वविवेक पर निर्भर करता है; लेकिन व्यवहारिक जगत् में इसका अनुपालन करना कठिन व दुष्कर कार्य है। ध्यातव्य है कि नियम-विधानों के सफलतम क्रियान्वयन के लिए एक ऐसी व्यवस्था का होना अपरिहार्य है जिसमें दृढ़ता के साथ प्रचलित विधिक उपबंधों को व्यवहारिकता के साथ लागू किया जा सके। वर्तमान में इस प्रकार की संस्थाओं की महती आवश्यकता है। इसलिए भारतीय विधि के प्रणेता मनु ने सामाजिक विधि के साथ-साथ अपने ग्रन्थ में राजकीय विधि या राजधर्म की महत्ता को प्रतिपादित किया है। यहाँ विधि के स्रोत के रूप में राजधर्म की विवेचना ही ध्येय है।

सभी प्राचीन धर्मग्रन्थों में समान रूप से राजधर्म को विधि के अनुषांगिक विषय के रूप में महत्ता प्रदत्त की गई है। प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि सभी धर्मों का सार राजधर्म में निहित है। राजधर्म अपने विधिक अर्थ में व्यापक स्वरूप को समाहित किए हुए है। यहाँ अपने विशिष्ट विधिक अर्थ में राजधर्म अपराध, विधि, दण्ड, न्याय-विधान की परम्परा से संबंधित नियम-विधानों का द्योतक है। धर्मशास्त्रों के अंतर्गत राजधर्म एक विशिष्ट महत्त्व को प्रतिपादित करनेवाला विषय है; इसलिए सभी धर्मशास्त्रकारों,

मुख्यतः मनु ने विधि की इस विद्या का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। इस विषय की महत्ता इस बात से और अधिक प्रगट होती है कि आदिकाल से ही इस विषय पर पृथक्-पृथक् रूप से पुस्तकें लिखी जाती रही हैं।<sup>1</sup> निश्चित ही आदिम युग के पश्चात विकसित व परिवर्तित होते मानवीय व्यवहार व तदनुरूप बदलते मानवीय आचरण के अनुरूप स्थापित व क्रियाशील होती संस्थाओं के फलस्वरूप परिवार, समाज, राज्य-जैसी इकाइयाँ अस्तित्व में आयीं। इन सभी संस्थाओं के सुव्यवस्थित सञ्चालन के लिए जिस विधिक उपक्रम को मान्यता प्रदत्त की गई, उसे 'राजधर्म' कहा गया।

जिस प्रकार प्राचीन भारतीय धर्म-साहित्य में मनु को सृष्टियुत्पत्ति के साथ सम्बद्ध किया गया है; उसी प्रकार मनु को राजधर्म के प्रणेता, व्याख्याता, विवेचक के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। *महाभारत* में मनु प्राचेतस को राजधर्म के व्याख्याकार के रूप में निरूपित किया गया है।<sup>2</sup> *कामसूत्र* में उल्लेख मिलता है कि 'प्रजापति ने एक लाख श्लोकवाले महाग्रन्थ की रचना की जिसका कि प्रणयन मनु ने धर्मशास्त्र के रूप में किया'।<sup>3</sup> *पञ्चतंत्र* में भी मनु नृपशास्त्र के रचयिता के रूप में उल्लिखित हैं।<sup>4</sup> इन उद्धरणों के आलोक में कहा जा सकता है कि मानवीय आचरण को विधि-विधानों द्वारा संयमित करने का श्रेय जिस प्रकार मनु को है, ठीक उसी तरह मनु राजधर्म के प्रतिपादक के रूप में भी जाने जाते हैं।

*मनुस्मृति* के सप्तम अध्याय में राजधर्म को विस्तृत रूप से विवेचित किया गया है। मनु द्वारा व्याख्यायित राजधर्म को शासनशास्त्र, नीतिशास्त्र या राजनीति-विषयक नीतियों के रूप में लेना समीचीन व विषयानुपयोगी होगा। यहाँ राजधर्म विधिक निकायों के लिए सुदृढ़ प्रशासन के अनुरूप विधि-विधानों का मार्ग प्रशस्त करता है। मनु ने राजधर्म के प्रेरक के रूप में राजा की उत्पत्ति और उसके द्वारा पालन की जानेवाली आचार-परम्परा का उल्लेख किया है।<sup>5</sup> साथ ही वेदोक्त क्षत्रिय राजा को राजधर्म धारण करने के लिए निर्देशित किया है।<sup>6</sup> राजा

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ 967
2. महाभारत, अनुशासन पर्व, 39.8
3. कामसूत्र, 1.5.8
4. पञ्चतंत्र, 1.1 (प्रो. एडगर्टन द्वारा संपादित)
5. मनुस्मृति, 7.1
6. वही, 7.2

राजकीय प्रशासन का सर्वोच्च पदाधिकारी था। मनु ने यह विधानित किया है कि राजा के द्वारा आज्ञित या निर्मित विधि का उल्लंघन नहीं करना चाहिये।<sup>1</sup> राजाज्ञा को विधि के स्रोत के रूप में लेना श्रेयस्कर होगा, किन्तु राजा के द्वारा आज्ञाप्ति विधि भी धर्म का ही एक अनुशासन प्रतीत होती है। मनु ने राजा को भी विधि या धर्म के अनुशासन से आबद्ध किया है।

## 6.2 न्यायिक प्रशासन

*मनुस्मृति* से तत्कालीन समाज में व्याप्त विसंगतियों व उनके परिणामस्वरूप निर्मित परिस्थितियों के उन्मूलनार्थ किए गए प्रयासों से फलीभूत सुदृढ़, सुगठित न्यायिक प्रशासन के अस्तित्व में होने का संकेत मिलता है। इस प्रकार के प्रयासों को विधि-स्थापन की प्रक्रिया के रूप में लेना विधिसम्मत होगा। विधि-स्थापन के ऐसे प्रयासों की स्पष्ट अभिव्यञ्जना वैदिक व सूत्र-ग्रन्थों में को मिलती है। इस तरह के प्रयासों का प्रगतिशील व विकसित स्वरूप ही *मनुस्मृति* है।

यहाँ न्याय-कार्य और न्याय के क्रियान्वयन के लिए नियुक्त व्यक्तियों व संस्थाओं द्वारा सम्पन्न क्रियाकलाप को न्यायिक प्रशासन के अंतर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। *मनुस्मृति* से ऐसा लगता है कि न्याय की यह संस्था राजकीय व राजकीयेतर—दोनों प्रकार की हो सकती थी। *मनुस्मृति* से तत्कालीन न्यायिक प्रशासन का स्पष्ट स्वरूप उभरकर सामने आता है। तात्कालिक न्यायिक प्रशासन की दो प्रमुख विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं—प्रथमतः सत्य का ज्ञान प्राप्त करना एवं द्वितीयतः अपराधों के निराकरण-संबंधीवादों में नियमों का पालन करवाना। इसलिए इस काल में दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक सुव्यवस्थित न्यायिक प्रशासन की स्थापना पर बल दिए जाने का अनुमान होता है। तत्कालीन न्यायिक प्रशासन में राजा न्याय का सर्वोच्च पदाधिकारी था किन्तु उसके अलावा अन्य न्यायाधिकारियों का भी उल्लेख मिलता है। इन अधिकारियों में धर्म प्रवक्ता (मुख्य न्यायाधीश), सभ्य आदि प्रमुख थे। न्यायिक कार्यों के संपादन के लिए राजा एवं अन्य न्यायप्रमुखों के नैतिक आचरण पर अत्यधिक बल देते हुए उन्हें धर्म के द्वारा शासित किया गया। न्यायाधिकारियों की नियुक्ति में बौद्धिक क्षमता के साथ ही उनकी सामाजिक, नैतिक योग्यता को भी ध्यान में रखा जाता था। यदि कोई भी न्यायाधिकारी नैतिकता, धर्म के विरुद्ध आचरण करता था तो वह दण्ड का

भागी होता था। यहाँ तक कि राजा को भी इन्हीं नियमों के द्वारा शासित किए जाने का विधान मिलता है।

## (अ) राजा

*मनुस्मृति* से न्यायिक प्रशासन का जो स्वरूप निर्मित होता दिखाई देता है, वह अपने अभीष्ट अर्थ में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रतीक है। मनु ने राजधर्म के अंतर्गत राजा को शासन की सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। मनु ने राजा की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को स्वीकृत करते हुए उसे चातुर्वर्ण्य व आश्रम-विधि के रक्षक के रूप में वर्णित किया है।<sup>1</sup> राजा के अभाव में सर्वत्र उपद्रव, अशान्ति, भय का वातावरण निर्मित हो जाता है जिससे निर्बल लोग बलवान् व्यक्तियों से पीड़ित होकर पलायन करने लगते हैं। पृथिवी पर सुशासन की स्थापना के निमित्त ईश्वर ने विभिन्न दैवीय गुणों से युक्त राजा की उत्पत्ति की।<sup>2</sup> इसलिए बालक राजा के आदेश की भी अवहेलना नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह मनुष्य के रूप में एक बड़े देवता का अंशावतार है।<sup>3</sup> *मनुस्मृति* में राजा को समस्त प्रजा की रक्षा व न्यायपूर्वक उनके भरण-पोषण व दण्डनीय लोगों को दण्ड देने के लिए निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार तत्कालीन प्रशासन में राजा न्याय व शक्ति का प्रमुख केन्द्र था। ध्यातव्य है कि राजा की उत्पत्ति के जिस सिद्धान्त को ग्रन्थ में अभिहित किया गया है, वह राजा के दैवीय गुणों का सूचक है, उसे निरंकुश या दैवीय अवतार के रूप में गवेषित करना न्यायमूलक या भारतीय चिन्तन के अनुरूप नहीं होगा। दैवीय गुणों से तात्पर्य सात्त्विक विशिष्ट चारित्रिक गुणों की उस मनोवृत्ति से है जिसका अनुपालन देवताओं द्वारा किया जाता है। इसलिए मनु ने उसे दैवीय गुणों का अनुसरणकर्ता बताया है न कि प्रतिनिधि। यहाँ इस तथ्य को भी ध्यान में रखना विषयानुपयोगी होगा कि यदि राजा निरंकुश दैवीय शासन का प्रतीक होता तो वह विधि के अनुशासन से आबद्ध नहीं होता। इसलिए मनु ने सर्वोच्च शक्ति के प्रतीक राजा को भी आचरणरूपी विधिक संहिता में आबद्ध किया है। तत्कालीन जीवन में न्यायाधिकारी व शासक के रूप में राजा विनयी व नम्रवत् आचरण का पर्याय था और प्रतीत होता है कि वह वरिष्ठजनों (सम्भवतः परिषद् या समिति) से विधिक

1. *मनुस्मृति*, 7.3-4

1. *मनुस्मृति*, 7.3

2. *वही*, 7.4

3. *वही*, 7.8

संव्यवहार के लिए विचार-विमर्श करता था। ग्रन्थ में उल्लेख आया है कि विनीत राजा कभी पतनोन्मुख नहीं होता और अपने विनयी स्वभाव (जनकल्याणकारी कार्यों) के चलते ही वह लोकप्रियता को प्राप्त होता है।<sup>1</sup> मनु ने प्राचीन प्रसंगों के द्वारा उक्त कथन की प्रासंगिकता को सिद्ध करने का प्रयास किया है।<sup>2</sup> जनकल्याण व विधि के उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त मनु ने राजा की योग्यता-अयोग्यता पर विशेष बल दिया है।<sup>3</sup> तत्कालीन राजनीतिक जीवन में सत्यवादी, विचारवान्, पुरुषार्थ के ज्ञाता राजा को ही राजपद व न्याय के योग्य माना जाता था।<sup>4</sup> उसके लिए वेदत्रयी के ज्ञाता ब्राह्मणों से सनातन नीति, तर्कशास्त्र और ब्रह्मविद्या पर विचार-विमर्श करना अपरिहार्य था। साथ ही अन्य आचारों के लिए परम्पराओं का अनुसरण करना भी अनुदिष्ट था।<sup>5</sup> इस प्रकार के धर्मानुकूल आचरण के पालन से धर्म, अर्थ और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत दुराचारी और अनुचित दण्ड के आरोपण से वही दण्ड उसके पतन का कारण बनता है।<sup>6</sup> मनु ने राजा को दो प्रकार के व्यसनों— प्रथमतः काम से प्रादुर्भूत होनेवाले दस व्यसन और द्वितीयतः क्रोध से उत्पन्न अष्टव्यसनों से दूर रहने के लिए निर्देशित किया है।<sup>7</sup> मनु का मत है कि पूर्व में भी मनीषियों ने इन अवगुणों को निषिद्ध मानते हुए इनके परित्याग का परामर्श दिया है।<sup>8</sup> *मनुस्मृति* में इन अवगुणों का पृथक्-पृथक् रूप में उल्लेख हुआ है। मनु ने कामजनित दोषों के अंतर्गत मृगया, द्यूत, दिन में सोना, पराया दोष कहना, स्त्रियों में आसक्ति, शिकार, मद्यपान, नृत्य-गान, व्यर्थ घूमना को परिगणित किया है।<sup>9</sup> इसके अन्यत्र चुगली, दुःसहास, द्रोह, ईर्ष्या, असूया (गुण-दोषों का आरोपण), दूसरे की वस्तु हरना, कठोर वचन कहना और दण्ड का अनुचित प्रयोग क्रोधजनित दोष है; और इनमें विशेषकर तीन दोष अनुचित दण्ड देना, कठोर वचन, दूसरे की वस्तु पर अधिकार

1. *मनुस्मृति*, 7.38-39

2. *वही*, 7.41

3. *वही*, 7.42

4. *वही*, 7.26

5. *वही*, 7.43

6. *वही*, 7.27

7. *वही*, 7.45

8. *वही*, 7.49

9. *वही*, 7.47

विशेष रूप से अनर्थ व कष्ट देनेवाले हैं।<sup>1</sup> उपर्युक्त राजपद से संबंधित गुण-दोषों को राजा के विधियानुकूल आचरण के रूप में लेना श्रेयस्कर होगा। प्रतीत होता है तत्कालीन समाज में इस प्रकार के गुण-दोषों का निर्धारण प्रजा-रक्षण व संरक्षण के लिए किया गया था क्योंकि मोह-स्वार्थ से वशीभूत होकर जो राजा प्रजा को कष्ट देता है, वह यथाशीघ्र कुलसहित नष्ट हो जाता है।<sup>2</sup> इसके अलावा अनुचित, निरंकुश शासन सदैव ही राज्यों की अवनति व दुर्दशा व पतन का कारण बनता है।<sup>3</sup> उक्त उद्धरणों को मौर्य-साम्राज्य के पतन के रूप में देखना समीचीन जान पड़ता है क्योंकि अशोक के पश्चातवर्ती सभी मौर्य-शासकों की चारित्रिक दुर्बलता व जनविरोधी नीतियों ने इस महान् साम्राज्य के पतन का मार्ग प्रशस्त किया था। यह एक सार्वभौम सत्य है कि मानवीय व्यवहार के विरुद्ध किया गया आचरण सदैव ही दुर्गति का कारण रहा है। इसलिए मनु के विचारों का यह सातत्य है कि जो नीतिवान् शासक अभाव व कष्टों के पश्चात् भी लोकहित के कार्य के लिए तत्पर रहता है, वही लोकप्रियता को प्राप्त होता है।<sup>4</sup> इसलिए मनु ने यह विधानित किया है कि जनकल्याण के लिए राजा सदैव ही नियम-विधानों का पालन करे क्योंकि लोककल्याण में ही राज्य की सुख-समृद्धि निहित होती है।<sup>5</sup>

इस प्रकार *मनुस्मृति* में वर्णित उद्धरणों के आलोक में कहा जा सकता है कि तत्कालीन जीवन में राजकीय विधि का प्रादुर्भाव हो चुका था और राजकीय विधि स्थापित विधि के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुकी थी। इस कालविशेष में राजकीय विधि न्यायिक प्रक्रिया का आवश्यक अंग थी लेकिन उसके भी स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया था। यहाँ राजकीय विधि को धर्म के घटक तत्त्व के रूप में लेना ही श्रेयस्कर होगा। निश्चय ही राजकीय विधि का क्रियान्वयन वेदों व धर्मशास्त्रों में वर्णित नियम-विधानों के अनुसार एक सशक्त न्यायिक प्रशासन के माध्यम से किया जाता था।<sup>6</sup> यद्यपि ग्रन्थ में राजाज्ञा या राजा द्वारा प्रतिपादित नियमों को अनुलुघनीयता प्रदत्त की गई है; किन्तु वह धर्म व

1. *मनुस्मृति*, 7.51

2. *वही*, 7.111

3. *वही*, 7.112

4. *वही*, 7.33

5. *वही*, 7.113

6. *वही*, 7.16



लोकविरोधी नहीं होती थी।<sup>1</sup> मेधातिथि की व्याख्या को उक्त कथन के प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है कि ‘शास्त्रसम्मत नियमों (धर्म) का विरोध नहीं करना चाहिये अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म के विरोध में नहीं जाना चाहिये, यथा—अग्निहोत्रादि का विरोध नहीं करना चाहिये’।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र मेधातिथि ने राजाज्ञाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं— ‘आज राजधानी में उत्सव मनाना चाहिये, राजकीय विवाह में सभी को जाना चाहिये, कर्जदारों को पीड़ित नहीं करना, निषिद्ध आचरण का संसर्ग नहीं करना, अवाञ्छित लोगों को घर में नहीं आने देना’। प्रतीत होता है इस प्रकार के राजनियम विशिष्ट अवसरों या प्रतिदिन के आचरणों से संबंधित थे। वर्तमान में शासन द्वारा जनहित में निकाली जानेवाली आदेशिकाओं, यथा— सार्वजनिक स्थान पर धूम्रपान न करना, इन स्थानों को नुकसान न पहुँचाना, मद्यपान न करना, संदिग्ध वस्तुओं को न छूना, अपराधियों को सहयोग न करना अन्यादि पर मनु द्वारा प्रतिपादित विधि या भारतीय चिन्तन का प्रभाव व्यक्त होता है।

मनुस्मृति में न्यायिक प्रशासन के अंतर्गत राजा के द्वारा संपादित न्यायिक कार्यप्रणाली को भी विवेचित किया गया है जिसके अनुरूप आचरण की राजा से अपेक्षा की जाती थी। ऐसा परामर्श मिलता है कि राजा को प्रातःकाल उठकर वेदत्रयी के ज्ञाता ब्राह्मणों से निर्देश लेकर एवं वेदविद्या के पण्डितों से वेद का ज्ञान, सनातन, दण्डनीति, तर्कशास्त्र तथा वेदांत की शिक्षा ग्रहण करके लोक-व्यवहार, संस्कार का पालन करते हुए राज्य-कार्य का सञ्चालन करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेवाला राजा कभी पतनोन्मुख नहीं हो सकता।<sup>3</sup> वेद एवं शास्त्रानुकूल आचरण करनेवाले राजा को कार्य-व्यवहार देखने के लिए ब्राह्मणों और व्यवहारकुशल मंत्रियों के साथ सभा में प्रवेश करना चाहिए तथा खड़े होकर दायें हाथ को उठाकर पृथक्-पृथक् विभागों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए एवं उत्पन्न विवादित प्रकरणों को सुनकर सनातन धर्म न्याय के अनुसार निर्णय देना चाहिए।<sup>4</sup> वस्तुतः राजा का पद इस काल में धर्म का प्रतीक था इसलिए राजा

के न्याय-स्थान को ‘धर्मासन’ की उपमा दी गयी।<sup>1</sup>

निष्कर्षतः यहाँ यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि यद्यपि राजा न्याय-प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी था व राजकीय विधि का प्रणेतृ था तथापि वह विधि का क्रियान्वयन वेद व धर्मशास्त्रों में वर्णित नियम-विधानों के अनुरूप एक सशक्त न्यायिक प्रशासन व प्रक्रिया के माध्यम से करता था। इस प्रकार के सन्दर्भों से स्पष्ट है कि राजा न्याय-प्रशासन का प्रमुख होता था किन्तु वह भी धर्मसम्मत न्याय करने के लिए बाध्य था अन्यथा वह स्वयं भी लोकापवाद व दण्ड का भागी हो सकता था।

## (ब) प्रधान न्यायाधीश (धर्मप्रवक्ता) : योग्यता, नियुक्ति, पदच्युति

मनुस्मृतिकालीन न्यायिक प्रशासन में राजा के अतिरिक्त अन्य न्यायाधिकारियों द्वारा न्यायिक कार्यों के संपादन के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति में उल्लेख आया है कि कारणवश स्वयं की अनुपस्थिति में राजा किसी विद्वान् ब्राह्मण को न्यायिक कार्यों को करने का अधिकार दे।<sup>2</sup> राजा द्वारा नियुक्त न्यायिक अधिकारी या प्रधान न्यायाधीश ‘धर्म प्रवक्ता’ कहलाता था।<sup>3</sup> तत्कालीन न्यायिक प्रशासन में धर्मप्रवक्ता के अन्यत्र उसकी सहायता के लिए तीन अन्य न्यायाधिकारी (वेदवेत्ता ब्राह्मण) भी होते थे जिन्हें ‘सभ्य’ कहा जाता था।<sup>4</sup> ग्रन्थ में विधिसम्मत न्यायसभा को ‘ब्रह्मसभा’ की उपमा दी गई है।<sup>5</sup> इन न्यायिक अधिकारियों के अतिरिक्त रक्षापुरुष, अधिपति, कुलाधिपति का भी उल्लेख न्यायिक कर्मचारी के रूप में हुआ है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। इन न्यायिक अधिकारियों की योग्यता एवं नियुक्ति के संबंध में स्पष्टतः कुछ नहीं कहा जा सकता। मनुस्मृति के उद्धरणों से सिर्फ यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधिकारी किसी भी स्थिति में शूद्र वर्ण का नहीं होता था। इसके लिए उसकी सामाजिक स्थिति इसके लिए उत्तरदायी थी।<sup>6</sup> शूद्र को छोड़कर अन्य दो वर्णों के

1. मनुस्मृति, 7.13
2. वही, 7.13 पर मेधातिथि की व्याख्या
3. मनुस्मृति, 7.37-38
4. वही, 8. 1; 2; 3; 8

1. मनुस्मृति, 8.23
2. वही, 8.9
3. वही, 8.20
4. वही, 8.10
5. वही, 8.11
6. वही, 8.21

लोग न्यायिक कार्य को कर सकते थे अथवा नहीं, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। धर्मप्रवक्ता व सभ्यों में मिथ्याभाषी का गुण न होना भी एक निर्धारित योग्यता की ओर संकेत करता है। सभ्य को सत्य वचन और न्यायसम्मत कार्यों के संपादन के निमित्त सभा में जाने का उल्लेख मिलता है अन्यथा उसे सभा में जाने से बचने का निर्देश दिया गया है।<sup>1</sup> प्रतीत होता है कि विधि का ज्ञाता होने के कारण ब्राह्मण को न्यायाधिकारी के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया था।

### 6.3 न्यायिक संगठन

प्रारम्भ से ही न्यायालयों को न्यायिक प्रशासन के प्रमुख अंग के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि न्यायालयों के अभाव में किसी भी न्यायिक प्रशासन के उद्देश्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। न्यायालयों के संगठन एवं विकास के माध्यम से ही न्यायपालिका का स्वरूप उभरकर सामने आता है। वेदकाल से ही न्यायालयों का विकास न्यायिक एवं सामाजिक संस्थाओं के रूप में होता दिखाई देता है और ये संस्थाएँ परिवर्तित काल में न्याय के साथ नीति एवं विधि का निर्माण व क्रियान्वयन करती दिखाई देती हैं। वेदकाल में परिषद् व सभा न्यायिक कार्य के साथ-साथ सामाजिक व राजनीतिक कार्य भी करती परिलक्षित होती है। कालान्तर में राजशक्ति का विकास होने के साथ-साथ राजसभा का उदय हुआ और उस पर भी इन दोनों संस्थाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। सूत्रकाल में तो यह स्थिति और स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार की न्यायिक-प्रक्रिया का संपादन सभासदों द्वारा किए जाने का अनुमान मिलता है। इस काल में सामाजिक यथास्थिति अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म का पालन करवाना राजा का प्रमुख कर्तव्य था। अतः राजा का कर्तव्य था कि वह उन व्यक्तियों को दण्डित करे जो वर्णाश्रम-धर्म के नियमों का उल्लंघन करते हैं। ऐसे कृत्यों के लिए दिया जानेवाला दण्ड न्यायिक संगठन के द्वारा ही सम्भव था। प्रसंगवश यहाँ न्यायालयों के संगठन, प्रकार का विवेचन भी उपयोगी होगा।

#### (अ) परिषद्

यद्यपि *मनुस्मृति* से आज जैसे न्यायिक संगठन का भान नहीं होता है और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि पूर्व में भी उल्लेखित किया जा चुका है कि *मनुस्मृति* का यह काल न्यायिक-प्रशासन के शैशवावस्था का काल था जिसका पूर्ण विकास

1. *मनुस्मृति*, 8.13

कालान्तर में अन्य स्मृतियों एवं धर्मग्रन्थों में दिखाई देता है। *मनुस्मृति* में न्यायिक संगठन का स्वरूप सर्वप्रथम परिषद् के रूप में मिलता है। मनु ने 'दशावरा' और 'त्र्यवरा' परिषद् को विवेचित किया है। दस सदस्यों की परिषद् 'दशावरा' एवं तीन सदस्यों की परिषद् 'त्र्यवरा' कहलाती थी और उसके निर्णय की अवहेलना करना दण्डनीय था।<sup>1</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि इन परिषदों द्वारा निर्मित नियम-विधान ही विधि थे जिनका उल्लंघन अपराध माना गया। दस सदस्योंवाली दशावरा परिषद् में तीन-तीन वेदशास्त्री, न्यायशास्त्री, ब्रह्मचारी तथा तर्कशास्त्री, नियुक्त पण्डित, धर्मशास्त्री एक-एक होना अनुदिष्ट था।<sup>2</sup> न्यायाधीशों की नियुक्ति तो राजा के द्वारा की जाती थी किन्तु इनकी पदच्युति के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। दशावरा परिषद्, त्र्यवरा परिषद् की तुलना में बड़ी परिषद् थी। प्रतीत होता है कि दशावरा परिषद् सामान्य न्यायालय का ही एक रूप थी। त्र्यवरा परिषद् में सदस्यों या प्रतिनिधियों के रूप में सिर्फ वेदों के ज्ञाता ही सम्मिलित थे जो धर्मसंशय की स्थिति में निर्णय देते थे।<sup>3</sup> यद्यपि सदस्यों की संख्या की दृष्टि में दशावरा परिषद् बड़ी परिषद् के रूप में उभरकर सामने आती है, तथापि वह त्रिसदस्यीय त्र्यवरा परिषद् के विधानों का पालन करती थी। अतः कम सदस्योंवाली होने के बावजूद त्र्यवरा परिषद् का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व था। निश्चय ही उसे विधायिका की शक्ति प्राप्त थी। इन परिषदों को वर्तमान उच्च न्यायालय व उच्चतम न्यायालय का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है।

#### (ब) अन्य संस्थाएँ

तत्कालीन न्यायिक प्रशासन के संगठनात्मक स्वरूप में परिषद् को न्याय की सर्वोच्च संस्था के रूप में निरूपित किया गया है, किन्तु *मनुस्मृति* के अन्य उद्धरणों से परिषद् के अन्यत्र न्यायिक संस्थाओं के अस्तित्व में होने का संकेत मिलता है। यद्यपि इन संस्थाओं का स्वरूप न्यायिक कम प्रशासनिक अधिक दिखाई देता है। *मनुस्मृति* में 'रक्षापुरुष', 'अधिपति', 'कुलानी', 'नगर अधिकारी'-जैसे शब्दों का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः कहीं-न-कहीं ये प्रशासनिक अभिव्यञ्जनाएँ प्रशासन के विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ न्यायिक प्रशासन की ओर भी संकेत करती हैं। इस व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई के रूप में ग्राम का

1. *मनुस्मृति*, 12.112

2. *वही*, 12.111

3. *वही*, 12.113

उल्लेख हुआ है। मनु ने विधानित किया है कि राजा को दो, तीन, पाँच या सौ ग्राम के बीच रक्षापुरुष या उससे ऊपर के अधिकारी को नियुक्त करना चाहिये।<sup>1</sup> इसी के तदनुरूप प्रत्येक ग्राम का अधिपति, फिर क्रमशः दस, बीस और हजार ग्राम का अधिपति नियुक्त किया जाता था।<sup>2</sup> इन संस्थाओं द्वारा प्रशासनिक कार्यों के साथ-साथ न्यायिक कार्यों को भी संपादित करने का अनुमान होता है। मनु का कथन है कि ग्राम में चोरी या किसी भी अप्रिय घटना या अपराध होने पर गाँव का मुखिया दस ग्राम के अधिपति से और दस ग्राम का अधिपति बीस ग्रामों के अधिपति से एवं इसी क्रम में बीस ग्राम का अधिपति सौ ग्राम के अधिपति को सूचित करे।<sup>3</sup> ऐसा लगता है कि ये संस्थाएँ एक-दूसरे के प्रति दायित्ववान् होती थीं।

इसके अलावा *मनुस्मृति* में अन्यत्र कुल न्यायालयों का भी वर्णन हुआ है। एक उद्धरण में ‘कुलानि’ शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका आशय दस ग्रामों के स्वामी से लिया जाता है जिसे मुखिया के रूप में मान्यता प्राप्त थी।<sup>4</sup> ‘कुलानि’ शब्द को कुल न्यायालयों के रूप में लेना भी समीचीन जान पड़ता। कदाचित इस प्रकार के न्यायालयों से आधुनिक ग्राम पञ्चायतों का विकास हुआ होगा जिनका ग्रामीण विवादों के निराकरण की भूमिका का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मनु ने ‘ग्राम’ शब्द के अतिरिक्त ‘गाँव’ शब्द का भी उल्लेख किया है, किन्तु इसके वास्तविक स्वरूप के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः ‘गाँव’ शब्द वर्तमान के ‘मोहल्ला’ शब्द का आदि रूप है। *मनुस्मृति* में वर्णित है कि बीस गाँवों का स्वामी पाँच कुल को, सौ गाँवों का स्वामी एक ग्राम का और हजार ग्राम का स्वामी एक नगर का शासक होता था।<sup>5</sup>

*मनुस्मृति* से नगरीय प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में भी पर्याप्त ज्ञान मिलता है। मनु ने राजा को प्रत्येक नगर में बुद्धिमान व तेजस्वी उच्चाधिकारी की नियुक्ति का परामर्श दिया है।<sup>6</sup> प्रतीत होता है कि यह नगराधिकारी प्रशासनिक व

न्यायिक क्षेत्र का सर्वोच्च अधिकारी होता था जो स्थानीय स्तर पर न्यायिक और प्रशासनिक कार्यों को सम्पन्न कराता था। *मनुस्मृति* के एक उद्धरण से ऐसी सम्भावना भी प्रखर होती दिखाई देती है कि अपने व्यापक स्वरूप में यह अधिकारी अपीलीय न्यायालय का प्रतिनिधित्व करता था। मनु का अभिमत है कि नगरीय अधिकारी को अपने अधीनस्थ ग्रामों व उनके स्वामियों की देखभाल करते हुए उन पर नियन्त्रण रखना चाहिये और वहाँ की व्यवस्थाओं और ग्रामाधिकारियों के चरित्र, कार्यों का दूत की सहायता से मूल्यांकन करते रहना चाहिये।<sup>1</sup> निश्चय ही इस प्रकार की व्यवस्था को तत्कालीन समाज में एक विकेन्द्रीकृत शासन-व्यवस्था के परिचलन में होने के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके अन्यत्र इस प्रकार की व्यवस्था से वर्तमान की भाँति ग्राम, नगर, जिला पञ्चायत या स्थानीय स्वशासन का स्वरूप उभरकर सामने आता है।

## 6.4 न्यायिक-प्रक्रिया

न्यायिक-प्रक्रिया से आशय ऐसी विधिक कार्यप्रणाली से है जिसके अंतर्गत अपराधों का समुचित विश्लेषण-विवेचन किया जाता है। आपराधिक कृत्य के लिए एक स्थापित विधि के द्वारा घटित अपराधों के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को वैधानिक प्रक्रिया के अंतर्गत दण्ड दिया जाता है। वस्तुतः इस वैधानिक प्रक्रिया का उद्देश्य विधिक व्यवस्थाओं के द्वारा समाज में व्याप्त अवैधानिक क्रियाकलापों का निवारण और लोगों को सत्कर्म की ओर प्रेरित करना था। यद्यपि *मनुस्मृति* से न्यायिक प्रक्रिया पर स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता है तथापि इससे इस कालविशेष में विकसित न्यायिक-प्रक्रिया अस्तित्व में होने का भान होता है।

### (अ) आवेदन का प्रस्तुतीकरण, यथार्थता, व्यवहार-क्रम व पक्षकार

अपराधों के परिगणन की एक निश्चित कार्यवाही होती है जिसके अंतर्गत किसी भी प्रकरण को पंजीकृत किया जाता है। *मनुस्मृतिकालीन* न्यायिक-प्रक्रिया में विधिक कार्यवाही की क्या योजना थी, यह स्पष्ट नहीं है। किन्तु कुछ उद्धरणों के माध्यम से विधिक कार्यवाही को समझने का प्रयास किया जा सकता है। इस काल में आवेदन सन्निविष्ट के स्थान पर आवेदक की मनोदशा को समझने पर अधिक

1. *मनुस्मृति*, 7.114

2. *वही*, 7.115

3. *वही*, 7.116-117

4. *वही*, 7.119

5. *वही*, 7.119

6. *वही*, 7.121

1. *मनुस्मृति*, 7.122

बल दिया जाता था, जिसका लक्ष्य कदाचित् यथार्थता की जाँच करना था। वादी के आचरण, उसके चेहरे की भाव-भंगिमा, बाह्य चिह्नों, चलने एवं बातचीत का तरीका, वर्ण, चेष्टा, नेत्रों की स्थिति आदि से उसके मनोभावों को परखना चाहिए, क्योंकि ये सभी परिस्थितियाँ व्यक्ति के अंतर्मन के मनोभावों को स्पष्ट करती हैं।<sup>1</sup> तत्कालीन न्यायिक-प्रक्रिया में न्यायाधिकारियों को अनेक वाद प्रस्तुत हो जाने की स्थिति में विवाद-विचार के समय वर्णक्रम को ध्यान में रखना होता था।<sup>2</sup>

वाद-प्रस्तुतीकरण के लिए पक्षकारों का होना भी आवश्यक है। इस काल में वादी व प्रतिवादी अथवा वाद दायर करने के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों के लिए विधान मिलता है। सम्भवतः वाद दायर करनेवाले पक्षकारों के रूप में दो ही व्यक्ति हुआ करते थे। *मनुस्मृति* से इस बात का पता चलता है कि राज्य किसी भी वाद में स्वयं को पक्षकार नहीं बनाता था। *मनुस्मृति* में राजा और उसके द्वारा नियुक्त किसी भी सेवक को वाद में पक्षकार न बनने के लिए निर्दिष्ट किया गया है।<sup>3</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायिक व्यवस्था को भ्रष्टाचार से मुक्त रखने एवं सुचारु रूप से पक्षपातरहित न्यायिक-प्रक्रिया के सञ्चालन के लिए राज्य को पक्षकार न बनने का विधान किया गया होगा।

## (ब) व्यवहारोपजीवी (वकील)

प्राचीन भारतीय न्यायिक-प्रणाली में व्यवहारोपजीवी का सर्वप्रथम अस्पष्ट संकेत *मनुस्मृति* से प्राप्त होता है। *मनुस्मृति* ने कुछ उद्धरणों के आधार पर इस काल में वकीलों के अस्तित्व में होने का आभास होता है कि साक्षी, प्रतिभू और परिवार के सदस्य अन्य लोगों के लिए कार्य करते हैं जिससे विप्र, साहूकार, वैश्य एवं राजा को लाभ पहुँचता है।<sup>4</sup> इसके अन्यत्र कहा गया है कि विद्याधन जिसे प्राप्त होता है, वह उसी का होता है एवं उसका विभाजन नहीं होता है।<sup>5</sup> इन दोनों उद्धरणों का साक्ष्य के रूप में उपयोग करते हुए विद्वानों ने इसका संबंध व्यवहारोपजीवी से जोड़ने का प्रयास किया है। काशी प्रसाद जायसवाल ने 'विप्र ब्राह्मण लाभ' का आशय यह लिया है कि ब्राह्मण को लाभ उसके विधिक ज्ञान के कारण होता है

1. *मनुस्मृति*, 8.25-26

2. *वही*, 8.24

3. *वही*, 8.43

4. *वही*, 8.169-170

5. *वही*, 9.206

किन्तु फिर भी *मनुस्मृति* से स्पष्टतः यह संकेत नहीं मिलता है कि तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया में व्यवहारोपजीवी का कार्य वृत्ति का रूप धारण कर चुका हो।<sup>1</sup> किन्तु अनुमानतः ऐसा लगता है कि ब्राह्मणों द्वारा वादों की पैरवी की जाती रही होगी। सम्भवतः इस काल में विधिक लाभ प्राप्तकर्ता ब्राह्मणों में वर्तमान के वकीलों के प्राक् रूप के बीज ढूँढ़े जा सकते हैं।

## (स) साक्ष्य एवं साक्षी

साक्षी एवं साक्ष्य का प्रस्तुतीकरण न्यायिक कार्यों के संपादन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। साक्ष्य के अभाव में न्यायिक सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता और न ही किसी अपराध के लिए विचाराधीन व्यक्ति को दोषसिद्ध या दोषमुक्त किया जा सकता है। साक्ष्य-विधि के अभाव में किसी भी विधि या उसके समानान्तर सञ्चालित होनेवाली विधिक कार्यवाइयों के विधियानुकूल होने की बात नहीं की जा सकती। भारतीय विधि के क्रमिक सोपानों के अंतर्गत जिस प्रकार विधि अपने विभिन्न आयामों— न्यायिक-प्रशासन, संगठन, प्रक्रिया, दण्ड-जैसे आधारभूत सिद्धान्तों के साथ विकास करती परिलक्षित होती है, उसमें साक्ष्य-विधि की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। *मनुस्मृति* का संकलन-काल वैदिक नियम-विधानों की पुनर्स्थापना का प्रयास था। इस प्रकार के प्रयासों के अंतर्गत विधि का प्रगतिशील स्वरूप उभरकर सामने आता है। विधिक विकास की इस प्रक्रिया में निष्पक्ष न्याय-संपादन के लिए साक्ष्य-विधि व उससे संबंधित अन्यान्य उपायों की महत्ता को *मनुस्मृति* में प्रतिपादित या गवेषित किया गया है। *मनुस्मृति* के उद्धरणों के आलोक में इस प्रकार की बात कही जा सकती है।

*मनुस्मृति* में साक्ष्य, साक्षियों के प्रकार, वर्गीकरण, योग्यता-अयोग्यता, परीक्षण-जैसे विविध पहलुओं का सांगोपांग विवेचन मिलता है। ऐसा लगता है कि तत्कालीन विशृंखलित होते समाज व उस पर पड़नेवाले बौद्ध मत के प्रभावों के फलस्वरूप मनु ने सामाजिक, आपराधिक विधि को सम्पूर्णता प्रदत्त करने के लिए विधि-संबंधी सभी पहलुओं की सूक्ष्म विवेचना की है जिससे समाज के विकृत होते स्वरूप को नियन्त्रित करते हुए उपद्रवी शक्तियों का उन्मूलन विधिक प्रक्रिया के माध्यम से किया जा सके। मनु द्वारा विवेचित साक्ष्य-विधि की

1. सिंह, श्यामनारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि*, पृ. 239

विवेचना से पूर्व 'साक्ष्य' व 'साक्षी' की शाब्दिक व्याख्या और उसके दार्शनिक तत्त्व को स्पष्ट करना विषयानुपयोगी होगा।

### (द) साक्ष्य का दार्शनिक चिन्तन

'साक्ष्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'साक्षी' शब्द से हुई है जिसका सामान्य अर्थ किसी भी घटना के प्रमाण या गवाह के रूप में लिया जा सकता है। पूर्व में उल्लेखित किया चुका है कि इस शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख *श्वेताश्वतरोपनिषद्* में अखिल विश्व के एकमात्र द्रष्टा के रूप में हुआ है जो आध्यात्मिकता या दैवीय शक्ति का परिचायक है।<sup>1</sup> पाणिनि ने 'साक्षी' शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष या साक्षात् देखने या ज्ञान करने के सन्दर्भ में लिया है जो न्यायिक अर्थ में समीचीन लगता है।<sup>2</sup> इसके अन्यत्र धर्मशास्त्रों में साक्षी या साक्ष्य शब्द तब आया है कि जब दो व्यक्ति विवाद करते हैं; और जब सन्देह या कोई विरोध उपस्थित होता है तब सत्य साक्षियों के प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुभव से ही उद्घाटित होता है।<sup>3</sup> मनु ने 'साक्ष्य' व 'साक्षी' शब्द को पारिभाषित नहीं किया है, लेकिन *मनुस्मृति* के उद्धरणों से 'साक्षी' शब्द के दार्शनिक तत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। मनु का मत है कि वही साक्ष्य उत्तम व स्वीकार्य है जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाए जो घटना से संबंधित हो या सामान्यतः जिसने प्रत्यक्ष देखा या सुना हो या फिर कारित अपराध या घटना का अनुभव लिया हो।<sup>4</sup> सामान्यतः मनु का अभिप्रायः किसी भी घटना के प्रत्यक्ष या परोक्ष ज्ञान या अनुभव के प्रस्तुतीकरण से है जो न्यायिक प्रक्रिया में अपराधी की दोषसिद्धि के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार का अभिमत तर्कसंग्रह में भी मिलता है जिसमें ज्ञान की अभिव्यञ्जना क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द के रूप में मिलती है।<sup>5</sup> प्रथमतः 'प्रत्यक्ष' ज्ञान वह होता है जो पञ्चेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है। ज्ञान की द्वितीय अवस्था 'अनुमान' है जो प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में ग्रहण की जाती है और जिसमें विश्लेषण या परीक्षण के

पश्चात् ही किसी सम्भावित निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। 'उपमान' व 'शब्द' ज्ञान की तृतीय या चतुर्थ अवस्था का प्रतीक है जो क्रमशः तुलनात्मक प्रमाण व मौखिक एवं लिखित प्रमाण से संबंधित होता है। प्रारम्भ से ही भारतीय विधिक चिन्तन या प्रक्रिया में ज्ञान की ये चारों अवस्थाएँ साक्ष्य के रूप में ग्राह्य की जाती रही हैं। विद्वानों ने वैधानिक उपयोगिता की दृष्टि से 'प्रत्यक्ष' एवं 'शब्द' को महत्ता देते हुए 'अनुमान' व 'उपमान' को वैकल्पिक रूप में ग्रहण किया है।<sup>6</sup> मनु ने भी ज्ञान की उक्त दोनों अवस्थाओं का समर्थन करते हुए उन्हें ग्राह्यता प्रदान की है। *मनुस्मृति* में साक्ष्य-विधि की जिस संकल्पना का चित्रण है, वह अपने दार्शनिक स्वरूप में सत्य के निरूपण व दण्डाधिरोपण-जैसे सिद्धान्तों को साकार करती दृष्टिगोचर होती है। *मनुस्मृति* में साक्ष्य की आध्यात्मिक-दार्शनिक अभिव्यञ्जना को अंगीकार किया गया है। मनु ने अपने साक्ष्य-दर्शन में व्यक्ति की मनोवृत्ति को पकड़ने की चेष्टा की है। यहाँ धर्म (विधि) की शाश्वत स्थापना पर बल दिया गया है। मनु का मत है कि सत्य ही धर्म है और साक्षी को न्यायालय में सभी के (चारों वर्णों) विषय में सत्य साक्ष्य का कथन करना चाहिये, ऐसा करने से वह पापवृत्ति को प्राप्त नहीं होता।<sup>7</sup> व्यक्ति की अंतरात्मा (अंतःकरण) ही उसके पुण्य और पाप की साक्षी होती है; क्योंकि उसमें ईश्वर (नैतिकता) का अंश होता है और वह व्यक्ति के सभी शुभाशुभ कर्मों का निरीक्षण करती है क्योंकि ये सभी धर्मरूपी विधि से आबद्ध हैं। इसलिए मिथ्या बोलकर अपने अंतःकरण की अवेहलना नहीं करना चाहिये।<sup>8</sup> मनु ने विश्रुंखलित होती परिस्थितियों में अपराध व मानवीय बुराइयों के उन्मूलन के लिए अध्यात्म व धर्ममार्ग के अनुसरण का परामर्श दिया है। *मनुस्मृति* में वर्णित विधि-विधानों के अनुशीलन से तत्कालीन समाज में निरंकुश होती शक्तियों (अपराध) पर नियन्त्रण का भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यहाँ साक्ष्यरूपी विधि-विधानों को अपराधों के उन्मूलन के उपायों के रूप में लेना विधियानुकूल होगा।

### साक्ष्य का वर्गीकरण

*मनुस्मृति* में वर्णित विधिक व्यवस्थाओं के अंतर्गत साक्ष्य-विधि को महत्ता के साथ प्रतिपादित किया गया है। मनु ने विविध प्रकार के साक्ष्यों का उल्लेख करते

97. 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः .....साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'

—*श्वेताश्वतरोपनिषद्*, 6.11

98. सह अक्षि अस्य, सह अक्षि, + इनि, सहस्य सादेशः' पर मेधातिथि की व्याख्या।  
(*'साक्षाद् दृतारि संज्ञायाम्'* —*अष्टाध्यायी*, 5.2.91)

99. *नारदस्मृति*, 4.147

100. *मनुस्मृति*, 8.74

101. सिंह, श्यामनारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि*, पृ. 270

1. सिंह, श्यामनारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि*, पृ. 270

2. *मनुस्मृति*, 8.83

3. *वही*, 8.84-86



हुए साक्ष्य के प्रकार, साक्षी की योग्यता-अयोग्यता, साक्षी के रूप में बालक, स्त्री की महत्ता, साक्ष्य-परीक्षण को विशेष रूप से व्याख्यायित किया है। इससे तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक विशृंखलन की स्थिति से फलीभूत होती अराजकता के परिणामस्वरूप इस कालविशेष में अपराधों के जो विविध स्वरूप उभरकर सामने आये, उनके उन्मूलन के प्रति मनु अत्यन्त सजग प्रतीत होते हैं। इसलिए *मनुस्मृति* में अपराधपरक परिस्थितियों में सत्य को उद्घाटित करने के उद्देश्य से साक्ष्य-विधि को पृथक् रूप में विवेचित करने का भाव दिखाई देता है। इस प्रकार के विधियानुकूल प्रयासों को अपराधी की दोषसिद्धि व मुक्ति के रूप में लेना उचित होगा।

*मनुस्मृति* में साक्ष्य-विधि का जो वर्णन हुआ है, उसके आधार पर तत्कालीन न्यायिक-प्रक्रिया में साक्ष्यों को स्थूलतः तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है— प्रथम मानवीय साक्ष्य, द्वितीय परिस्थितिजन्य साक्ष्य व तृतीय दैवीय साक्ष्य। मानवीय साक्ष्य के अंतर्गत साक्षी, लिखित साक्ष्य, भुक्ति, अनुश्रुत साक्ष्य के आधार पर वाद का परीक्षण करते हुए सम्भावित निष्कर्ष पर पहुँचा जाता था। इसके अन्यत्र परिस्थितिजन्य साक्ष्यों में घटनास्थल से प्राप्त वस्तुओं और दैवीय साक्ष्य के अंतर्गत शपथ, दिव्य (अग्नि, जल) के आधार पर न्यायिक निर्णय किया जाता था। यद्यपि मनु ने न्यायिक परीक्षण में दिव्य साक्ष्यों को विशेष रूप से उल्लेखित नहीं किया है।

### (क) मानवीय साक्ष्य

प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान तक न्यायिक-प्रक्रिया के अंतर्गत मानवीय साक्ष्य के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थमूलक व हिंसामूलक— दोनों ही प्रकार के विवादों में न्यायालय में मानवीय साक्ष्य को प्रस्तुत किया जाता है। इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर ही न्यायाधीश न्यायिक प्रक्रिया को पूर्ण करने हेतु अपना निर्णय देते हैं। *मनुस्मृति* से मानवीय साक्ष्य के विभिन्न उपादानों की महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। यदि न्यायालय में कोई अपराधी अपने द्वारा किए गए कृत्य को स्वीकार नहीं करता है तो न्यायाधीश को लिखित व मौखिक साक्ष्य के अनुसार निर्णय करना चाहिए।<sup>1</sup> ऐसा लगता है कि लिखित साक्ष्यों की आवश्यकता अर्थमूलक अपराधों में होती होगी। इसके विपरीत मौखिक साक्ष्य अर्थमूलक व

हिंसामूलक— दोनों तरह के अपराधों में प्रयोग में लाया जाता होगा। मौखिक साक्ष्य वर्तमान में प्रत्यक्ष साक्षी का ही एक रूप है। इसके अन्यत्र लेख (फर्जी दस्तावेज) अपने कथन से मुकरनेवाला, बयान बदलना, न्यायाधीश के प्रश्नों की अवज्ञा एवं घुमा-फिराकर बातें करना आदि ऐसे लक्षण हैं जिससे साक्षी की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त होता है।

### (ख) अनुमान तथा परिस्थितिजन्य साक्ष्य

*मनुस्मृति* में साक्ष्यों के अंतर्गत अनुमान तथा परिस्थितियों को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। अनुमान व परिस्थितिजन्य साक्ष्यों का उपयोग वर्तमान में भी ऐसे अपराधों के लिए किया जाता है, जहाँ अपराधिक क्रिया के घटित होने का कोई स्पष्ट मानवीय साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है। इस काल में भी बलात्कार, चोरी, डकैती आदि अन्य अपराधों के लिए इस तरह के साक्ष्यों का प्रयोग किए जाने का अनुमान होता है। *मनुस्मृति* से स्पष्ट निर्देश मिलता है कि न्यायाधीश को अपराध एवं अपराधी का विधि के अंतर्गत उसी प्रकार अन्वेषण करना चाहिए जिस प्रकार शिकारी भूमि पर गिरे रक्त के धब्बों का सहारा लेते हुए घायल मृग के पास पहुँच जाता है।<sup>1</sup> इससे परिलक्षित होता है कि तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य अपराधी को दण्ड देना था। इसलिए मनु ने निष्पक्ष साक्ष्य-परीक्षण का निर्देश दिया है जिससे कोई अपराधी मुक्त न हो जाए व कोई निर्दोष को दण्ड का भागी न बनना पड़े।

### (ग) अनुश्रुत साक्ष्य

अनुश्रुत साक्ष्य का आशय है किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किसी अन्य व्यक्ति से सुनकर न्यायालय में प्रस्तुत किया जानेवाला साक्ष्य। इस प्रकार के साक्ष्य को *मनुस्मृति* में विश्वसनीय साक्ष्य के रूप में महत्ता प्रदत्त की है। ऐसे साक्ष्यों में आँखों से देखनेवाले तथा कानों से सुननेवाले साक्षी बनते हैं।<sup>1</sup> मेधातिथि ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि अनुश्रुत साक्ष्य वहाँ प्राप्त होता है जब कोई व्यक्ति स्वयं कोई बात सुनता है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति स्वयं प्रत्यक्षतः बात न सुनकर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सुनी गई बात को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत

1. *मनुस्मृति*, 8.23

1. *मनुस्मृति*, 8.44

2. *वही*, 8.74

करना चाहे, तो वह साक्ष्य नहीं बन सकता।<sup>1</sup> इससे स्पष्टतः कहा जा सकता है कि अनुश्रुत साक्ष्य के रूप में वही साक्षी मान्य था जहाँ वह अपराधी के मुख से किसी अपराध को करने की स्वीकृति प्राप्त कर लेता हो व स्वयं को न्यायालय में साक्षी के रूप में प्रस्तुत कर देता हो।

### (घ) साक्षी-संख्या प्रकार

‘साक्षी’ शब्द ‘स’ एवं ‘अक्षी’ के संयोग से बना है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका अर्थ होता है जिसने आँख से देखा हो।<sup>2</sup> किन्तु विधि व न्यायिक प्रक्रिया की दृष्टि से साक्षी से आशय है जिसने किसी घटना को प्रत्यक्ष देखा हो, उसके बारे में सुना हो अथवा घटना का विस्तृत ज्ञान रखता हो। *मनुस्मृति* में भी प्रत्यक्ष साक्षी को महत्ता प्रदान करते हुए तीन साक्षियों के साक्ष्यों को विशेष रूप से उपयोगी माना है।<sup>3</sup> साक्षियों की यह संख्या निष्पक्ष न्यायिक प्रक्रिया की ओर संकेत करती दिखाई देती है। लेकिन साक्ष्यों में अंतर्विरोध या असमानता होने की स्थिति प्रकट हो तो बहुमत के आधार पर न्यायाधिकारी को साक्षियों का विश्लेषण करना अनुज्ञेय है। यदि बहुमत से भी साक्ष्य की प्रामाणिकता सिद्ध न हो तो गुणी साक्षी या सत्कर्मी ब्राह्मण के कथन को साक्ष्य के रूप में ग्राह्य करने का निर्देश मनु ने दिया है।<sup>4</sup>

### साक्षियों की योग्यता-अयोग्यता

*मनुस्मृति* से प्रतिकूल मानवीय प्रवृत्ति व आचरण से उपजी अपराधमूलक परिस्थितियों के उन्मूलन का भाव प्रदर्शित होता है। वस्तुतः न्यायिक-प्रक्रिया में सत्यान्वेषण के प्रति मनु अत्यधिक सजग दिखाई पड़ते हैं। मनु ने ग्रन्थ में विविध प्रकार के साक्ष्यों का उल्लेख करते हुए उसके प्रकार, साक्षी की संख्या, योग्यता-अयोग्यता, साक्षी के रूप में बालक, स्त्री की महत्ता, साक्ष्य-परीक्षण-जैसे उपबंधों पर विशेष बल दिया है जिससे तत्कालीन समाज में व्याप्त अराजकता को समाप्त करते हुए अपराधों का उन्मूलन किया जा सके। इसलिए मनु ने विधिक प्रक्रिया से संबंधित सभी निकायों का सांगोपांग विवेचन किया है। यह बात

साक्ष्य-विधि के विषय में भी कही जा सकती है।

*मनुस्मृति* में साक्षी की योग्यता-अयोग्यता जैसे विषयों पर सजगता से विचार किया गया है। ध्यातव्य है कि न्यायिक कार्यों के ठीक-ठीक संपादन के लिए साक्षियों की योग्यता का विश्लेषण करना न्यायिक-प्रक्रिया का अपरिहार्य अंग है, क्योंकि इससे विधि के अंतर्निहित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार का भाव *मनुस्मृति* के उद्धरणों से स्पष्ट होता है। इसके अन्यत्र साक्षी की अयोग्यता से अपराधी के दोषमुक्त होने की प्रबल सम्भावना होती है। इसलिए मनु ने विधिक व न्यायिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साक्षी की योग्यता-अयोग्यता पर विशेष बल दिया है। इस प्रसंग में मनु ने साक्षी के लिए कुछ निश्चित मापदण्डों का उल्लेख किया है कि पारिवारिक या गृहस्थ, समृद्ध, वंश-परम्पराओं से विहित एक ही स्थान में निवासित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुत्रवान्, धर्मनिष्ठ, शीलवान्, सत्यवादी, लोभहीन, दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत साक्षी की ही साक्ष्य ग्राह्य करने योग्य होती है।<sup>1</sup> यहाँ तक कि अनुकूल दशाओं में भी साक्षियों के गुण-दोषों का विश्लेषण किया जाना चाहिये। *मनुस्मृति* का यह कथन साक्षी की सामाजिक प्रतिष्ठा को भी व्यक्त करता है। सामान्यतः सामाजिक रूप से समृद्ध, व्यक्ति लोक-निन्दा के कारण अथवा अपने पारिवारिक यश को विनष्ट होने से बचाए रखने के लिए मिथ्या साक्ष्य देने में संकोच करता है। इसके अलावा वंश-परम्पराओं अर्थात् पीढ़ियों से एक स्थान पर निवासित कुल के सदस्य भी स्थानीय विधियों, परम्पराओं के चलते झूठा साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करते हैं। निश्चितया ग्रन्थ में वर्णित इस प्रकार के विधिक उपबंध व्यक्ति व कुलों की नैतिकता व सम्यक् आचरण के पर्याय हैं। इसके विपरीत मनु ने तत्कालीन न्यायिक व्यवस्था की पारदर्शिता के लिए अयोग्य साक्षियों के रूप में कुछ विशिष्ट वृत्तियों को धारण करनेवाले लोगों को भी साक्ष्य देने के लिए निषेध किया है। घुमन्तु (खानाबदोश) व्यक्ति या समुदाय, जैसे— नट, श्रोत्रिय, संन्यासी, ब्रह्मचारी भी उपयुक्त साक्षी नहीं हो सकते।<sup>2</sup> प्रतीत होता है कि इस प्रकार के विधान के पीछे उक्त लोगों की स्वाभाविक अनुपलब्धता को उत्तरदायी माना जा सकता है। ऐसे साक्षियों के कारण न्यायिक प्रक्रिया में विलम्ब होने की सम्भावना भी दृष्टिगोचर होती है।

1. *मनुस्मृति*, 8.76

2. *संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ*, पृ 1245

3. *मनुस्मृति*, 8.60

4. *वही*, 8.73

1. *मनुस्मृति*, 8.62-63

2. *वही*, 8.65

इसके अतिरिक्त *मनुस्मृति* में अयोग्य साक्षियों के रूप में कर्जदार, मित्र, सहायक शत्रु, असत्य सम्भाषण करनेवाला, व्याधिग्रस्त (चलने-फिरने में असमर्थ या अन्य व्याधियाँ) महापातक, दास, निन्दित, क्रूर व जघन्य कृत्य करनेवाले, निषिद्ध वर्ण वृत्ति के द्योतक (चाण्डाल-जैसी हीन वृत्ति), वृद्ध, बालक, एकाकी, आर्त, मदक्री, उन्मत्त, भूख-प्यास से व्याकुल, कायर, थका हुआ, व्यभिचारी, द्रोही-जैसे लोगों का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है।<sup>1</sup> मनु के इस कथन से यही धारणा प्रखर होती है कि साक्षियों की अयोग्यता का यह क्रम व्यक्ति की शारीरिक व नैतिक दुर्बलता का परिचायक है। इससे अन्यत्र *मनुस्मृति* में रक्त-संबंधियों को भी साक्षी बनाने का निर्देश दिया है। इसके विपरीत अर्थ-संबंधियों, मित्र, सहायक, शत्रु आदि को साक्षी के लिए अनुपयुक्त माना है; किन्तु हिंसामूलक वाद में इनकी महत्ता को स्वीकार किया गया है। ऐसा परिलक्षित होता है कि ये अयोग्यताएँ व्यक्ति की प्रकृति, सामाजिक परिस्थितियाँ, वाद को समझने की प्रकृति आदि को ध्यान में रखकर निर्धारित की गई होगी।

इसके अलावा ग्रन्थ के कतिपय स्थलों पर भी साक्षी की उपयुक्तता व अनुपयुक्तता के विषय में विचार हुआ है। लेकिन ग्रन्थ में उपलब्ध ये उद्धरण साक्षी-संबंधी योग्यता-अयोग्यता को स्पष्टतया निर्दिष्ट नहीं करते हैं वरन् साक्षियों की विशिष्ट प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं। *मनुस्मृति* के कुछ उद्धरणों में राजा व बालक को भी साक्षी के लिए अनुपयुक्त माना गया है।<sup>2</sup> सम्भवतः यह विधान इन दोनों साक्षियों के जीवन-स्तर को देखते हुए किया गया था। प्रतीत होता है कि राजा के लिए यह निषेधाज्ञा अर्थ-संबंधी वादों तक ही सीमित थी।<sup>3</sup> लेकिन वह हिंसामूलक वाद में साक्षी हो सकता था या नहीं— इस विषय में स्पष्टतः कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रथमतः इन उद्धरणों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि राजा स्वयं न्याय का सर्वोच्च पदाधिकारी था इसलिए वह साक्षी नहीं बन सकता था। न्यायिक निष्पक्षता व राजपद की गरिमा बनाए रखने के लिए यह उचित भी जान पड़ता है। ऐसे ही कुछ विधिक उपबन्ध वर्तमान साक्ष्य विधिक संहिता में भी देखने को मिलते हैं जिसमें देश के सर्वोच्च पदाधिकारी के रूप में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति एवं लोकसभाध्यक्ष-जैसे अन्य विशिष्टजनों की

1. *मनुस्मृति*, 8.64, 66, 67
2. *वही*, 8.65 ('न साक्षी नृपतिः')
3. *वही*, 8.43

न्यायालय में साक्षी, वादी या प्रतिवादी के रूप में व्यक्तिगत उपस्थिति को अपरिहार्य नहीं माना गया है।<sup>4</sup>

इसके अन्यत्र बालक की अपरिपक्व स्थिति के कारण उसे साक्षी के अयोग्य माना गया है। लेकिन घर, संबंधियों, वन में होनेवाले अपराधों के प्रकरण में बालक साक्षी हो सकता था। किन्तु उसके कथन के पर्याप्त अन्वेषण के लिए निर्देशित किया गया है।<sup>5</sup> यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन विधि-व्यवस्था में अन्य साक्षियों के अभाव में बालक भी साक्षी हो सकता था। बालक के साक्षी-संबंधी इस धारणा को भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 118 में भी उल्लिखित किया गया है कि बालक साक्षी के कथनों का गहन परीक्षण करना चाहिये क्योंकि बालक साक्षी से खतरनाक कोई दूसरा साक्षी नहीं हो सकता।<sup>6</sup>

*मनुस्मृति* में स्त्रियों को साक्षी के रूप में प्रस्तुत करने का विरोध किया गया है। *मनुस्मृति* से विधान मिलता है कि लोभरहित व्यक्ति की तुलना में अनेक स्त्रियाँ भी साक्षी के लिए उपयुक्त नहीं होती हैं, क्योंकि स्त्रियाँ अस्थिर चित्त तथा दुर्बलताओं से युक्त होती हैं।<sup>7</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों की भावनात्मक प्रवणता व गृहकार्य में उनकी व्यस्तताओं के कारण इस प्रकार की धारणा व्यक्त की गई होगी, परन्तु कतिपय स्थलों पर *मनुस्मृति* में स्त्रियों के वाद में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक महत्त्व दिया गया है।<sup>8</sup> यह उचित भी है क्योंकि पुरुष की अपेक्षा स्त्री की प्रकृति को स्त्री द्वारा समझा जाना अधिक स्वाभाविक है। मेधातिथि का भी मत है कि जब वादी एवं प्रतिवादी— दोनों पुरुष हों तो स्त्रियाँ साक्षी के योग्य नहीं होतीं; किन्तु जहाँ विवाद पुरुष एवं स्त्री अथवा केवल स्त्रियों के मध्य हो तो स्त्री ही योग्य साक्षी होती है। इसके अलावा एक अन्य स्थान पर मनु ने वर्णानुरूप साक्ष्यों के प्रस्तुतीकरण पर भी बल दिया है।<sup>9</sup> ऐसा परिलक्षित होता है कि वर्णों व जातियों में परम्पराओं से चले आ रहे रीति-रिवाजों व आचार-व्यवहारों के कारण तत्कालीन न्यायिक-प्रक्रिया में इस प्रकार के विधानों

1. *Civil Procedure Code of India*, धारा 133
2. *मनुस्मृति*, 8.66 ('न शिशुर्नैको नान्यो')
3. यादव, आरु , *भारतीय साक्ष्य अधिनियम*, पृ. 610
4. *मनुस्मृति*, 8.77
5. *वही*, 8.68
6. *वही*, 8.68

को मान्यता दी गई थी। लेकिन इस प्रकार के नियम व्यावहारिक रूप में कितने प्रचलन में रहे होंगे, इस विषय में कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। क्योंकि *मनुस्मृति* में यह भी उल्लेख आया है कि हिंसामूलक वाद में स्त्री, अल्पवयस्क, वृद्ध, शिष्य, नातेदार, दास या वेतनजनित सेवकों की भी साक्ष्य ग्राह्य की जानी चाहिये।<sup>1</sup>

उक्त उद्धरणों से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया में साक्षियों की योग्यता-अयोग्यता पर सूक्ष्मता से विचार-विमर्श किया गया था जिससे न्याय-व्यवस्था के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। साक्षियों की योग्यता के आधार पर तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया वस्तुनिष्ठता को प्राप्त करती परिलक्षित होती है। वर्तमान साक्ष्य-विधि की धारा 118 में यह विधानित है कि कम उम्र, जड़ता, बहरापन, शराबखोरी, बीमारी, अत्यन्त वृद्ध—इन सात दशाओं में साक्षी उस समय साक्ष्य देने के योग्य होगा जब वह प्रश्नों को समझने व उनका उत्तर देने में समर्थ हो।<sup>2</sup>

### साक्ष्य व साक्षियों का प्रस्तुतीकरण एवं परीक्षण

यद्यपि साक्षी व साक्ष्यों के प्रस्तुतीकरण के विषय में *मनुस्मृति* से स्पष्ट सन्दर्भ प्राप्त नहीं होते हैं, तथापि साक्षी के न्यायालय में उपस्थित होने के पश्चात् न्यायाधीश द्वारा साक्षी का परीक्षण किए जाने का अवश्य उल्लेख मिलता है। सामान्यतः तत्कालीन न्यायिक-व्यवस्था में साक्ष्य-प्रस्तुतीकरण का उत्तरदायित्व वादी व प्रतिवादी का होता था। मनु ने वादी व प्रतिवादी को साक्षी व साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए निर्दिष्ट किया है।<sup>3</sup> साक्ष्य-प्रस्तुतीकरण के लिए न्यायालय में वाद से संबंधित दोनों पक्षों का होना आवश्यक था।<sup>4</sup> वादी व प्रतिवादी के न्यायालय में उपस्थित होने पर न्यायाधिकारी को उनसे घटना के विषय में जानने का प्रयास करना चाहिये।<sup>5</sup> साक्षियों से न्यायालय में सत्य बोलने की अपेक्षा की जाती थी क्योंकि सत्य यहाँ धर्म का प्रतीक है और सत्य को यशप्राप्ति के साधन के रूप में वर्णित किया गया है।<sup>6</sup> इसलिए मनु ने विधानित किया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य, शूद्र—चारों वर्णों को साक्षी के रूप में सत्य का अनुपालन करना चाहिये। न्यायिक प्रक्रिया में सत्य को उद्घाटित करने के लिए न्यायाधीश को यह कहकर कि ब्राह्मण साक्ष्य दो, क्षत्रिय तुम सत्य कहो, वैश्य से कहें कि असत्य सम्भाषण से तुम्हें गाय, स्वर्ण, बीज की चोरी का दोष लगेगा तथा शूद्र महापातक के दोष से पीड़ित होगा—जैसे वचनों द्वारा चातुर्वर्ण्य को सही साक्ष्य देने के लिए प्रेरित करना चाहिये।<sup>7</sup> न्यायालय में साक्षी के द्वारा साक्ष्य प्रस्तुत करने के दौरान उससे सत्य व स्वतन्त्र साक्ष्य देने की अपेक्षा की जाती थी जिससे घटना से संबंधित सभी तथ्यों को स्पष्ट किया जा सके। वाद-विचारण में साक्षी को वस्तुस्थिति के विषय में जो उसने प्रत्यक्ष देखा-सुना हो या घटना के विषय में जो अनुभव किया हो, उसी का उल्लेख करना होता था।<sup>8</sup> यहाँ इस प्रकार के प्रयासों को स्वस्थ व निष्पक्ष न्याय-विधान की स्थापना के रूप में लिया जा सकता है।

मनु ने न्यायाधिकारी को वाद की सत्यता को परखने के लिए साक्षियों के कथन व साक्ष्य के परीक्षण का भी निर्देश दिया है। *मनुस्मृति* में आए कुछ श्लोकों से तत्कालीन विधिक-प्रक्रिया में साक्ष्य-परीक्षण के संकेत मिलते हैं। यहाँ यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि तत्कालीन विधान उस युगविशेष की विश्रुंखलित होती परिस्थितियों के अनूकूल था। न्यायिक प्रक्रिया का स्वरूप उतना ही आधुनिक व वैज्ञानिक था जैसा कि वर्तमान न्याय-व्यवस्था का परिलक्षित होता है। *मनुस्मृति* में प्रथमतः साक्षियों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के संकेत मिलते हैं। सामान्यतः उस युगविशेष में वर्तमान की तरह न्यायाधिकारी द्वारा साक्षी की भाव-भंगिमा, हाव-भाव व आचरण से उसकी मनोवृत्ति को समझने की चेष्टा की जाती थी।<sup>9</sup> यथानुरूप उसके बाहरी आवरण, स्वर, वर्ण, नेत्र तथा उसकी प्रायोजित चेष्टा से उसकी आंतरिक मनोवृत्ति ज्ञात हो जाती है।<sup>10</sup> इसके अन्यत्र यत्र-तत्र साक्ष्यों के परीक्षण के लिए दिव्य व शपथ-विधान के उदाहरण भी मिलते हैं जिनका आगे विस्तार से उल्लेख किया जायेगा।

इसके अलावा ग्रन्थ के कतिपय स्थलों में साक्षियों को परीक्षण से विमुक्ति भी प्रदान की गई है। मनु ने साहसिक कार्यों, चोरी, बलात्कार

1. *मनुस्मृति*, 8.70

2. यादव, आरु आरु, *भारतीय साक्ष्य अधिनियम*, पृ 613

3. *मनुस्मृति*, 8.57

4. *वही*, 8.79

5. *वही*, 8.80-101

6. *वही*, 8.81

1. *मनुस्मृति*, 8.88

2. *वही*, 8.76

3. *वही*, 8.26

4. *वही*, 8.25

(स्त्री-संग्रहण), वाक्पारुष्य (गाली-गलौच), दण्ड पारुष्य (मारपीट)-जैसे गम्भीर अपराधों में साक्ष्य-परीक्षण को आवश्यक नहीं माना है।<sup>1</sup> यह विमुक्ति किन दशाओं में प्रचलन में रही होगी, इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि जघन्य अपराधों में साक्ष्य-परिवर्तन होने का सन्देह होता है व सामान्यतः इस प्रकार के वादों में प्रथमदृष्टया पीड़ित पक्षकार को ही प्रथम साक्षी के रूप में प्राथमिकता दी जाती है।

## शपथ व दिव्य साक्ष्य

मनुस्मृति से प्राप्त तथ्यों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन न्यायिक व्यवस्था में शपथ-विधि व दिव्य साक्ष्य का प्रचलन था। वस्तुतः ग्रन्थ में शपथ और दिव्य साक्ष्य का उल्लेख साक्ष्य की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए हुआ है। यदि वाद-विचारण के दौरान प्रस्तुत साक्ष्य व साक्षी के कथनों के कारण भ्रम की स्थिति हो या न्यायाधिकारी को ऐसा आभास हो कि साक्षी प्रस्तुत वाद या घटना के विषय में असत्य बोल रहा है तो ऐसी स्थिति में शपथ व दिव्य साक्ष्य का उपयोग किया जाता था जिससे न्यायिक सत्य को प्राप्त किया जा सके। मनुस्मृति से ऐसा प्रतीत होता है कि साक्ष्य-परीक्षण के अन्तिम विकल्प के रूप में इन दोनों पद्धतियों का सहारा लिया जाता था। मनु ने सोदाहरण शपथ की महत्ता को व्याख्यायित किया है।<sup>2</sup> प्रतीत होता है कि इस काल में शपथ व दिव्य साक्ष्य का प्रयोग जघन्य व जटिल अपराधों में किया जाता था। क्योंकि मनु का मत है कि ज्ञानी या विद्वानों को सामान्य परिस्थितियों में शपथ ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि वृथा शपथ से व्यक्ति पतन को प्राप्त होता है।<sup>3</sup> इसके अलावा किसी वाद में साक्षी न होने की स्थिति में व्युत्पन्न संशयात्मक परिस्थितियों में, विशेषकर वादी व प्रतिवादी को शपथ दिलाना विधानित था।<sup>4</sup> आधुनिक इतिहासकारों ने इस प्रकार की व्यवस्था को रूढ़िगत सिद्ध करने का प्रयास किया है। वस्तुतः ग्रन्थ में शपथ-विधि को व्यक्ति के नैतिक आचरण से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है। इसके माध्यम से साक्षी के अंतःकरण को जाग्रत करने का प्रयास किया जाता

1. मनुस्मृति, 8.72
2. वही, 8.110
3. वही, 8.111
4. वही, 8.109

था। यहाँ शपथ व दिव्य साक्ष्य को किसी भी रूप में पाशविकता के रूप में न लेते हुए धार्मिक क्रिया के रूप में लेना विषयानुकूल जान पड़ता है। इसमें भय का भी समावेश होता है। कालान्तर में प्रायः सभी स्मृतिकारों ने समान रूप से साक्षी को शपथ दिलाने की बात कही है। कात्यायन भी मनु की इस बात का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं कि न्यायाधीश दिन के पूर्वार्द्ध भाग में पूर्वाभिमुख होकर देवताओं की प्रतिमा व ब्राह्मणों के सम्मुख साक्षी से कथन लेवे।<sup>1</sup>

मनु ने न्यायाधिकारी को इस बात के लिए विशेष रूप से निर्दिष्ट किया है कि वह साक्षी से यथासम्भव सत्य बुलवाने का प्रयास करे। इसलिए वाद-विचारण के समय उसे सत्य-असत्य अर्थात् मिथ्या सम्भाषण के गुण-दोषों से विधिवत् रूप से परिचित करना होता था।<sup>2</sup> मनु ने शपथ के लिए वर्णानुसार वृत्ति के अनुरूप को प्राथमिकता दी है। इस परीक्षण के लिए चातुर्वर्ण्य की वृत्ति के अनुरूप क्रमशः सत्य, धनुष (आयुध), कृषि एवं व्यापार से संबंधित वस्तुएँ, सम्पूर्ण पापों की शपथ दिलाना विधानित था।<sup>3</sup> ऐसा लगता है कि शपथ दिलवाने के पीछे मुख्यतः उद्देश्य घटित अपराध के विषय में सत्य का ज्ञान प्राप्त करना था। स्वभावतः जीविका के साधन में व्यक्ति की अधिक आस्था होती है, इसलिए इस प्रकार के शपथ-विधान के औचित्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि न्यायाधीश को साक्षी की झूठी गवाही का ज्ञान हो जाता है तो देश-निर्वासन या असत्य सम्भाषण की परिस्थितियों के अनुसार अर्थदण्ड विधानित था।<sup>4</sup>

यद्यपि शपथ साक्षियों से सत्य को उद्घाटित करने के लिए की जाती थी तथापि मनु ने परिस्थिति विशेष, जैसे— गाय का चारा लेने पर, हवन-सामग्री के लिए और ब्राह्मणों के रक्षार्थ, स्त्री-संग्रहण जैसे अपराधों में ली जानेवाली झूठी शपथ को अनुचित प्रभाव से मुक्त रखा है।<sup>5</sup> कालान्तर में याज्ञवल्क्य भी मनु द्वारा प्रदत्त इस प्रकार की विमुक्ति का समर्थन करते हैं।<sup>6</sup> वस्तुतः प्रथमतः शपथ का उपयोग व्यक्ति के चरित्र व उसके द्वारा किए गए कथन की प्रामाणिकता के लिए

1. मनुस्मृति, 8.87; कात्यायन धर्मकोश, पृ 336
2. मनुस्मृति, 8.90
3. वही, 8.113
4. वही, 8.120-123
5. वही, 8.112
6. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.83



किया जाता था। द्वितीयतः शपथ दिलाने का उद्देश्य साक्षी को असत्य-सम्भाषण से विमुख करना था। न केवल भारत में अपितु समकालीन विश्वस्तरीय अन्य सभ्यताओं में भी साक्षी को शपथ ग्रहण कराने का विधान था।

## दिव्य साक्ष्य

मानवीय साक्ष्य की अनुपस्थिति या साक्षी के साक्ष्य पर सन्देह होने पर अन्तिम विकल्प के रूप मनु ने दिव्य प्रमाणों के आधार पर निर्णय के लिए निर्दिष्ट किया है। तत्कालीन न्याय-व्यवस्था में व्यापक रूप से दिव्य साक्ष्य का प्रचलन दृष्टिगत नहीं होता। ऐसा परिलक्षित होता है कि तत्कालीन न्यायिक व्यवस्था में व्यवहारिकता को अधिक महत्त्व दिया जाता था। इसलिए *मनुस्मृति* में दिव्य प्रमाण को विस्तार से गवेषित नहीं किया गया है। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों से उस कालविशेष में दिव्य साक्ष्य के प्रचलन की पुष्टि होती है।<sup>1</sup> सूत्रकार भी समान रूप से दिव्य प्रमाणों के प्रचलन की बात करते हैं।<sup>2</sup> ऋषि ऋषि काणे ने दिव्य साक्ष्य को पारिभाषित करते हुए स्पष्ट किया है कि 'मानुष प्रमाणों से निश्चित न होने पर जो विवाद का निर्णय किया जाता है, वह दिव्य है'।<sup>3</sup> मनु ने दिव्य प्रमाण के रूप में अग्नि, जल का उल्लेख किया है।<sup>4</sup> *नारदस्मृति* में एक स्थान पर कहा गया है कि मनु ने पाँच प्रकारों के दिव्य साक्ष्यों का उल्लेख किया है। लेकिन *मनुस्मृति* से इस बात की पुष्टि नहीं होती। प्रतीत होता है कि *मनुस्मृति* के प्राचीन संस्करण में इसका उल्लेख हुआ हो।<sup>5</sup> मनु ने दिव्य साक्ष्य की प्रामाणिकता के लिए वैदिक उद्धरण को वर्णित किया है कि वत्स ऋषि ने अपने छोटे भाई पर यह दोष आरोपित किया कि वह ब्राह्मण न होकर शूद्र की सन्तान है। अपनी श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए वह अग्नि में प्रविष्ट हो गया, किन्तु सत्य के कारण वह जीवित रहा।<sup>6</sup> *पञ्चविंशब्राह्मण* में भी इस कथा का उल्लेख हुआ है।<sup>7</sup> यह कथानक तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया में दिव्य साक्ष्य के प्रवर्तन की और संकेत करता है।

1. ऋग्वेद, 1.158.4-5; अथर्ववेद, 2.12.8

2. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2.11; 29.6 व 2.5.11.3

3. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2 पृ 748

4. *मनुस्मृति*, 8.114

5. ठाकुर, लक्ष्मीदत्त, *प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन*, पृ 335

6. *मनुस्मृति*, 8.115. 116

7. *पञ्चविंशब्राह्मण*, 14.6.6

इसके अन्यत्र मनु ने न्याय-प्रवक्ता को निर्देश दिया है कि यदि पूर्वोक्त उपायों के पश्चात् साक्षी सत्य सम्भाषित न करे तो अग्नि-परीक्षा, जल में गोता लगवाकर व स्त्री एवं पुरुष के सिर को स्पर्श करवाकर कथन की प्रामाणिकता का परीक्षण करना चाहिये।<sup>1</sup> ऐसा लगता है कि व्यक्ति के चारित्रिक दोषों के कारण व उसके कथन पर विश्वास न होने के कारण पर-निर्भरता, तज्जन्य, आत्मविश्वास की कमी के कारण साक्ष्य के अंतर्गत दिव्य साक्ष्य को उपयोगी माना गया था। यह भी सम्भावना प्रखर होती है कि जहाँ साक्षी के कथनों से यथार्थ स्थिति का निर्णय करना सम्भव न हो वहाँ दैवीय शक्ति का आश्रय लेकर वस्तुस्थिति को ज्ञात करने का प्रयास किया जाता था। यह प्रयास इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल में न्यायाधीश वास्तविकता का पता लगाने में कोई कमी नहीं करते थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता कि सत्य की खोज कितनी उत्सुकता तथा तत्परता से की जाती थी।

इस कालविशेष में दिव्य प्रमाण का उपयोग किस प्रकार के वादों में किया जाता था, इस विषय में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। साथ ही इस विचार को भी अस्वीकृत नहीं किया सकता कि ग्रन्थ में दिव्य के प्रचलन को सिर्फ एक विकल्प के रूप में स्थान दिया गया हो। पूर्व व कालान्तर के व्यवस्थाकारों ने मनु की तुलना में दिव्य साक्ष्यों के अधिकतम उपयोग की बात कही है।<sup>2</sup> यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि *मनुस्मृति* विशृंखलित होती वैदिक संस्कृति के पुनर्स्थापना का प्रयास है और न्यायिक प्रक्रिया में दिव्य साक्ष्य का प्रचलन वेदकाल से ही दिखाई देने लगता है। इसके अन्यत्र दिव्य प्रमाण को दैवीय स्वरूप की मान्यता प्राप्त थी। इसलिए मनु ने प्रतीकात्मक रूप में इसे स्वीकार किया हो। यह कहना ही न्यायमूलक होगा कि तत्कालीन विधिक प्रक्रिया में वैज्ञानिकता व तर्क को ही महत्त्व दिया जाता था।

## कूट या मिथ्या साक्ष्य

प्राचीन काल से ही निष्पक्ष न्याय का क्रियान्वयन न्याय-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य रहा है। इसलिए व्यवस्थाकारों ने उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त न्याय पदाधिकारियों को साक्ष्य-विश्लेषण का निर्देश दिया है जिससे साक्षियों की सत्यता

1. *मनुस्मृति*, 8.114

2. छांदोग्योपनिषद्, 6.16.1; आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2.11.29.6; महाभारत, आदिपर्व, 74.30

व असत्यता के विषय में पता चल सके। प्रतीत होता है कि प्रत्येक युग में वर्तमान की तरह वादी-प्रतिवादियों द्वारा दोषमुक्त या दोषसिद्ध करने के लिए मिथ्या या कूट साक्ष्य का सहारा लिया जाता था। साक्षियों द्वारा सत्य के अतिरिक्त वक्तव्य देने को 'कूट साक्ष्य' कहा जाता है।<sup>1</sup> आधुनिक युग की भाँति प्राचीन काल में कभी-कभी संबंधित पक्ष वाद का निर्णय अपने पक्ष में कराने हेतु किसी व्यक्ति से मिथ्या साक्ष्य दिला देते थे। ऐसे साक्षी को 'कूट साक्षी' कहते हैं।<sup>2</sup> कूट साक्षियों की धर्मशास्त्रकारों ने तीखी भर्त्सना करते हुए इस प्रकार के कृत्य को घृणास्पद माना है व उसके लिए दण्ड का विधान किया है। आपस्तम्ब व गौतम ने कूट साक्षी की निन्दा की है व उसे लौकिक और पारलौकिक हानि का कारण माना है।<sup>3</sup> प्रत्येक युग में झूठे साक्षी की समस्या रही है। कौटिल्य ने भी राजा को यह निर्देश दिया है वह कृत्रिम व संदिग्ध साक्षियों को धन का लोभ देकर अपनी ओर से झूठा साक्ष्य देने के लिए बुलाए तथा पकड़े जाने पर उसे देश-निर्वासन का दण्ड दे।<sup>4</sup> शुंगकाल या *मनुस्मृति* के संकलन-काल में छद्म साक्षियों से संबंधित समस्या के भयावह होने के संकेत मिलते हैं। *मनुस्मृति* के उद्धरणों को इसके अकाट्य प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। इसलिए मनु ने कूट या मिथ्या साक्षियों के विषय में विस्तार से चर्चा की है।

तत्कालीन जीवन में कूट (मिथ्या) साक्ष्य को अपराध माना जाता था। ग्रन्थ में इस प्रकार के कृत्य करनेवालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। मनु ने मिथ्या साक्ष्य को ब्रह्म, स्त्री, बालक की हत्या व मित्र द्रोही के समतुल्य माना है।<sup>5</sup> इसके अन्यत्र मनु ने यह निर्देशित किया है कि लोभ, भ्रामक विचार, भय, मित्रता, काम-पिपासा, क्रोध, अज्ञान एवं अल्पवयस्कता से प्रेरित होकर दिया जानेवाला कूट साक्ष्य ग्राह्य करने योग्य नहीं होता।<sup>6</sup> तत्कालीन विधान में वाद-विचारण के समय कूट साक्ष्य का पता चलने पर पुनर्विचार किए की परम्परा मिलती है।<sup>7</sup> कालान्तर में याज्ञवल्क्य ने भी इस प्रकार के विचार को अपने ग्रन्थ में स्थान

दिया है।<sup>8</sup> इसके अलावा ग्रन्थ में साक्षी की अनुपस्थिति को भी कूट साक्षी के अंतर्गत रखा गया है।<sup>9</sup> *मनुस्मृति* में मिथ्या साक्ष्य व साक्षी की प्रकृति और उसके परिणामों का उल्लेख किया गया है। जो साक्षी न्यायालय में उस घटना के विषय में, जिसका उसे ज्ञान नहीं है और साक्ष्य देता है, वह अंधा होकर भिखारियों की तरह जीवन-यापन करता है।<sup>10</sup> मनु ने यहाँ तक कहा है कि जब साक्ष्य देने के सात दिनों के भीतर किसी साक्षी को रोग हो जाए या कोई अप्रिय घटना हो तो समझना चाहिए कि प्रस्तुत किया गया साक्ष्य मिथ्या था।<sup>11</sup> इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति मनुष्य यहाँ तक कि पशुओं के विषय में झूठी गवाही देता है, वह अपने बन्धु-बान्धव सहित नरकगामी होता है।<sup>12</sup> कूट साक्षी को भूमि, जल ग्रहण, व्यभिचारी, रत्नों व पाषाणों से संबंधित वादों में झूठी गवाही देने पर प्राणी-हिंसा का पाप लगता है।<sup>13</sup> वस्तुतः तत्कालीन जीवन में धर्म की प्रधानता होने के कारण प्रत्येक विचारणा को धर्म से सम्बद्ध किया गया था। यही भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसलिए व्यक्ति के द्वारा किए गए सभी कार्यों का संबंध लौकिक-पारलौकिक फलों से सम्बद्ध किया गया प्रतीत होता है।

उक्त उद्धरणों से मिथ्या साक्ष्य देनेवाले व्यक्तियों के प्रति अपराध का भाव प्रदर्शित होता है। यद्यपि मनु ने उसका उल्लेख अपराध-सूची में नहीं किया है, तथापि इस प्रकार के कृत्यों के लिए दिए जानेवाले दण्ड की प्रकृति को देखते हुए इसके अपराधपरक होने की सम्भावना को बल मिलता है। मनु ने कुछ विशेष परिस्थितियों में दिए जानेवाले मिथ्या साक्ष्य को अनुचित नहीं माना है। यदि किसी अपराध में चातुर्वर्ण्य-रक्षार्थ किए गए असत्य कथन को सत्य से अधिक श्रेयस्कर माना गया है।<sup>14</sup> याज्ञवल्क्य ने भी इस अभिमत का समर्थन किया है।<sup>15</sup> लेकिन ग्रन्थ में कहीं-कहीं इस विषय को लेकर विरोधभास की स्थिति निर्मित

1. दुबे, राजदेव, *स्मृतिकालीन भारतीय समाज व संस्कृति*, पृ. 326
2. सिंह, श्यामनारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि*, पृ. 300
3. *आपस्तम्बधर्मसूत्र*, 2.11.29.8-9; *गौतमधर्मसूत्र*, 13.7.23
4. *अर्थशास्त्र*, 4.4
5. *मनुस्मृति*, 8.89
6. *वही*, 8.118
7. *वही*, 8.117-118

1. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.80-81
2. *मनुस्मृति*, 8.107; *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.78
3. *मनुस्मृति*, 8.93-95
4. *वही*, 8.108
5. *वही*, 8.98
6. *वही*, 8.99-100
7. *मनुस्मृति*, 8.104
8. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.83

होती दिखाई देती है। एक अन्य स्थल पर मनु इस प्रकार के कृत्य को भी पाप मानते हुए उसके लिए प्रायश्चित का विधान किया है।<sup>1</sup> व्यक्ति को इस पाप के प्रायश्चित के रूप में सरस्वती की आराधना करनी चाहिए; क्योंकि वही वाणी की देवी है या फिर यजुर्वेदी कूष्माण्ड वरुणदेव, जलदेव के लिए विधिपूर्वक घी की आहुतियाँ देनी चाहिए जिससे दोषमुक्ति हो सके।<sup>2</sup> महाभारत से भी कूट साक्ष्य से संबंधित विमुक्ति के विषय में प्रकाश पड़ता है। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि पाँच स्थितियों— 1. स्त्री के साथ काम-क्रिया के समय, 2. विवाह के समय, 3. हँसी-मज़ाक, 4. अधिक धन-नाश व 5. प्राण-रक्षा के लिए दिए गए मिथ्या कथनों में कूट साक्ष्य दोष नहीं लगता।<sup>3</sup> मनुस्मृति में इस विधान को मान्यता प्रदान की गई है।<sup>4</sup>

### मिथ्या साक्ष्य के लिए दण्ड

कूट साक्ष्य देनेवाले साक्षियों के लिए कठोर दण्ड विधानित था। यदि कोई साक्षी लोभ, मोह, भय, मित्रता के वशीभूत होकर कूट साक्ष्य देता है, तो उसे क्रमशः एक हजार पण, प्रथम, मध्यम साहस व चार गुना उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था।<sup>5</sup> इसके अलावा मनु ने काम, क्रोध व असावधानी की अवस्था में दी गई साक्षी को भी कूट साक्ष्य के रूप में परिगणित करते हुए क्रमशः दस गुना प्रथम साहस, तिगुना मध्यम साहस व सौ और दो सौ पणों के दण्ड का विधान किया है।<sup>6</sup> कूट साक्ष्य के लिए दिए जानेवाले दण्ड पर वर्णक्रम का प्रभाव व्यक्त होता है। यदि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र झूठी गवाही देते हैं तो इन वर्णों को निर्धारित दण्ड के अलावा देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाता था; लेकिन इस प्रकार के समान अपराध में ब्राह्मण के लिए सिर्फ निर्वासन का दण्ड ही प्रायोजित था।<sup>7</sup> वस्तुतः इस प्रकार के दाण्डिक विधान को भेदपरक व्यवस्था के रूप में ग्राह्य करना समीचीन नहीं जान पड़ता; क्योंकि ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा के आधार पर यह दण्ड उनके लिए मृत्युदण्ड

के समान था। दण्डों की कठोरता को देखकर लगता है कि इस प्रकार के दण्ड जघन्य अपराधों में मिथ्या साक्ष्य देने पर दिए जाते होंगे। साधारणतः हल्के स्तर के अपराधों में सिर्फ अर्थ-दण्ड ही दिए जाने का अनुमान होता होता है।

### निर्णय अवधि व शुल्क

अपराध-विधि व न्यायिक-प्रक्रिया का अन्तिम चरण वाद का निर्णय है। न्यायिक-प्रक्रिया का यह अन्तिम पाद है जिसमें राजा अनेकानेक प्रमाणों का अध्ययन करने के पश्चात् अपने सभासदों की सहायता से निर्णय देता है।<sup>174</sup> मनु ने राजा को निर्देश दिया है कि वह आचरण, देश, कुल की मान्यताओं के अनुरूप यथाशीघ्र निर्णय दे।<sup>175</sup> विवादों के निर्णय के समय पर विचार किया जाए तो मनुस्मृति के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि विवादों के त्वरित निर्णय पर बल दिया जाता था। निर्णय की यह अवधि 45 दिनों की मिलती है। इसके अनन्तर इस अवधि में वादी के उपस्थित न होने पर वाद के स्वयं ही समाप्त हो जाने का विधान मिलता है।<sup>176</sup> न्याय की इस अवधि को एक मानक अवधि के रूप में लिया जा सकता है जिसके पीछे इस भाव का अनुमान होता है कि अधिकावधि के कारण साक्ष्य आदि को दुष्प्रभावित न किया जा सके व पीड़ित पक्षकार को यथाशीघ्र न्याय मिल सके। यह मानक अवधि वर्तमान न्यायिक प्रणाली के दोषों को स्पष्ट करती है।

मनुस्मृति में शुल्क (जुर्माने) का भी उल्लेख भी हुआ है। विद्वानों ने इसे न्यायालयीन शुल्क के रूप में देखने की चेष्टा की है। आर्थिक वादों में पराजित पक्ष को वीजित पक्ष को ऋण और शक्ति के अनुसार राजा को शुल्क (जुर्माना) देना होता था।<sup>177</sup> इसके अलावा प्रतिवादी को न्यायालय में पाँच या अधिकतम दस प्रतिशत दण्ड देना होता था। पृ वृ काणे ने इसी शुल्क को 'न्यायालय शुल्क' कहा है।<sup>178</sup> मनु का यह मतव्य है कि ब्राह्मणों के अन्यत्र तीनों वर्ण यदि उक्त राशि का भुगतान करने में असक्षम हों तो राजा को कोई कार्य करवाकर उक्त

1. मनुस्मृति, 8.122
2. वही, 8.105.106
3. महाभारत, शान्तिपर्व, 30.165
4. मनुस्मृति, 8.112
5. वही, 8.120
6. वही, 8.121
7. वही, 8.123

1. दुबे, राजदेव, स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृ 330
2. मनुस्मृति, 8.46
3. वही, 8.58
4. वही, 8.51
5. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ 759

राशि वसूल करनी चाहिये।<sup>1</sup> कालान्तर में इस प्रकार के विधान को अन्य स्मृतियों में भी मान्यता प्रदान की गई है।<sup>2</sup>

## पुनर्विचार

*मनुस्मृति* से तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया में वादों के पुनर्विचार की भी व्यवस्था थी; परन्तु यह विधान किन परिस्थितियों पर लागू होता था, यह स्पष्ट नहीं है। यदि न्यायाधीश को इस बात का आभास हो जाए कि किसी भी प्रकरण के लिए प्रस्तुत वाद में मिथ्या साक्ष्यों का सहारा लिया गया है तो वाद पर पुनर्विचार किया जाता था।<sup>3</sup> उपर्युक्त कथन से यह आभासित होता है कि यह व्यवस्था उन प्रकरणों के लिए थी जिनके निर्णय में किसी प्रकार की त्रुटि हुई हो या फिर ऐसे वादों में, जिसमें निर्दोष व्यक्ति को दण्डित किया गया हो। इसके अतिरिक्त सम्भवतः जनहित-संबंधी वादों पर भी पुनर्विचार की सम्भावना की जा सकती है। इसके विपरीत *मनुस्मृति* में निर्दिष्ट किया गया है कि जिन विवादों का अन्तिम निर्णय हो चुका हो और अपराधी दण्ड भोग रहा हो या भुगत चुका हो तो ऐसे विवादों पर पुनर्विचार नहीं किया जाना चाहिए। साथ ही यदि कोई न्यायाधिकारी अमात्य, वादी या प्रतिवादी ऐसे विवादों पर पुनर्विचार की मांग करे तो उन पर दण्ड का आरोपण किया जाना चाहिए।<sup>4</sup> निश्चय ही यह विधान विधि व न्यायिक प्रक्रिया की निष्पक्षता का परिचायक है।

## 6.5 दण्ड-विधान व उसका क्रियान्वयन

पिछले अध्याय में अपराध व दण्ड की प्रकृति व उसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा चुका है। प्राचीन भारत में युगानुरूप होते सामाजिक परिवर्तनों से अपराधों का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है, उसके प्रभाव से समाज को सुरक्षित व सुव्यवस्था को बनाए रखने के लिए दण्ड-नीति का प्रादुर्भाव हुआ। वेदकाल से लेकर *मनुस्मृति* के संकलन-काल की समसामयिक परिस्थितियों पर विचार करें तो हमारे समक्ष एक ऐसे समाज का चित्र प्रस्तुत होता है जिसमें व्यक्ति नैतिक विश्रुलंखन की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है। वस्तुतः यह मानवीय जीवन के विकास की

एक प्रक्रिया है, उसमें नैतिकता और अनैतिकता तदनुरूप आदर्शों के उल्लंघन की बात समान रूप में की जा सकती है। पूर्व-वैदिक युग में व्यक्ति सतत् रूप से ऋतुरूपी विधि का अनुपालन करता दिखाई देता है। इसीलिए ऋतु का युगविशेष पर प्रभाव होने के कारण व्यक्ति के सभी कार्यों को समान रूप से ऋतु के साथ सम्बद्ध किया गया। प्रकृतिजन्य नियम-विधान व्यक्ति के आचरण को संयमित करते थे, इसलिए तत्कालीन समाज में किसी प्रकार की दण्ड-संहिता की आवश्यकता पर बल नहीं दिया गया। यद्यपि ऋग्वेद से दण्ड-शक्ति के क्रियान्वयन के संकेत प्राप्त होते हैं तथापि दण्ड-विधि का वर्गीकरण इस कालविशेष में नहीं हो सका था। फिर भी दण्ड-विधि वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, अर्थ व शारीरिक, कहीं-कहीं प्रायश्चित्त के रूप में क्रियान्वित होती दिखाई देती है। इस काल में विभिन्न प्रकार की दण्ड-प्रणालियों की स्थिति स्पष्ट हो रही थी। हरिहरनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि 'वैदिक काल में वाक्, धिक् के साथ-साथ अर्थ और वध दण्ड का सूत्रपात हो चुका था लेकिन अधिकतम अपराधों में प्रायश्चित्त था'।<sup>1</sup> युगानुरूप समाज की बदलती परिस्थितियों के चलते व अनियन्त्रित होती समाज की शक्तियों के चलते उत्तर-वैदिक काल में सर्वप्रथम दण्ड को शक्ति के रूप में क्रियान्वित किया गया। सूत्रकाल तक दण्ड का यही सिद्धान्त विकास की ओर अग्रसर होता रहा।

*मनुस्मृति* के संकलन-काल को बौद्धिक युग कहना भी अतार्किक नहीं होगा। बौद्ध व जैन मत ने समाज के सम्मुख सिद्धान्तों की एक नवमीमांसा प्रस्तुत की और इसका प्रभाव इस काल में दण्ड-विधान पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अपराधों के उन्मूलन के लिए शक्ति की अपेक्षा थी। इसलिए धर्मग्रन्थों में दण्ड को व्यक्ति को शासित करनेवाली शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया। *मनुस्मृति* में दण्ड को विधि के प्रमुख तत्त्व के रूप में महत्ता प्रदान करते हुए दण्ड को व्यक्ति व समाज—दोनों से सर्वोच्च माना गया है, किन्तु दण्ड की शक्ति धर्म का संरक्षक होते हुए भी धर्मरूपी विधि के अधीन थी। तत्कालीन न्याय-व्यवस्था में दण्ड-विधान कठोरात्मक होते हुए भी बृहत् अर्थों में सुधारात्मक परिलक्षित होता है। सामान्यतया इस काल में दण्ड-विधि दण्ड के क्रमशः अवरोधक, निवारक, सुधारात्मक, प्रतीकारात्मक, भयात्मक—इन सभी सिद्धान्तों का अनुगमन करती प्रतीत होती है।

*मनुस्मृति* में राजा को इस बात के लिए भी निर्देशित किया गया है कि

1. *मनुस्मृति*, 9.229
2. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.18; *नारदस्मृति*, 2.5
3. *मनुस्मृति*, 8.117
4. *वही*, 9.233

वह चोर, डाकू व इस प्रकार के आपराधिक कृत्यों को करनेवाले लोगों के उन्मूलन के लिए सदा प्रयत्न करें।<sup>1</sup> इस प्रकार के प्रयत्नों व सदाचारी लोगों की रक्षा करने और अपराधियों को दण्डित करनेवाले राजा स्वर्ग (संपन्नता व ऐश्वर्य) को प्राप्त करते हैं।<sup>2</sup> इसके विपरीत जो राजा अपराधियों को दण्ड दिए बिना प्रजा से कर-संग्रहण करता है, वह राज्य नष्ट या अराजकता को प्राप्त होता है।<sup>3</sup> *मनुस्मृति* में दण्ड-विधान के क्रियान्वयन के लिए राजा को निर्देशित किया गया है कि देश, काल, अपराधियों की प्रवृत्ति तथा मानसिकता को समझकर ही अपराधी पर दण्ड का आरोपण करे।<sup>4</sup> याज्ञवल्क्य का भी मत इसी प्रकार का है।<sup>5</sup> कौटिल्य के अनुसार अनुबंध देश, वातावरण, वैयक्तिक एवं सामाजिक क्षमता तथा अपराध की समीक्षा करके दण्ड-विधि का क्रियान्वयन करना चाहिये।<sup>6</sup> तत्कालीन न्यायिक-प्रक्रिया में दण्ड-शक्ति के क्रियान्वयन में व्यक्ति, परिस्थितियों व अपराध के कारणों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। वर्तमान भारतीय दंड संहिता में इसी को 'मेन्सीरिया' (अपराध का आशय) कहा गया है। मनु ने प्रतिपादित किया है कि अपराध की अवस्था, गुरुता, मूल तथा उसके प्रति व्यक्ति का सहज या बनावटी व्यवहार आदि के अनुरूप दण्ड का क्रियान्वयन होना चाहिये।<sup>7</sup> *मनुस्मृति* में वर्णित दाण्डिक विधि में केवल अधिकतम दण्ड को वर्णित किया गया है। डॉ. रामगोपाल चतुर्वेदी का इस संबंध में अभिमत है कि 'दण्डनीय अपराध में भी न्यायकर्ता समुचित न्यून दण्ड पारित कर सकता है। न्यायकर्ता द्वारा विवेक के प्रयोग के लिए ग्रन्थ में दिशा-निर्देश दिया गया है'।<sup>8</sup> इस प्रकार यह न्यायाधीश के विवेक पर निर्भर करता था कि विहित अधिकतम या न्यूनतम दण्ड में, वह अपराध की जघन्यता, लघुता या अन्य समसामयिक परिस्थितियों की दृष्टि से या अपराध से पीड़ित और उसके तदनुरूप समाज पर पड़नेवाले प्रभाव को ध्यान में रखते हुये दण्ड का परिमाण निर्धारित करे। हरिहरनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि

1. *मनुस्मृति*, 9.252

2. *वही*, 9.253

3. *वही*, 9.254

4. *वही*, 7.16

5. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 1.366

6. *अर्थशास्त्र*, पृ. 226

7. *मनुस्मृति*, 8.126

8. चतुर्वेदी, मुरलीधर, *मनुस्मृति की विधि-संहिता*, पृ. 308

‘लेकिन यहाँ न्यायकर्ता को विधि से आबद्ध किया गया था, इसलिए विधि की सीमा, अपराधी के व्यक्तित्व और अपराध के स्वरूप में सुधार या परिवर्तन न्यायाधीशों की शक्ति में नहीं था, लेकिन वह अपराधी की अवस्था, ज्ञान, जाति, सामाजिक स्तर, शारीरिक क्षमता, मानसिक दशा, उद्देश्य, समय व प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर निर्णय करते थे’। मनु ने भी उक्त नियम की महत्ता को प्रतिपादित किया है। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में भी दण्ड के क्रियान्वयन के लिए किसी स्थायी विधि, जो धर्मसम्मत परम्परा का अनुसरण करती थी, पर बल दिया गया एवं साथ ही अपराधी की मनोस्थिति को समझने का भी प्रयास किया गया है। अपराधी के अपराध का निर्धारण उसके मानसिक उद्देश्यों को समझकर ही स्पष्ट किया जा सकता है; क्योंकि कभी-कभी अपराध परिस्थितियों से प्रभावित होता भी दिखाई देता है। अपराधों के वर्गीकरण की तरह ही इस काल में दण्डापराध विधि के वर्गीकरण का भी अनुमान होता है। न्यायिक प्रक्रिया में अनेक प्रकार के दण्ड प्रचलन में थे। प्रभावशाली दण्डों के प्रचलन को देखते हुए लगता है इनका लक्ष्य समाज से अपराध के उन्मूलन का था।

## दण्डों के प्रकार

मनु ने दण्डाविधि की क्रमिकता पर सूक्ष्मता से विचार करते हुए, उसको क्रियात्मक रूप में मानसिक, वाचिक और शारीरिक विधान के साथ परस्पर रूप से सबद्ध किया है। ग्रन्थ में प्रतिपादित दण्ड का यह क्रियात्मक स्वरूप अपराध की गुरुता, लघुता, अपराधी की मनोवृत्ति, चेष्टा पर आधारित था। यह कहना अनुचित है कि *मनुस्मृति* में शूद्र-वर्ण के लिए कठोर दण्डों का विधान निर्देशित किया गया है और ब्राह्मणों को विशेषाधिकार एवं विशेष विमुक्ति प्रदान की गई है। मनु की दण्ड-व्यवस्था के मानदण्ड हैं गुण और दोष व आधारभूत तत्त्व हैं बौद्धिक स्तर, सामाजिक स्तर या पद और उस पर अपराध का प्रभाव।<sup>192</sup>

*मनुस्मृति* के उद्धरणों से दण्ड-नीति का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है, वह निश्चय ही बृहत् अर्थों में सुधारात्मक, अवरोधक, निरोधक व भयात्मक; अल्प मात्रा में प्रतीकारात्मक सिद्धान्तों का अनुगमन करता परिलक्षित होता है। मनु ने दण्ड के इन पाँचों सिद्धान्तों के आधार पर दण्ड को चार स्वरूपों में व्याख्यायित किया है। *मनुस्मृति* में प्रतिपादित दण्ड-विधि के अंतर्गत सर्वप्रथम

1. कुमार, सुरेन्द्र, *महर्षि मनुस्मृति बनाम डॉ. अम्बेडकर*, पृ. 153



अपराधी को वाग्दण्ड, क्रमशः धिक्, अर्थ व शारीरिक दण्ड दिया जाना विधानित था।<sup>1</sup> यदि इससे भी अपराध की निवृत्ति नहीं होती थी तो अंततोगत्वा मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।<sup>2</sup> पृ० वृ० काणे ने दण्ड की इन विधियों को व्याख्यायित किया है कि ये विधियाँ पृथक्-पृथक् या अपराध की गुरुता के अनुसार प्रयुक्त हो सकती थीं। प्रथम विधि में इस प्रकार का कथन होता है तुमने उचित नहीं किया है। दूसरी विधि का रूप है कि तुम्हें धिक्कार है क्योंकि तुम पापी हो और दुष्ट कर्म करनेवाले एवं अधर्म के अपराधी हो।<sup>3</sup> दण्ड की प्रथम दो शाब्दिक अभिव्यक्तियाँ तत्कालीन न्यायिक-व्यवस्था में प्रचलित दण्ड के सुधारात्मक अंशों की ओर संकेत करती हैं। प्रतीत होता है कि इस कालविशेष में व्यक्ति के चरित्र का आधार उसका नैतिक आचरण होता था, इसलिए ऐसी धारणा रही होगी कि स्वाभिमानी व भावुक व्यक्ति के लिए धिक्कार एवं भर्त्सना से बड़ा कोई दण्ड नहीं होता है। महाभारत में भी दण्ड के इन चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है।<sup>4</sup> कालान्तर के स्मृतिकारों ने भी प्राथमिकता के साथ मनुस्मृति का अनुसरण किया है।<sup>5</sup> प्रस्तुत अध्याय में मनु द्वारा प्रतिपादित दण्ड के चारों स्वरूपों की विवेचना ही अभिदेह है।

## 1. वाग्दण्ड

मनुस्मृति में तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया में अपराधों के लिए दिए जानेवाले दण्डों के प्रकारों के अंतर्गत प्रथमतः वाग्दण्ड दिए जाने का उल्लेख किया गया है। इस दण्ड में अपराधी द्वारा किए गए कार्य की मौलिक भर्त्सना की जाती थी कि तुम्हारे द्वारा किया गया कार्य उचित नहीं है। प्रतीत होता है कि वाग्दण्ड के रूप में यह एक प्रकार की चेतावनी थी कि व्यक्ति भविष्य में इस प्रकार के कार्यों की पुनरावृत्ति न करे। हरिहरनाथ त्रिपाठी का इस विषय में मत है कि इस प्रकार के दण्ड में गुणवान् अपराधी की आलोचना की जाती थी।<sup>6</sup> इस प्रकार के दण्ड की प्रकृति को देखकर ऐसा लगता है कि यह दण्ड साधारणतः सामान्य अपराधों के

लिए दिया जाता होगा। मनुस्मृति में वर्णित दण्ड का यह स्वरूप कई अर्थों में सुधारात्मक परिलक्षित होता है।

## 2. धिग्दण्ड

यह दण्ड की द्वितीय अवस्था थी। यदि प्रथम दण्ड से व्यक्ति सन्मार्ग का अनुसरण नहीं करता या विधियानुकूल आचरण नहीं करता है तब उसके कार्य की प्रकृति के अनुरूप उसको धिक्कारा जाता है कि 'तुम्हारे इस पापयुक्त जीवन को तथा तुम्हारे इस कार्य को धिक्कार है' आदि वाक्यों से अपराधी के कार्य की निन्दा की जाती थी।<sup>1</sup> हरिहरनाथ त्रिपाठी का मत है कि सम्भवतः धिग्दण्ड से आगे 'धिक्कार' एवं अपशब्दों का प्रयोग किया जाता था।<sup>2</sup>

## अर्थ-दण्ड

मनुस्मृति में वर्णित न्यायिक-प्रक्रिया के अंतर्गत अर्थ-दण्ड के सर्वाधिक प्रमाण प्राप्त होते हैं। अर्थ-दण्ड विधान के मूल में दो निहितार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथमतः तो वादी को धन देकर क्षतिपूर्ति प्रदान करना व अपराधी को दण्ड देना। द्वितीयतः राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाना। इस काल में दण्ड-विधि का सर्वप्रथम उद्देश्य आर्थिक दण्ड देना ही था, क्योंकि मनु ने एक स्थान पर स्पष्ट निर्देश दिया है कि सर्वप्रथम अपराधी को समझाना या उसकी भर्त्सना करनी चाहिए, यदि इसके पश्चात् भी वह अपनी प्रवृत्तियों पर अडिग रहता है तो उसे क्रमशः अर्थ व शारीरिक दण्ड देना चाहिए।<sup>3</sup> मनुस्मृति में अर्थ-दण्ड को तीन भागों में विभक्त किया गया है— 1. प्रथम साहस, 2. मध्य साहस और 3. उत्तम साहस; इसके लिए क्रमशः 250 पण, 500 पण, 1,000 पण धनराशि का निर्धारण किया गया।<sup>4</sup> मनु द्वारा प्रतिपादित अर्थ-दण्ड के इस संख्यात्मक विभाजन के विषय में मिताक्षरा ने टिप्पणी करते हुए स्पष्ट किया है मनु की कम संख्याएँ बिना किसी निश्चित उद्देश्य के किए गए अपराधों के लिए हैं। कालान्तर से अर्थ-दण्ड के इस विभाजन को अन्य व्यवस्थाकारों द्वारा संशोधन-परिवर्द्धन के साथ स्वीकार किया

1. मनुस्मृति, 8.129-130

2. त्रिपाठी, हरिहरनाथ, प्राचीन भारत में राज्य व न्यायपालिका, पृ० 242

3. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ० 763

4. महाभारत, शान्तिपर्व, 160.58

5. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.367; बृहस्पतिस्मृति, 27.4

6. प्राचीन भारत में राज्य व न्यायपालिका, पृ० 242

1. ठाकुर, लक्ष्मीदत्त, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 358

2. प्राचीन भारत में राज्य व न्यायपालिका, पृ० 242

3. मनुस्मृति, 8.129

4. वही, 8.137-138

गया है।<sup>1</sup> सम्भवतः यह विभाजन अपराधों की जघन्यता व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया गया था। *मनुस्मृति* के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया में शारीरिक दण्ड की तुलना में आर्थिक दण्ड का प्रचलन अधिक था। आर्थिक दण्ड नियत व अनियत होता था। अर्थ-दण्ड अपराधों की प्रकृति को ध्यान में रखकर दिया जाता था और यह एक पण से लेकर सर्वस्व हरण तक का हो सकता था।<sup>2</sup> लेकिन ग्रन्थ के उद्धरणों से यह भी अनुमान होता है कि कुछ अपराधों में शारीरिक व आर्थिक— दोनों प्रकार के दण्ड दिए जाते थे। इस प्रकार का दण्ड व्यक्ति की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर दिए जाते थे। यदि कोई व्यक्ति पारिवारिक सदस्यों के प्रति अपने कर्तव्यों व दायित्वों का निर्वहन ठीक ढंग से नहीं करता था तो उसे 600 पणों का दण्ड दिया जाता था।<sup>3</sup> इस प्रकार के दण्ड, कर्म की नैतिक भावना से अभिप्रेरित थे। व्यक्ति के द्वारा कर्तव्यों के निर्वहन व समाज के स्वरूप को व्यवस्थित रखने की दृष्टि से ये दण्ड उचित भी जान पड़ते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था वर्तमान भारतीय अपराध संहिता की धारा 125 भरण पोषण में भी प्रतिपादित की गई है।<sup>4</sup> आर्थिक दण्ड प्रायश्चित्त के रूप में सामाजिक मर्यादा के उल्लंघन के लिए भी दिया जाता था।<sup>5</sup> मुख्यतः आर्थिक दण्ड के पीछे क्षतिपूर्ति का भाव भी प्रदर्शित होता है। इसके अलावा ग्रन्थ के उद्धरणों से यह भी सम्भावना बनती दिखाई देती है कि सामान्यतः अर्थ-दण्ड ऋण-दान, क्रय-विक्रय, संविदा-भंग, भूमि-संबंधी विवाद, पशुपालन, कालाबाजारी व सामाजिक और धार्मिक नियमों के उल्लंघन करने-संबंधी विवादों में दिया जाता था। इस सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि अर्थ-दण्ड के अधिक प्रचलन के लिए राजकोष या राज्य की आय बढ़ाना भी एक प्रमुख कारण रहा हो। सम्भवतः मुद्रा के रूप में प्राप्त धन सीधे राजकोष में जमा किया जाता हो। अर्थदण्ड के रूप में प्राप्त धन का कुछ भाग पीड़ित पक्षकार को क्षतिपूर्ति के रूप में दिया जाता था।<sup>6</sup> कालान्तर में यही देय धन व्यवस्थाकारों द्वारा क्षतिपूर्ति के रूप में ग्राह्य किया जाने

1. *विष्णुधर्मसूत्र*, 4.10; *शंखलिखितस्मृति* उद्धृत दण्ड-विवेक, पृ. 23, *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 1. 366 तुलनीय काणे, पृ. वृ. , *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 2 पृ. 764
2. *मनुस्मृति*, 8.366
3. *वही*, 8.389
4. भारतीय दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 : भरण-पोषण
5. *मनुस्मृति*, 8.392-393
6. *वही*, 8.287-288

लगा।

इसके अतिरिक्त ब्रह्महत्या, मदिरापान, गुरुपत्नी से व्यभिचार करनेवाले महापापी (जघन्य अपराधी) और उनके द्वारा दिए गए अर्थदण्ड को भी पाप ही मानते हुए उसे न लेने के लिए निर्दिष्ट किया गया है। महापापी से दण्डस्वरूप प्राप्त धन को राजा को ग्रहण नहीं करना चाहिये, उस धन को जल में (वरुण) देव को या विद्वान् ब्राह्मणों को दे देने का परामर्श भी मिलता है।<sup>1</sup> यह विधान उक्त अपराध के अपराधी के प्रति घृणा के भाव को प्रदर्शित करता है, और इसलिए इस प्रकार के धन को महापापी की तरह दूषित माना गया है। *मनुस्मृति* से अर्थ-दण्ड की पूर्ति न होने की स्थिति में श्रम के माध्यम से दण्ड को क्रियान्वित करने के संकेत प्राप्त होते हैं, किन्तु ब्राह्मण को इससे उन्मुक्ति प्रदान की गई है।<sup>2</sup> किस अपराध के लिए कितना दण्ड देय था, पिछले अध्याय में इस विषय को विस्तार से स्पष्ट किया गया है। लेकिन यहाँ *मनुस्मृति* में वर्णित सामाजिक मर्यादा के उल्लंघन-जैसे साधारण प्रकृति के अपराध के लिए दिए जानेवाले दण्डों का उल्लेख भी करना समीचीन होगा।

माता-पिता, स्त्री, भाई, पुत्र या वे संबंध जिनके प्रति सामाजिक श्रेष्ठता का भाव प्रदर्शित होता है, उनके साथ की गई किसी भी प्रकार की अभद्रता या अपमानजनक व्यवहार करने पर तत्रैव गुरु की किसी बात का खण्डन करने पर 100 पणों का दण्ड दिया जाता था।<sup>3</sup> इसके अलावा स्वयं की झूठी प्रतिष्ठा बनाने के लिए स्वयं के विषय में बढ़ा-चढ़ाकर बताना भी अपराध था और तत्कालीन विधान में इसके लिए 200 पणों का दण्ड विधानित था। सम्भवतः यहाँ इस प्रकार के कार्यों के पीछे मनु का आशय धोखाधड़ी, ठगी या छल से है।<sup>4</sup> सार्वजनिक उपक्रमों या लोक-कल्याण के निमित्त स्थापित वस्तुओं या उनसे संबंधित किसी भी प्रकार के नियमों का उल्लंघन करना गम्भीर अपराध माना जाता था। वस्तुतः इस प्रकार के कार्य, शासन द्वारा जनसामान्य को प्रदत्त अधिकार व कर्तव्यों के दुरुपयोग से संबंधित थे। जलाशयों पर रखे पात्रों, बाँध या जलाशय को नष्ट

1. *मनुस्मृति*, 9.244-245
2. *वही*, 9.229
3. *वही*, 8.263 व *मत्स्यमहापुराण*, 22.7
4. *मनुस्मृति*, 8.275

करना, जिससे निजी उपयोग (सिंचाई या अन्य कार्य) के लिए पानी चुराना, जल-मार्ग को अवरुद्ध करना, सार्वजनिक स्थानों या राजमार्ग को गन्दा करना, नदियों-तालाबों पर आवागमन के लिए निर्मित पुलों, मन्दिर की प्रतिमा या शिखर को नष्ट करना, ध्वजा (राष्ट्रीय ध्वज) का अपमान करने से भी जघन्यता का भाव प्रदर्शित होता है। इस प्रकार के अपराधों के लिए क्रमशः एक कर्षापण, प्रथम साहस व 500 पणों तक का दण्ड दिया जाता था।<sup>1</sup> इसके अलावा राजा या शासन द्वारा निषिद्ध वस्तुओं का व्यापार या उनका आयात-निर्यात करना भी अपराध था और ऐसे अपराधों में अपराधी की सर्वस्व सम्पत्ति को राजसात् कर लिया जाता था; साथ ही जो व्यापारी कर की चोरी या असमय क्रय-विक्रय, कम तौलना-जैसे आपराधिक कार्य करते थे, उन्हें निर्धारित राशि से आठ गुना अधिक देना विधानित था।<sup>2</sup> राज्य व शासन की सेवा में नियुक्त कर्मचारियों व पदाधिकारियों के भ्रष्ट आचरण या कर्तव्यविमुखता के लिए क्रमशः 1,000 पण या सर्वस्व हरण का दण्ड दिया जाता था।<sup>3</sup>

इसके अतिरिक्त वाक्पाशुष्य (अभद्रता, गाली-गलौच या अपशब्द)-जैसे अपराध में भी गुरुता व लघुता के अनुसार अर्थ-दण्ड दिया जाता था। ब्राह्मण से अभद्रतापूर्ण व्यवहार करने पर शेष तीनों वर्णों को सामाजिक स्थिति के अनुरूप दण्ड दिया जाता था।<sup>4</sup> क्षत्रिय के साथ ऐसा कोई व्यवहार करना, जिससे उसकी प्रतिष्ठा धूमिल हो तो ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र को क्रमशः 50, 25 व 12 पण का दण्ड देय था।<sup>5</sup> किसी स्त्री या कन्या के साथ अभद्रता करने व शत्रुता के कारण उसके चरित्र पर दोषारोपण करने व उसे न्यायालय में सिद्ध न कर सकने पर 100 पणों का दण्ड दिया जाता था।<sup>6</sup> इसके अलावा स्त्रियों से संबंधित अन्य अपराधों में भी अर्थ-दण्ड विधानित था।<sup>7</sup> इसके अलावा *मनुस्मृति* में ऐसे अनेक छोटे-छोटे अपराधों का उल्लेख है जिनके लिए अर्थ-दण्ड दिया जाता था। प्रतीत होता है मनु

ने पूर्व-वर्णित अपराधों के लिए दिए जानेवाले दण्डों के द्वारा अपनी विधि-संहिता को समग्र बनाने का प्रयास किया है।

## शारीरिक दण्ड

*मनुस्मृति* से तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया में उक्त दण्डों के अतिरिक्त शारीरिक दण्डों के प्रचलन का ज्ञान होता है जो सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रतिकूल आचरण करने पर दिए जाते थे। शरीर के विभिन्न अंगों पर दी जाने वाली यातनाओं को शारीरिक दण्ड के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। सामान्य अर्थ में शारीरिक दण्ड में शरीर को दण्ड देना ही अभिज्ञात है। *मनुस्मृति* में निर्धारित शरीर के 10 स्थानों को विकृत करना या पीड़ा पहुँचाना ही शारीरिक दण्ड देना है।<sup>1</sup> मनु की तुलना में बृहस्पति ने शारीरिक दण्ड के लिए शरीर के 14 अंगों का उल्लेख किया है।<sup>2</sup> कौटिल्य के समय में लोक-व्यवहार में सामान्यतः 4 प्रकार के शारीरिक दण्ड प्रचलन में थे, यथा— 1. छः डण्डे मारना, 2. सात कोड़े मारना, 3. हाथ-पैर बाँधकर उल्टा लटका देना और 4. नाक में नमकीन पानी डालना।<sup>3</sup> कौटिल्य ने इसके अलावा 14 अन्य दण्डों की भी चर्चा की है। मनु का अभिमत है कि चार महापापी मनुष्यों— 1. ब्रह्महत्या, 2. मद्यपायी, 3. चोर तथा 4. गुरुपत्नीगामी को शारीरिक तथा आर्थिक— दोनों प्रकार के दण्ड राजा को देना चाहिये।<sup>4</sup> इसके अतिरिक्त शरीर पर विशेष प्रकार के चिह्न बनाना भी दण्ड का ही एक रूप था।<sup>5</sup> *याज्ञवल्क्यस्मृति* को भी इस प्रकार के दण्डों के प्रचलन-संबंधी साक्ष्य के रूप में उद्धृत किया जा सकता है।<sup>6</sup> यदि महापापी इस प्रकार के अपराध के लिए प्रायश्चित्त करना स्वीकार करे तो उसको उक्त दण्ड (चिह्नादि दागना) से विमुक्ति प्रदान करने का प्रावधान भी ग्रन्थ में वर्णित है।<sup>7</sup> वस्तुतः मनु ने जघन्य व घृणित लोकाचार के विरुद्ध किए जानेवाले अपराधों में, विशेषकर शारीरिक दण्ड

1. *मनुस्मृति*, 8.318, 389, 9.279, 281, 283, 285
2. वही, 8.399-400
3. वही, 9.231, 235
4. वही, 8.267
5. वही, 8.268
6. वही, 8.266
7. वही, 8. 376-377, 383-385

1. *मनुस्मृति*, 8.125
2. जोशी, सारिका, प्राचीन भारत में दण्ड-व्यवस्था : 600 ई पू से 100 ई तक, बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल से अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, पृ 148
3. *अर्थशास्त्र*, पृ 461
4. *मनुस्मृति*, 8.234-235
5. वही, 8.236
6. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 2.70
7. *मनुस्मृति*, 9.240

का प्रावधान किया है। निश्चित ही इस प्रकार के पापकृत्यों से समाज की व्यवस्थाओं व वातावरण के दूषित होने की सम्भावना बनी रहती है। वर्तमान में भी निश्चित सामाजिक नियम-विधानों के अभाव में विशृंखलित वातावरण होता दिखाई देता है। स्त्रियाँ, बालक, वृद्ध, दरिद्री, रोगियों को सामान्यतः कठोर शारीरिक दण्ड से मुक्ति दी गई थी, इसलिए मनु ने राजा को इन्हें बेंत, बाँस अथवा रस्सी से दण्ड देने के लिए निर्दिष्ट किया है।<sup>1</sup>

*मनुस्मृति* में वर्णित वैधानिक परम्परा के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि शारीरिक दण्ड विशिष्टतः मनुष्य के शरीर, सम्पत्ति या मानसिक स्थिति पर प्रभाव डालनेवाले अपराधों में दिया जाता था। राजद्रोह, धोखाधड़ी, कालाबाजारी, पर्यावरण-प्रदूषण, चोरी, लूट, हत्या आदि अपराधों के लिए शारीरिक दण्ड विधानित थे। वर्तमान में इस प्रकार के अपराधों को फौजदारी मामलों के रूप में परिगणित किया गया है। यद्यपि मनु ने इस प्रकार का भेद तो नहीं किया है, तथापि यह कहा जा सकता है कि *मनुस्मृति* में आर्थिक अपराधों में शारीरिक दण्ड नहीं दिए जाने की अनुशंसा मिलती है।

इसके अलावा वर्णवृत्ति के प्रतिकूल आचरण करना, अंतर्जातीय विवाह, गाली देना, सुरापान, स्त्री को छेड़ना, कम तौलना, मिलावट आदि ऐसे अपराध थे जिनसे सामाजिक व्यवस्थाओं में विकृति आदि के होने की सम्भावना रहती है। दूसरे शब्दों में ऐसे कार्य, जिनसे समाज की शालीनता व मर्यादा भंग होती है। सामाजिक अपराधों में दण्ड का विधान, विशेषकर हीनवृत्ति के आचरण करनेवालों के लिए किया गया है। यदि कोई शूद्र-वृत्ति का व्यक्ति ब्राह्मणों को धर्म का उपदेश देने लगे तो उसके मुख एवं कान में तप्त तेल डलवा देने का विधान मिलता है।<sup>2</sup> यदि वह द्विजातियों में जाति आदि का आक्रोश में नाम लेता है तो उसके मुख में प्रदीप्त दश अंगुल की लौहशलाका डाल दी जाये।<sup>3</sup> अन्त्यज जिन अंगों से द्विजाति पर प्रहार करता है, उन्हें काट डालना चाहिए।<sup>4</sup> इसके अतिरिक्त चोरी-जैसे अपराध में हाथ-पाँव काटने का सामान्य नियम था।<sup>5</sup> वस्तुतः वर्तमान

*मनुस्मृति* में उल्लिखित इस प्रकार के विधान समयानुरूप होनेवाले सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप संकलित हुए हैं। इस प्रकार के उद्धरणों को विद्वानों ने प्रक्षिप्त की श्रेणी में रखा है। इस प्रकार के दण्डों की विवेचना करने से पूर्व यह भी ध्यान में रखना होगा कि भारतीय धर्म-दर्शन किस प्रकार के तात्त्विक मत का प्रतिपादन करता है। प्राचीन धर्मग्रन्थों में समान रूप से मानव-कल्याण की बात स्वीकार की गई है और संसार के प्रत्येक जीव में ईश्वरांश होने की कल्पना की गई है। ऐसे में ऐसे अमानवीय दण्ड के प्रचलन में होने की बात को ग्राह्य नहीं किया जा सकता। उस कालविशेष में यदि इस प्रकार के दण्ड प्रचलन में थे तो उससे संबंधित किसी घटना का उल्लेख अन्य किसी ग्रन्थ में अवश्य मिलता। वस्तुतः इस प्रकार के विधान मूलतः प्रक्षिप्त हैं और इन्हें भी भय का वातावरण निर्मित करने के उद्देश्य से ग्रन्थ में संकलित कर लिया गया था।

इसके अतिरिक्त कालाबाजारी, नकली सुवर्ण एवं निषिद्ध वस्तुओं के बेचने पर अंग-विच्छेद की व्यवस्था थी।<sup>6</sup> इसके अन्यत्र समलैंगिक अपराधों में स्त्री के मुण्डन की व्यवस्था थी।<sup>7</sup> इन्हीं अपराधों के लिए *मनुस्मृति* में देश-निर्वासन के दण्ड का प्रावधान भी किया गया है।<sup>8</sup> किन्तु यदि अपराधी शास्त्रविहित ढंग से उपर्युक्त कार्यों के लिए प्रायश्चित्त कर लेता है, तो उसके लिए दण्ड से मुक्ति की व्यवस्था थी।<sup>9</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे सामाजिक अपराधों में प्रायश्चित्त के माध्यम से अपराधी को उन्मुक्ति प्रदान करना ही मुख्य उद्देश्य था। यदि अपवादस्वरूप कोई व्यक्ति प्रायश्चित्त करने से मना करता था तो उसे शारीरिक दण्ड भोगना पड़ता था। शरीर पर चिह्नादि के अंकन द्वारा व्यक्ति की सामाजिक भर्त्सना का भाव परिलक्षित होता है जिससे समाज के अन्य व्यक्ति प्रेरणा लेते हुए आपराधिक क्रियाकलापों में लिप्त न हों।

## कारागार या बंदीगृह

तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया के क्रियान्वयन व दण्ड-विधि के अंतर्गत किस प्रकार के अपराधों में कारावास-दण्ड दिया जाता था, इस विषय में निश्चितता कुछ नहीं

1. *मनुस्मृति*, 9.230

2. *वही*, 8.272

3. *वही*, 8.271

4. *वही*, 8.279

5. *वही*, 9.277

1. *मनुस्मृति*, 9.291

2. *वही*, 8.370

3. *वही*, 8.325

4. *वही*, 8.328

कहा जा सकता। *मनुस्मृति* के अष्टम एवं नवम अध्याय के एक-एक श्लोक में 'बन्दीगृह' का उल्लेख हुआ है। मनु का अभिमत है कि यदि कोई वैश्य रक्षित ब्राह्मण स्त्री के साथ सम्भोग या व्यभिचार करे तो उसे एक वर्ष की अवधि के लिए कारावास में रखा जाए व तत्पश्चात् उसकी सम्पत्ति को राजसात् कर लेने का निर्देश है।<sup>1</sup> इसके अलावा कारावास को राजमार्ग पर बनवाया जाता था जिससे जनसामान्य में अपराध के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न हो सके।<sup>2</sup> वस्तुतः इस प्रकार के विधान में यह धारणा निहित थी कि अपराधजनित परिस्थितियों से अपराध के प्रति घृणा व उसके फलस्वरूप मिलनेवाले दण्ड से जनसामान्य के मन में भय का सञ्चार हो सके।

## देश-निर्वासन

तत्कालीन विधान में दण्ड का यह चतुर्थ क्रियात्मक रूप था। सामान्यतः देश-निर्वासन से अभिप्रेय अपराधी को शासन के अधिकार-क्षेत्र से बाहर कर देना आशयित है। इस प्रकार के दण्ड में सर्वस्व हरण (सम्पत्ति हरण) का विधान भी समायोजित रहता था। *मनुस्मृति* से तत्कालीन विधान में इस प्रकार के दण्ड के प्रचलन की पुष्टि होती है। न्यायिक प्रक्रिया में यह दण्ड आर्थिक व अन्य अपराधों के लिए समान रूप से दिया जाता था। मनु का स्पष्ट निर्देश है कि बलात्कार, व्यभिचार करनेवाले मनुष्यों को भ्रांति-भ्रांति प्रकार से शारीरिक यातना देकर राज्य से बाहर कर देना चाहिये। देश-निर्वासन का दण्ड चातुर्वर्ण्य, विशेषकर ब्राह्मणों के लिए प्रायोजित था, लेकिन उसके लिए भी अपराध की गुरुता व लघुता पर विचार करना आवश्यक था।<sup>3</sup> सर्वप्रथम न्यायिक कार्यों में बाधा पहुँचाने या रिश्वत लेकर वादी या प्रतिवादी के पक्ष में कार्य करनेवाले कर्मचारियों या धन लेकर कार्य करनेवाले राज्याधिकारियों का बार-बार असत्य साक्ष्य प्रस्तुत करने-जैसे अपराध करनेवाले व्यक्तियों को राज्य से निष्कासित कर दिया जाता था।<sup>4</sup> यदि अपराधी ब्राह्मण हो तो वह केवल निर्वासन का भागी होता था।<sup>5</sup> इसके अलावा राजगृह वा नगर की सीमाओं का उल्लंघन करने या सीमा-निर्धारण के

निमित्त निर्मित चिह्नों को नष्ट करनेवालों के लिए यथाशीघ्र देश-निर्वासन का विधान भी मिलता है।<sup>1</sup> सामान्यतः यह दण्ड सामाजिक व्यवस्थाओं पर प्रतिकूल प्रभाव डालनेवाले अपराधों के लिए विशेष रूप से दिया जाता था। मनु ने विधानित किया है कि कितब अर्थात् जुआ या समाह्वय करनेवाले, नाच-गाकर जीविकोपार्जन करनेवाले, अधर्मी और क्रूर, पाखण्डी व वैदिक धर्म में अनास्था रखनेवाले, मद्यपायी को राजा अविलम्ब नगर से निष्कासित कर दे।<sup>2</sup> मनु ने इस प्रकार के व्यक्तियों को चोरों के समतुल्य रखते हुए उन्हें समाज के लिए कण्टक माना है।<sup>3</sup> इसके अतिरिक्त अवाञ्छनीय तत्त्वों द्वारा चोरी, डकैती या ग्राम पर आक्रमण या सार्वजनिक सम्पत्ति को नष्ट करनेवाले लोगों का प्रतिकार न करके भागनेवाले व उन्हें सहायता पहुँचाने व्यक्तियों के लिए भी राज्य से निष्कासन का विधान था।<sup>4</sup> महापातक व पातक-संबंधी कार्यों को करने पर भी यही दण्ड विधानित था।<sup>5</sup> वर्तमान विधिक प्रणाली में भी इस प्रकार के दण्ड को महत्ता प्रदान की गई है।

## मृत्युदण्ड

प्राचीन काल से ही जघन्य अपराधों के लिए मृत्युदण्ड का विधान मिलता है जो दण्ड का अन्तिम रूप है। प्रयास किया जाता है कि बड़े-से-बड़े अपराधों के लिए भी इस दण्ड का आरोपण नहीं किया जाये। *मनुस्मृति* में भी यह विधान मिलता है कि व्यक्ति यदि किसी प्रकार प्रायश्चित्त नहीं करता है तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए।<sup>1</sup> कालविशेष में प्रचलित दण्ड-विधि का उद्देश्य सुधारात्मक था और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रायश्चित्त या अन्य साधारण दण्डों का विधान किया गया था। इसलिए मनु ने अपनी दण्ड-विधि में मृत्युदण्ड को अंत में स्थान दिया है। लेकिन *मनुस्मृति* के अनुशीलन से ऐसा आभासित होता है कि एक बार मृत्युदण्ड दिए जाने पर अपराधी को क्षमा नहीं किया जाता था। वर्तमान न्यायिक व्यवस्था में अपराधी के लिए इस प्रकार की विमुक्ति का प्रावधान है जो किसी भी स्थिति में

- 
1. *मनुस्मृति*, 8.375
  2. *वही*, 9.288
  3. *वही*, 8.380
  4. *वही*, 7.124; 8.120-121
  5. *वही*, 8.123

- 
1. *मनुस्मृति*, 9.289
  2. *वही*, 9.225
  3. *वही*, 9.266
  4. *वही*, 9.274
  5. *वही*, 9.241
  6. *वही*, 9.236



न्यायसंगत नहीं है। इस प्रकार का दोषपूर्ण विधान वर्तमान न्यायिक व्यवस्था अंग्रेजों की देन है। अंग्रेजों के स्वार्थ से उपजा एक क़ानून हमारे गणतन्त्र की त्रुटि बन गया। हमारे देश में यह प्रावधान 1935 में अंग्रेज लेकर आए, क्योंकि वे चाहते थे कि यदि किसी अंग्रेज़ को सजा हो गई तो उसे क्षमादान से बचाया जा सकता है। लेकिन प्राचीन भारतीय विधि में अपराधियों के लिए ऐसी किसी मुक्ति का प्रावधान नहीं था। यह अधिकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद 72 में दिया गया है जिसके अनुसार क़ानून द्वारा दी गई किसी भी सजा को राष्ट्रपति माफ़ कर सकते हैं। वर्तमान भारत में जघन्य मामलों में भी अपराधी की दोषमुक्ति सम्भव है।<sup>1</sup>

मनु के दण्ड-विधान के इस व्यवस्थितिकरण से यही सम्भावना बलवती होती प्रतीत होती है कि मनुकालीन न्यायिक विधान अपने विशिष्ट निहितार्थ में उदारता का परिचायक है। इस अवधि में ब्रह्महत्या, चोरी, राजद्रोह, उच्च वर्णों की हत्या, व उच्च वर्ग की स्त्री से संबंध रखना-जैसे अपराधों के लिए मृत्युदण्ड का विधान मिलता है। *मनुस्मृति* में मुख्यतः चोरी व उसके समकक्ष प्रतीत होनेवाले अपराधों में निश्चित रूप से मृत्युदण्ड दिए जाने का उल्लेख मिलता है। मनु ने राजा के लिए निर्देशित किया है कि चोरों व उनके सहयोगियों को चिह्नित करके व उन्हें छल से वश में करके मित्र बन्धु-बान्धवों सहित उनका वध करे।<sup>2</sup> रात में संध लगाकर चोरी करनेवाले चोरों का अंग-भंग करके फाँसी पर लटका दिया जाता था।<sup>3</sup> इसके अतिरिक्त भ्रष्टाचारी, सार्वजनिक वस्तु को नुकसान पहुँचाना, जेब काटना-जैसे अपराधों में अपराधी को मृत्युदण्ड भोगना पड़ता था। इस काल में विभिन्न प्रकार से मृत्युदण्ड दिए जाने का उल्लेख मिलता है। चोरी, राजद्रोह, लूट-जैसे अपराधों के लिए अंग-भंग करके मार देने या फाँसी देने का विधान था।<sup>4</sup> इसके अतिरिक्त इस काल में कृषि के साधन नष्ट करनेवाले, सार्वजनिक सम्पत्ति को क्षति पहुँचानेवाले अपराधी को जल-समाधि का दण्ड अनुदिष्ट था।<sup>5</sup> चोर को हाथी के पैर से कुचलने का भी विधान मिलता है।<sup>6</sup> कदाचित् इस काल में

ब्राह्मण के सर्वोपरि स्थान के कारण उसे मृत्युदण्ड से मुक्ति का नियम था लेकिन उसके स्थान पर देश-निर्वासन के दण्ड को उससे भी भयानक माना जा सकता है। सम्भवतः यह नियम ब्रह्महत्या के दोष से बचने के लिए अस्तित्व में आया होगा।<sup>1</sup>

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज को अपराधमुक्त बनाए रखने एवं व्यक्ति को धर्ममार्ग पर लाने के लिए *मनुस्मृति* में निष्पक्ष न्यायिक प्रक्रिया का विधान मिलता है। न्यायिक क्षेत्र की कठोरता इस बात को प्रदर्शित करती है कि तत्कालीन समाज में व्याप्त विकृतियों के उन्मूलनार्थ इस प्रकार के कठोर विधानों की उपयोगिता थी। दण्ड-विधि की भयावहता का विधान भी इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया गया जिससे व्यक्ति विधि से भयग्रस्त रहते हुए अपराध न करे और अपराधमुक्त समाज की परिकल्पना को साकार किया जा सके। न्यायिक संगठन में वर्णों की महत्ता वर्णाश्रम-धर्म के पालन के प्रयोजनार्थ की गयी जिससे प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति अपने वर्ण द्वारा निर्धारित वृत्ति को अपनाते हुए धर्मप्रेरित कार्य करे जिससे समाज में सामञ्जस्य बना रहे।

इस प्रकार *मनुस्मृति* के अध्ययन से स्पष्ट है कि समाज को नियमित, संयमित एवं धर्मोन्मुख करने के लिए अपराध-निवृत्ति पर बहुत अधिक बल दिया गया और उसके लिए न्यायिक प्रक्रिया को सुव्यवस्थित बनाए रखने तथा साक्ष्य, साक्षी, न्यायाधीश, अपराध, दण्ड उसकी प्रकृति आदि पर समग्रता से विचार किया गया। इसके मूल में निष्पक्ष न्याय था और निष्पक्ष न्याय के माध्यम से लोगों में धर्म एवं न्याय के प्रति अनुराग पैदा करना था; किन्तु इन समस्त निष्पक्षताओं के बावजूद न्याय एवं न्यायिक प्रक्रिया पर वर्ण एवं वर्ग का प्रभाव लक्षित होता है और उसके अनुरूप न्यायदान की व्यवस्था मिलती है।



1. दैनिक भास्कर, 26 जनवरी, 2013, पृ 10
2. *मनुस्मृति*, 9.267-271
3. वही, 9. 276.277
4. वही, 9.275
5. वही, 9.244
6. वही, 9.262

1. *मनुस्मृति*, 8.379

# 7.

## उपसंहार

# नि

क्षर्पतः यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ से ही व्यक्ति के जीवन, विकसित होते समाज और तदनु रूप उभरती जटिलताओं के कारण समाज के नियमन-संयमन व विविध गतिविधियों के निर्वाह संपादन के लिए समय-समय पर अनेक नियम-विधानों का गठन हुआ। मनीषियों व चिन्तकों द्वारा युगविशेष में परिवर्तित होती जीवनशैली के कारण इन नियम-विधानों का संकलन धर्मग्रन्थों के रूप में किया गया। भारतीय संस्कृति में इस प्रकार के साहित्य को 'धर्मशास्त्रीय साहित्य' की उपमा दी गई है। धर्मशास्त्र-साहित्य में स्मृतियों का विशिष्ट स्थान है। स्मृति-साहित्य से अपराध, दण्ड एवं न्याय-विधान का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है, उसका प्रारम्भ *मनुस्मृति* से ही माना जाता है। *मनुस्मृति* को प्राचीन ऐतिहासिक, सामाजिक विधि-विधानरूपी ग्रन्थ के रूप में महत्ता प्राप्त है। स्मृतियों की विषयवस्तु कालसापेक्ष है और समय-समय पर सामाजिक आवश्यकता के कारण इनमें संकलित व्यवस्थाओं का औचित्य भी सुविज्ञात है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान तक धर्मशास्त्रों, विशेषकर *मनुस्मृति* से संबंधित जिज्ञासाओं व उससे संबंधित जटिल प्रश्नों के निराकरण का प्रयास विद्वानों ने अपनी मनीषा से करने का प्रयास किया है। विद्वानों द्वारा इस दिशा में किए गए प्रयास महत्वपूर्ण ही नहीं अपितु धर्मशास्त्रकालीन जीवन के विविध पहलुओं को स्पष्ट करने का एक मनु का दण्ड-विधान

अभिनव प्रयास है। पूर्व के सभी विद्वान् इस मत के समर्थक हैं कि हिंदू जीवन-पद्धति को अनुशासित व संयमित करनेवाली आचार-संहिता का प्रारम्भ *मनुस्मृति* से ही हुआ है लेकिन पूर्व के यह सभी मत ग्रन्थ में वर्णित विधि, अपराध व दण्ड की प्रासंगिकता व मूल्यपरकता को लेकर मौन हैं। निश्चय ही विधि, अपराध व दण्ड के परिगणन पर समसामयिक वातावरण का प्रभाव होता है। सामान्यतः विधि-विधान युग व काल के अनुरूप परिवर्तित होती जीवनशैली के प्रतीक होते हैं और निःसन्देह ये तत्कालीन जीवन व परिवेश का परिणाम होते हैं। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि कालविशेष में संकलित हुए विधि-विधान प्रत्येक युग की आवश्यकता को पूर्ण करने में समर्थ हों। इस प्रकार का मत *मनुस्मृति* के सन्दर्भ में भी मान्य किया जा सकता है। लेकिन यह एक अकाट्य सत्य है कि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक संस्कृति होती है और उसी के अनुरूप वहाँ के जीवन-पोषित मूल्यों का निर्धारण होता है। यही बात भारतीय संस्कृति के विषय में उचित जान पड़ती है। भारतीय संस्कृति की यह विडम्बना है कि वर्तमान भारतीय समाज की अधिकतर व्यवस्थाएँ वैदिक मूल्यों पर आधारित न होकर पाश्चात्य मूल्यों पर आधारित हैं। विगत लगभग दो शताब्दी से भारतीय संस्कृति व उसमें निहित मूल्य व ज्ञान तत्त्व का पाश्चात्य विद्वानों व उनके मानस पुत्रों द्वारा उपहास उड़ाया जा रहा है। इन विद्वानों का यह मत कि भारतीय जीवन-पद्धति में एक सुव्यवस्थित विधिक परम्पराओं का अभाव था, वास्तव में भारतीय गौरव को कलंकित करने का प्रयास है। वर्तमान के नित नव-अनुसंधानों ने न सिर्फ प्राचीन भारतीय इतिहास की पुरातनता को सिद्ध किया है वरन् उन विविध व्यवस्थाओं को स्पष्ट किया है जिससे भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। भारतीय संस्कृति एक प्रकार की विशिष्ट आचारमूलक विधि-विधानों का प्रतिपादन करती है। ये आचारमूलक कर्म ही भारतीय विधि का प्राकरूप है। सदियों से विधि के इस अखण्ड दुर्धर्ष स्वरूप ने ही भारतीय जीवन-मूल्यों को चिरन्तर बनाए रखने का कार्य किया है।

यद्यपि भारतीय परम्परा में सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनु को मानवीय मूल्यों के सृजनकर्ता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया तथापि भारतीय संस्कृति में वेदकाल से ही विधि-विधानों के क्रियान्वयन व अनुपालन के निमित्त विविध संस्थाओं का गठन व विकास प्रारम्भ होता दिखाई देता है। ऋग्वेदकालीन संस्कृति को ही भारतीय मूल्यों के आधार स्तम्भ के रूप में मान्यता प्रदत्त की गई है।

प्रारम्भ में इन संस्थाओं द्वारा क्रियान्वित विधि-विधानों का स्वरूप विधि-निषेधात्मक था। इस रूप में व्यक्ति के जीवन से संबंधित विविध पक्षों के सुव्यवस्थितिकरण के लिए अनेकानेक परम्परामूलक विधान अस्तित्व में आए जो व्यक्ति व समाज के विकास के लिए उपयोगी कहे जा सकते हैं। ध्यातव्य है कि इन नियम-विधानों का समाज और व्यक्ति के बदलते व्यक्तित्व के साथ संशोधन-परिमार्जन होता रहा। इसी के फलस्वरूप जो नियम-विधान समय के साथ रुढ़ होते गए, उनका मनीषियों द्वारा अपवर्जन कर दिया गया व नूतन विधिक मान्यताओं का उनमें समायोजन कर लिया गया। इस प्रकार आवश्यकता के अनुरूप निर्मित हुए नियम-विधानों को अपराध व दण्ड-विधान की उपमा दी गयी। नियम-विधानों के अस्तित्व में आने व उनमें संशोधन-परिवर्द्धन की यह प्रक्रिया पूर्व-वैदिककाल से प्रारम्भ होती है जिसका कालान्तर में क्रमशः उत्तर-वैदिक, सूत्रकाल में विकास परिलक्षित होता है। विकास की यही प्रक्रिया स्मृतियों के काल तक अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती प्रतीत होती है।

वैदिक संस्कृति के देदीप्यमान जीवन का प्रारम्भ ऋग्वेदकाल से माना जाता है। प्राचीन भारतीय जनमानस के निमित्त वर्णित नियम-विधान व विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति के रूप में संकलित ऋग्वेद को पूर्व-वैदिक साहित्य और उसमें प्रतिबिम्बित चित्रण को प्राचीन भारतीय इतिहास में 'पूर्व-वैदिक काल' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। ध्यातव्य है कि पूर्व-वैदिक काल, उत्तर-वैदिक काल-जैसी विघटित अवधारणाएँ पाश्चात्य, साम्राज्यवादी, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की अवधारणा से उपजा एक मिथक प्रपञ्च है। वस्तुतः नवीनतम शोधों के आलोक में निःसन्देह पूर्व-वैदिक काल व उत्तर-वैदिककाल (संहिताकाल) को समग्र रूप में लेना अब इतिहाससम्मत जान पड़ता है। भारतीय अस्मिता के द्योतक इस ऐतिहासिक (ऋग्वेद) ग्रन्थ के काल को लेकर विद्वानों में मतान्तर है। ऋग्वेद को लेकर दीर्घ काल से चले रहे शोध-कार्यों के परिणामस्वरूप इस प्राचीनतम ऐतिहासिक ग्रन्थ के काल-निर्धारण और उसके विभिन्न मण्डलों के कालक्रमिक स्तरीयकरण की दिशा में विद्वानों को उल्लेखनीय सफलता मिली है। ऋग्वेदकालीन भौगोलिक परिक्षेत्र से संबंधित नवीन धारणाओं को बल मिला है। ऋग्वैदिक सभ्यता अपने अन्दर विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र को समाहित किए हुए थी, लेकिन अपने प्रारम्भिक स्वरूप में इस सभ्यता का क्षितिज सरस्वती व सप्तसैन्धव व उसके सीमावर्ती क्षेत्रों तक व्याप्त था। इस विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन

उस विषय को लेकर सामने आया है जिसने वर्तमान तक भारतीय समाज को विभाजित करने व उनमें आपसी वैमनस्य को बढ़ावा दिया। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित 'आर्य-आक्रमण सिद्धान्त' (The Aryan Invasion Theory) नव-अनुसंधानों के प्रकाश में मिथक सिद्ध होने लगा है। वर्तमान में इस विचार को मान्यता दी जाने लगी है कि आर्यों का भारत से बर्हिगमन हुआ है। ऋग्वेद से मानव जीवन के उषाकाल से लेकर कालान्तर में समृद्धि को प्राप्त हुए समाज का चित्रण प्रस्तुत होता है। वहाँ कहीं सुख-शान्ति का उल्लेख है तो कहीं आपराधिक अराजकता का। दोनों ही स्थितियाँ समानान्तर विकास करती परिलक्षित होती हैं। प्रकृति ही मानवीय मूल्यों की अधिष्ठातृ देवी है तो कहीं राजकीय विधि ही व्यक्ति को संयमित व अनुशासित करने का माध्यम है। ऋग्वेदकालीन समाज में 'ऋत्' (नैसर्गिक विधि) को नियम-विधानों की सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए व्यक्ति, समाज, यहाँ तक कि देवतागण को भी ऋत् के द्वारा नियमित-संयमित करने का भाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः ऋग्वेद में एक निश्छल मानवीय जीवन की परिकल्पना है जो नैतिक कर्मों व मूल्यों का प्रतिपादन करती है। यद्यपि यह वह समय था जब समाज में विविध निकायों की नींव रखी जा रही थी। इसलिए ऋग्वेद की ऋचाओं में पाप व अपराध पृथक्ता का भाव लिए प्रतीत नहीं होते। फिर भी पाप और अपराध के आधारभूत कारणों, परिस्थितियों आदि अपराधमूलक अभिव्यञ्जनाओं के स्वर सुनाई देते हैं। इन्हीं के आधार पर ज्ञात व अज्ञात अवस्था में किए गए पाप और उसके लिए दिए जानेवाले दण्डों में विभेद हुआ।

उत्तर-वैदिक काल में पूर्व-वैदिककालीन ऋत् का स्थान धर्म ने ग्रहण कर लिया और धर्म की व्याख्या सामाजिक विधि के रूप में की गयी। इस काल में धर्म आचरण की उस संहिता के रूप में विकसित हुआ जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में नियन्त्रित होता था। वस्तुतः यह काल सभ्यता के बहुआयामी विकास का परिचायक है। इस काल में पाप और अपराध अधिक स्पष्ट होने लगते हैं, साथ ही सामाजिक विधि एवं अपराधों की सूची में आवश्यक नये नियमों का समावेश होता रहा। इन्हीं परिवर्तनों के कारण व्यक्ति के नियमन-संयमन हेतु सर्वप्रथम शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता दण्ड के रूप में चरितार्थ हुई, जिसका उल्लेख शतपथब्राह्मण में मिलता है। कालान्तराल क्षेत्र-विस्तार, आर्य-आर्येतर (वनवासी या ग्रामीण जातियाँ) संस्कृतियों के मिश्रण,

बौद्ध मत के प्रादुर्भाव व प्रचार आदि के कारण समाज में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से वैदिक पारम्परिक ज्ञान को सुरक्षित रखने एवं व्यक्ति व समाज के नियमन-संयमन की दृष्टि से व वैदिक साहित्य को समझने एवं लोकप्रिय बनाने तथा किञ्चित् परिवर्तनशील समाज की आवश्यकता के अनुरूप नये विधानों के साथ पुरानी मान्यताओं व नियमों को संशोधित-परिवर्द्धित करके सूत्र-साहित्य के रूप में संकलित किया गया। सूत्र-साहित्य का स्वरूप विधि-निषेधात्मक है। इसके अंतर्गत कौन-सा आचरण उचित है या नहीं व कौन-सा कार्य करणीय और कौन-सा अकरणीय, इसका निर्देश प्राप्त होता है। इस काल में इसी प्रकार के करणीयाकरणीय कार्यों का परिगणन अपराध के रूप में कर लिया गया। इन अपराधों के उन्मूलन के लिए विधि या विधान का प्रतिपादन वेद और धर्मग्रन्थ, आचार, नियम तथा परम्परा के आधार पर किया गया। वैदिक व सूत्रकाल के तदनन्तर बदलते समय एवं समाज के अनुरूप पुराने नियम-विधानों में संस्कार-परिष्कारकर अन्य आवश्यक नियम-विधानों का गठनकर स्मृति-साहित्य के रूप में संकलित करने की परम्परा विकसित हुई।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक चिन्तकों व मनीषियों के मस्तिष्क में मनु एवं *मनुस्मृति* को लेकर अनेक जिज्ञासाएँ सदैव बनी रही है। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आलोक में निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि *मनुस्मृति* का वर्तमान स्वरूप मनु की रचना व विचारणा न होकर उनके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक विधिक नियम एवं सिद्धान्तों के आवश्यक मंतव्यों का संकलन है। प्रबलतम सम्भावना यही बनती है कि ऐतिहासिक मनु जब एक चिन्तक मनीषी के रूप में मान्यता प्राप्त कर गए तो व्यक्ति एवं समाज के नियमन-संयमन के लिए चतुर्थ से प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई पू में मनु द्वारा प्रतिपादित विधि-विधानों के संकलन का निर्णय लिया गया और समयानुसार समाज के नियमन-संयमन के लिए पुराने नियमों को परिष्कृत करते हुए आवश्यकतानुसार नूतन नियमों का निर्माण किया गया। वस्तुतः स्मृतियों की विषयवस्तु कालसापेक्ष है जिनमें कालानुरूप परिवर्तित हुई व्यवस्थाओं के लिए नियम-विधानों का विधान किया गया है। यह कथन *मनुस्मृति* के सन्दर्भ में भी उचित जान पड़ता है।

प्राचीन भारतीय परम्परा में *मनुस्मृति* को सर्वप्रथम विधिक ग्रन्थ की उपमा से अभिहित किया गया है। मनु व *मनुस्मृति* को 'भारतीय परम्परा में मनु' व 'आधुनिक परम्परा में मनु'-जैसी अवधारणाओं पर विचार करके ही स्पष्ट

किया जा सकता है। जनश्रुतियों और मान्यताओं से ज्ञात होता है कि वर्तमान *मनुस्मृति*, पूर्व *मानवधर्मशास्त्र* का ही संक्षिप्त संशोधित-परिवर्द्धित रूप है। निःसन्देह युगानुरूप परिवर्तित होते समाज, सामाजिक विकास और रुढ़ होती परम्पराओं के चलते इसमें संशोधन-परिवर्तन किया गया। व्यक्ति, समाज में युगानुरूप होनेवाले परिवर्तनों के नियमन-संयमन के लिए निर्मित विधानों का ही इस विधिक ग्रन्थ में वर्णन है। इसलिए कालान्तर से प्रकारान्तर तक जनसामान्य के संवर्धन के लिए जिन प्रशस्त और उदार नियमों की आवश्यकता होती है, उनके लिए भारतीय संस्कृति सदैव मनु की ऋणी रहेगी। *मनुस्मृति* में वर्णित आंतरिक साक्ष्यों और उसके तदनुरूप बाह्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ के वर्तमान स्वरूप का संकलन उन विषम परिस्थितियों के उन्मूलनार्थ हुआ जो सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उपजी थी। यह वह काल था जिसमें सामाजिक व्यवस्थाओं की परिणति अव्यवस्थाओं के रूप में हो रही थी। बौद्ध और जैन मत के अवैदिक गृहस्थ त्यागी चिन्तन के फलस्वरूप वैदिक तत्त्व-दर्शन, परम्पराओं के प्रति अनास्था या विद्रोह हो चुका था। इन्हीं विषम परिस्थितियों के उन्मूलनार्थ वैदिक नियम-विधानों की *मनुस्मृति* के रूप में पुनः व्याख्या की गयी।

ग्रन्थ में मनु द्वारा आख्यायित वैदिक धर्म ही विधि है। धर्म ही मुख्यतः इस विधि-ग्रन्थ की विषयानुक्रमणी का मूलाधार है। वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से 'धर्म' शब्द को गवेषित करना कठिन कार्य है। भारतीय दर्शन में धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक न होकर आचरण की संहिता का पर्याय है। वस्तुतः मनु के धर्म का प्रेरक तत्त्व वैदिक दर्शन पर ही आधारित है। मनु स्वयं वेद तथा स्मृतियों पर आधारित धर्म के अनुसरण का परामर्श देते हैं। *मनुस्मृति* में धर्म एक ऐसे बृहत् निकाय के रूप में वर्णित है जिसमें व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत नियम-विधानों से आबद्ध किया गया है। यहाँ धर्म व्यक्ति के आचारमूलक कर्मों व विधिक संहिता का पर्याय है। इस प्रकार मनु का धर्म व्यक्ति व वर्णों के नित्य आचारमूलक कर्तव्यों की अनुशंसा करता है।

धर्मशास्त्रों में *मनुस्मृति* को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसलिए प्राचीन लेकर वर्तमान तक के पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से विधि के इस अद्वितीय ग्रन्थ की प्रशंसा की है जो उचित भी प्रतीत होती है। चिन्तन सदैव ही युग और समाज की मांग का प्रतिमान होता है और यह प्रतिमान प्रत्येक युग में निर्धारित की गई विभिन्न व्यवस्थाओं में उत्पन्न विकृतियों के परिणामस्वरूप

निर्मित होता है। यदि *मनुस्मृति* को चतुर्थ से विशेषकर प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई पू की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों में उपजी विकृतियों के परिणामों का सुफल कहा जाए तो यह कथन सर्वथा अनुचित नहीं होगा।

*मनुस्मृति* मुख्यतः एक विधि-निषेधात्मक ग्रन्थ है। इसमें सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से प्रवर्तन में लाए जानेवाले व्यक्ति के विभिन्न दायित्वों व कर्तव्यों का सांगोपांग विवेचन मिलता है। इस ग्रन्थ में संकलित हुए अपराधों का प्रारम्भिक स्वरूप विधि-निषेधों की परम्परा के रूप में उभरकर सामने आता है। मुख्यतः *मनुस्मृति* विधि-निषेधों पर दिया गया आख्यान है जिसमें किस प्रकार का कार्य करणीय और अकरणीय है, इससे संबंधित विधि-विधानों की व्याख्या मिलती है। इन्हीं विधि-निषेधात्मक अभिव्यञ्जनाओं में यत्र-तत्र अपराधों से संबंधित व्याख्याएँ मिलती हैं। वस्तुतः अपने वैशिष्ट्य-भाव में विधि-निषेधों की यह परम्परा व्यक्ति के विधियानुकूल वृत्ति व आचरण का परिचायक है। मनु विविध विधिक उपबन्धों के माध्यम से व्यक्ति को सत्पथ के अनुगमन का परामर्श देते हैं। उपर्युक्त विधि-निषेधों में परस्पर विषमांगिता है; कहीं यह धार्मिक कर्मकाण्ड के सूचक है तो कहीं उनमें पर्यावरण व स्वास्थ्य के प्रति उद्बोधन है; कहीं वे आयुर्वेदीय या ज्योतिषीय महत्त्व के प्रतीत होते हैं तो कहीं केवल आत्मज्ञान से प्रसूत हुए लगते हैं, किन्तु इन्हें किसी भी स्थिति में अनावश्यक और निरर्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता। मनु स्वयं इन्हें आत्मकल्याण का साधन मानते हैं। इस प्रकार के विधिसम्मत नियमों की अवेहलना का व्यवहार प्रत्येक युग में अशिष्ट माना जाता है। भारतीय संस्कृति में शिष्टाचार ही विधि का पर्याय है। मनु ने शिष्टाचाररूपी विधि के माध्यम से ही व्यक्ति को अनुशासित करने का प्रयास है। निश्चित ही यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि हिंदू जीवन पद्धति में प्रारम्भ से ही नैतिक नियमों को महत्ता प्रदत्त की गई है। अशिष्टता व अनैतिक आचरण ही कालान्तर में पापकृत्यों व अपराध में परिवर्तित होता है। चातुर्वर्ण्य-संगठन के आचार-विचार पर आधारित मनु का धर्म दस नैतिक मूल्यों (विधि) का प्रतिपादन करता है। यही नैतिक मूल्य व्यक्ति को सत्पथ के अनुगमन के लिए प्रेरित करते हैं। संक्षेपतः यही नैतिक मूल्य विधि-निषेध की परम्परा के पर्याय हैं। मनु द्वारा प्रतिपादित आपराधिक व दण्ड-विधि वर्तमान में कितनी औचित्यपूर्ण है या वर्तमान

परिस्थितियों में ये कितने मूल्यपरक व प्रासंगिक हो सकते हैं, इसका निर्धारण करना कठिन कार्य है; लेकिन निःसन्देह ही विधि-निषेधों के माध्यम से प्रतिपादित विधिक उपबन्ध व्यक्ति व समाज के लिए वर्तमान में उतने ही प्रासंगिक हैं जितने प्राचीन काल में थे। वर्तमान में प्रशासन द्वारा जनहित में की जानेवाली उद्घोषणाएँ विधि-निषेधों का ही एक रूप हैं।

वैदिक व सूत्रकाल में कर्म-अकर्म की भावना के कारण पुण्य-पाप व उससे संबंधित महापातक व पातक-संबंधी अवधारणा अस्तित्व में आ चुकी थी। *मनुस्मृति* में इसी महापातक-पातक संबंधी विचार को विस्तार से उल्लिखित करने का प्रयास किया गया है। इन पापकृत्यों के परिमार्जन व उनसे शुद्धि के निमित्त ग्रन्थ में सामाजिक-धार्मिक विधि द्वारा क्रियान्वित होते दण्ड-विधान (प्रायश्चित्त) का सविस्तार वर्णन मिलता है। यद्यपि पापमयी परिणामों के दुष्प्रभावों को कम करने के उद्देश्य से दण्ड के प्रथम पर्याय के रूप में प्रायश्चित्तों का विधान वेदकाल से ही दिखाई देने लगता है।

*मनुस्मृति* से अपराध के स्वरूप, चिन्तन और वर्गीकरण पर समसामयिक वातावरण का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। और यह तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल था। इस काल में वैदिक समाज के प्रति उपजी अनास्था के कारण करणीयाकरणीय कार्यों का विधान किया गया एवं पाप की अवधारणा को अपराध के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। इसलिए *मनुस्मृति* में उपलब्ध नियम-विधानों से अपराध का परिवर्धनशील स्वरूप उभरकर सामने आता है जिनका निराकरण न्यायालय का विषय होता है। एक निश्चित प्रक्रिया के अंतर्गत वाद का निराकरण करके उत्पीड़ित व्यक्ति के लिए उपचार और उत्पीड़क के लिए दण्ड का विधान किया जाता है।

*मनुस्मृति* में मुख्यतः अपराधों को 18 शीर्षकों में विभाजित करते हुए तत्कालीन जीवन में व्याप्त बुराइयों व सामाजिक विशृंखलन को विश्लेषित करने का प्रयास मिलता है। मनु का मत है कि मुख्यतः इन 18 विषयों के फलस्वरूप ही विवाद की उत्पत्ति होती है। यद्यपि *मनुस्मृति* में इन विषयों के अन्यत्र यातायात, पर्यावरण व इसी के समरूप प्रतीत होनेवाले साधारण प्रकृति के अपराधों का उल्लेख भी मिलता है। निश्चित ही मनु ने अपनी अपराध-सूची में गम्भीर विषयों को सम्मिलित किया है। मनु ने अपराध और विधि-संहिता के माध्यम से समाज



के विविध उपक्रमों को सुगठित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार के प्रयासों में सुव्यवस्थित बाज़ार-व्यवस्था व उपभोक्ता-कल्याण, कर्मचारी-कल्याण, भूमि-विवाद व स्वामित्व से संबंधित विधियों का परिज्ञान होता है। इन अपराधों के अलावा मनु ने भ्रष्टाचार, राजद्रोह, सार्वजनिक सम्पत्ति व पर्यावरण को नुकसान पहुँचाना, जीवहत्या-जैसे अन्य विविध विषयों के सन्दर्भ में सारगर्भित विवेचना प्रस्तुत की है। वस्तुतः मनु की अपराध-संहिता वर्तमान अपराध-संहिता का ही प्राक् रूप है। वर्तमान परिवेश से उस कालविशेष की तुलना करना अप्रासंगिक होगा। लेकिन यह कहना इतिहाससम्मत है कि अन्य सभ्यताओं की तुलना में प्राचीन भारत में श्रेष्ठ विधि-व्यवस्था थी, तथाकथित विद्वानों का यह मत स्वतः ही धराशायी हो जाता है कि भारतीय सदैव ब्रितानियों के ऋणी रहेंगे, क्योंकि आधुनिक भारत का यह प्रगत स्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य का ही परिणाम है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि मानव-जीवन से संबंधित विविध व्यवस्थाओं का ऐसा कोई पहलू नहीं है जिस पर भारतीय मनीषियों ने विचार नहीं किया हो। भारत में ब्रितानी विधि के क्रियान्वयन से पूर्व एक सुगठित विधि और न्यायिक व्यवस्था प्रचलित थी। निश्चित ही यूरोपीय देश, भारतीय संस्कृति के ऋणी हैं— इस बात के अनेक प्रमाण ब्रिटिशभक्त इतिहासकारों द्वारा इतिहास के पन्नों से मिटा दिए गए हैं।

मनु ने अपराधजनित, विषादयुक्त, अराजक वातावरण को संयमित करने व अपराधों के उन्मूलन के लिए ग्रन्थ में दण्ड को सर्वांग रूप में पारिभाषित किया है। ग्रन्थ में दण्ड को नियन्त्रक व अनुशासन के सर्वोच्च पर्याय के रूप में महत्ता प्रदत्त की गई है। तत्कालीन जीवन में दण्ड पालक व सत्य पर अनुगमन का माध्यम था। विस्तृत निहितार्थ में दण्ड धर्म (विधि) का रक्षक व प्रणेता है। भारतीय विधिक चिन्तन में दण्ड मर्यादा का पर्याय है। मनु ने दण्ड के आध्यात्मिक चिन्तन पर बल देते हुए दण्ड के त्रिदण्ड के सिद्धान्त का समर्थन किया है। यह एक शाश्वत सत्य है कि यदि व्यक्ति स्वयं की इच्छाओं पर नियन्त्रण रखे तो समाज में अराजकता का वातावरण ही निर्मित न हो। वर्तमान में दण्ड-विधि व्यक्ति के अपराध का निरोध करती है। लेकिन प्राचीन भारतीय विधिक चिन्तन में दण्ड-नीति मुख्यतया अपराध के कारणों के उन्मूलन को ही महत्ता प्रदत्त करती है। इसलिए मनु ने व्यक्ति के लिए धर्मानुकूल जीवन के निर्वहन के लिए आचरणरूपी कर्मों का प्रतिपादन किया है। *मनुस्मृति* में

प्रतिपादित दण्ड-विधान की शक्ति को व्यक्ति व समाज से सर्वाच्च मानने की परम्परा मिलती है। किन्तु दण्ड की यह शक्ति भी विधि के नियन्त्रण से परे नहीं हो सकती थी। दण्ड को सामाजिक स्थिति के साथ सम्बद्ध करते हुए उसे वर्णाश्रम-धर्म एवं विधि के संस्थापक व नियन्त्रक के रूप में मान्यता प्रदत्त की गई है।

अपराधों के उन्मूलन, व्यक्ति के संयमन और विधि व दण्ड को क्रियान्वित करने के लिए *मनुस्मृति* में सुगठित न्यायिक प्रशासन की महत्ता पर बल दिया गया है। इस न्यायिक-प्रक्रिया के अंतर्गत सुदृढ़ न्यायिक-प्रशासन, संगठन की स्थापना की गयी। न्यायिक संस्थाओं द्वारा क्रियान्वित किए जानेवाले विधिक नियमों व विधि के स्रोतों में भी व्यापक विस्तार देखने को मिलता है। जहाँ वैदिक व सूत्रकाल में विधि पूर्णरूप से ऋतु और धर्म पर आश्रित दिखाई देती है, वहीं इस काल में आचरण, परम्पराओं, मान्यताओं को भी विधि के स्रोतों के रूप में मान्यता प्रदत्त की गयी। इस प्रकार का परिवर्तन सतत विकास के परिणामों का सुफल था। न्याय-विधान को निष्पक्ष बनाने के लिए इस काल में न्यायाधिकारियों के साथ-साथ साक्ष्य व साक्षियों की योग्यता एवं अयोग्यता को निर्धारित किया गया। न्यायिक संगठन में विभिन्न प्रकार के न्यायालयों की स्थापना भी न्यायिक विकास के अग्रगामी चरण के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इन न्यायालयों को वर्तमान न्यायालयों के प्राक् रूप में लेना युक्तिसंगत होगा। यही बात न्यायिक प्रक्रिया के संबंध में भी उचित लगती है जिसमें आवेदन-प्रस्तुतिकरण से लेकर, व्यवहारोपजीवी, साक्ष्य व साक्षियों की महत्ता पुनर्विचार, निर्णयावधि आदि ऐसे पहलू हैं जिन पर प्राचीन भारतीय विधि में सर्वप्रथम विचार किया गया। न्याय-विधान की यही परम्परा प्रकारान्तर में अपने विकसित स्वरूप के साथ भारतीय जनमानस को शासित करती परिलक्षित होती है। *मनुस्मृति* से ऐसा लगता है कि न्याय की यह संस्था राजकीय व राजकीयेतर— दोनों प्रकार की हो सकती थी। *मनुस्मृति* से तत्कालीन न्यायिक प्रशासन का स्पष्ट स्वरूप उभरकर सामने आता है। इसलिए इस काल में विधि के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक सुव्यवस्थित न्यायिक प्रशासन की स्थापना पर बल दिए जाने का अनुमान होता है। न्यायिक कार्यों के संपादन के लिए राजा एवं अन्य न्याय-प्रमुखों के नैतिक आचरण पर अत्यधिक बल देते हुए उन्हें धर्म द्वारा शासित किया गया। न्यायाधिकारियों की नियुक्ति में बौद्धिक क्षमता के साथ ही उनकी सामाजिक,

नैतिक योग्यता को भी ध्यान में रखा जाता था। न्यायालयों के अंतर्गत त्र्यवरा व दशावरा परिषद् का उल्लेख मिलता है जिनकी तुलना वर्तमान उच्च व उच्चतम न्यायालय के साथ की जा सकती है। न्यायालयों की सबसे लघु इकाई के रूप में कुल न्यायालय थे। इसके अन्यत्र ग्रामीण व नगरीय विवादों के निराकरण के लिए भी न्यायालयों के अस्तित्व में होने के प्रमाण *मनुस्मृति* से प्राप्त होते हैं। *मनुस्मृति* में न्यायिक कार्यप्रणाली के लिए एक निश्चित समय-सीमा पर जोर दिया गया है जिसकी मानक अवधि 45 दिन निर्धारित थी। इस प्रकार की समयावधि का वर्तमान विधिक व्यवस्था में सर्वत्र अभाव है, भारत के न्यायालयों में लाखों मुकदमों के रूप में करोड़ों लोग न्याय की प्रतीक्षा में हैं। इसलिए वर्तमान न्यायालयों में विचाराधीन मामलों की दशा शोचनीय है, व्यक्ति को न्याय की आशा में वर्षों इंतजार करना होता है। यह है ब्रितानी और उनके मानस पुत्रों के द्वारा स्थापित विधिक व संवैधानिक व्यवस्था !

व्यक्ति द्वारा किए गए अपराधों के उन्मूलन व न्याय-विधान में निहित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए *मनुस्मृति* में दण्ड का विधान किया गया जो दण्ड के निर्धारित सिद्धान्तों पर आधारित था। तत्कालीन न्यायिक व्यवस्था में अपराधी को सुधारात्मक दण्ड देने-संबंधी प्रमाण *मनुस्मृति* के उद्धरणों से उभरकर सामने आते हैं। इसलिए मनु सर्वप्रथम अपराधी को वाक् व धिग्दण्ड देने का परामर्श देते हैं, तदुपरान्त ही अन्य दण्डों के क्रियान्वयन की अनुशंसा करते हैं। इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था से उन दुराग्रहों का स्वतः ही निवारण हो जाता है जिनसे कठोर या प्रतीकारात्मक दण्ड के प्रचलन में होने की बात उभरकर सामने आती है।

वस्तुतः भारतीय विधिक परम्परा व *मनुस्मृति* में वर्णित अपराध व दण्ड-विधान का वर्तमान समय में क्या औचित्य है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। मनु द्वारा प्रतिपादित दण्ड-विधान का वर्तमान में भले ही औचित्य उस रूप में न हो जिस रूप में आज भारतीय विधिक व्यवस्थाओं का है; क्योंकि विधिक चिन्तन व दर्शन वस्तुतः कालसापेक्ष है। वर्तमान भारत पर पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने भारतीय मान्यताओं व परम्पराओं को ध्वस्त कर दिया है। जिन भारतीय परम्पराओं व मूल्यों को हमारे चिन्तकों व मनीषियों ने अपने अथक प्रयासों से सहेजा था, उसे सैन्य व सांस्कृतिक अभियानों के माध्यम से विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा नष्ट कर दिया गया। एक हजार वर्षों की परतन्त्रता ने हमारी मूल्यपरक व्यवस्थाओं को खण्ड-खण्ड कर दिया। स्वतन्त्रता से पूर्व व पश्चात् के विद्वानों ने

भारतीय मान्यताओं को रूढ़िवादी सिद्ध करते हुए भारतीय संस्कृति को पुनः परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ दिया। भारतीय जनमानस पर एक ऐसी संवैधानिक व्यवस्था के अधीन कर दिया गया जो भारतीय मानस के सर्वथा अनुकूल नहीं थी। यही बात अपराध, दण्ड व न्यायिक व्यवस्था के विषय में उचित प्रतीत होती है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक स्वाभाविक सांस्कृतिक परम्परा होती है और उसके अनुरूप ही वहाँ के नियम-विधानों का निर्माण होता है। लेकिन भारत में आज भी मुस्लिम शासकों व अंग्रेजों द्वारा प्रतिपादित विधिक व्यवस्थाओं को ही क्रियान्वित किया जा रहा है।

अन्ततः *मनुस्मृति* के सतर्क विश्लेषण से यह आभासित होता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति निःसन्देह एक गौरवपूर्ण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। पाश्चात्य विद्वानों का यह मत कि प्राचीन भारत में एक सुव्यवस्थित न्याय-विधान की परम्परा का अभाव था और भारतीय सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रति सजग नहीं थे, निराधार लगता है; क्योंकि भारतीय संस्कृति धर्ममूलक, चिन्तन-प्रधान संस्कृति है। इसलिए प्राचीन भारत में व्यक्ति व समाज के नियमन-संयमन के लिए जिन संस्थाओं का उदय हुआ, उनके मूल में वस्तुतः धर्ममूलक अवधारणा निहित थी। धर्म ही व्यक्ति व समाज के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करने का माध्यम था, इसलिए प्राचीन भारत में धर्म को ही प्रधानता दी गयी और इसीलिए उसका दण्ड धर्मानुमोदित था और कदाचित् उसके इसी रूप ने पाश्चात्य चिन्तकों को भ्रम में डाल दिया अन्यथा *मनुस्मृति* से स्पष्ट है कि वह एक सामाजिक नियमन-संयमन और उसके लिए विविध प्रकार के धर्मानुमोदित दण्डों का संकलन है और वह प्राचीन भारतीय पाप और पुण्य का ही विकसित रूप है। वर्तमान में यदि विश्व-इतिहास के सन्दर्भ में विचार करें तो हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि जिन संस्थाओं को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महत्त्व दिया जा रहा है, उसका उद्गम प्राचीन भारत में वेदकाल में ही हो चुका था। वर्तमान में यदि भारतीय संस्कृति के मूल में छिपे विभिन्न पक्षों को स्पष्ट करना है तो पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय चिन्तन को भारतीय-दृष्टि से देखना होगा।



# आधार-ग्रन्थ-सूची

## संस्कृत एवं हिंदी आधार-ग्रन्थ :

- अथर्ववेद**, अनुवादक : श्रीराम शर्मा आचार्य, **प्रकाशक** : संस्कृति संस्थान, वेदननगर, बरेली, उ०प्र०, 1967
- अथर्ववेद**, **प्रकाशक** : निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, 1895-1898
- अथर्ववेदसंहिता**, अनुवादक : रामचन्द्र शर्मा, **प्रकाशक** : सनातन धर्म मंत्रालय, मुरादाबाद, प्रथम संस्करण, 1986
- अशोक के अभिलेख**, लेखक : राजबली पाण्डेय, वाराणसी, 1965
- अताध्यायी**, **प्रकाशक** : कपूर रामलाल ट्रस्ट अमृतसर, 1964-68
- आचारांगसूत्र**, **प्रकाशक** : आगमोदय समिति, सूरत, 1935
- आपस्तम्बधर्मसूत्र**, अनुवादक : उमेशचन्द्र पाण्डेय, **प्रकाशक** : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1969
- आर्य कौन थे ?**, लेखक : राम साठे, अनुवादक : किशोरीलाल व्यास, **प्रकाशक** : भारतीय इतिहास संकलन समिति, हैदराबाद, द्वितीय संस्करण, 1992
- आर्यावर्त का प्राचीन इतिहास**, लेखक : ठाकुर नगीनाराम परमार, अनुवादक : ठाकुर रामसिंह, संपादक एवं संशोधक : रविप्रकाश आर्य, **प्रकाशक** : बाबा साहेब आपटे स्मारक समिति, आपटे स्मृति भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली, 2004
- आश्वलायनगृह्यसूत्र**, **प्रकाशक** : आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1937
- इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त**, लेखक : गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, **प्रकाशक** : राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-4, पंचम संस्करण, 1999
- उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति**, लेखक : विजयबहादुर राव, **प्रकाशक** : भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
- उपनिषत्कालीन समाज एवं संस्कृति**, लेखक : राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी, **प्रकाशक** : परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1983

- ऋग्वेद का सुबोध भाष्य**, भाष्यकार : श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, **प्रकाशक** : स्वाध्याय मण्डल, पारडी, गुजरात, 1970
- ऋग्वैदिक आर्य**, लेखक : राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, 1957
- ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता**, लेखक : डॉ० शिवाजी सिंह, **प्रकाशक** : भारतीय इतिहास संकलन समिति, काशी प्रान्त, वाराणसी, 2004
- ऐतरेयारण्यक : एक अध्ययन**, लेखक : सुमन शर्मा, **प्रकाशक** : स्टर्न बुक दिल्ली, 1981
- कठोपनिषद्**, **प्रकाशक** : निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, 1930
- कला और संस्कृति**, लेखक : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, **प्रकाशक** : साहित्य भवन, लिमिटेड इलाहाबाद (प्रयाग)
- काठकसंहिता**, **प्रकाशक** : स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय, 1945
- कृष्णन्तो विश्वमार्यम्**, लेखक : डॉ० शरद हेबाळकर, **प्रकाशक** : बाबा साहेब आपटे स्मारक समिति, महाल, नागपुर, प्रथम संस्करण, 2004
- कौटिल्यकालीन भारत**, लेखक : आचार्य दीपंकर, लखनऊ, 1968
- गुप्त-युग**, लेखक : राखालदास वंद्योपाध्याय, **हिंदी अनुवाद** : डॉ० आनन्दकृष्णन, **प्रकाशक** : काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1970
- चरकसंहिता**, **प्रकाशक** : चौखम्बा, विद्या भवन, वाराणसी, 1962
- छांदोग्योपनिषद्**, **प्रकाशक** : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2013
- छांदोग्योपनिषद्**, **प्रकाशक** : निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई 1931
- छांदोग्योपनिषद् का सांस्कृतिक अध्ययन**, लेखिका : उषा अग्रवाल, **प्रकाशक** : इण्डोविजन प्रालि, गाज़ियाबाद, 1995
- जीवन-मूल्य ( 3 भाग )**, लेखक : प्र०ग० सहस्रबुद्धे, **प्रकाशक** : सुरुचि प्रकाशन, झण्डेवालान, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2010
- तैत्तिरीयब्राह्मण**, **प्रकाशक** : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1934-38
- तैत्तिरीयारण्यक**, संपादक : हरिनारायण आपटे, पूना, 1868
- तैत्तिरीयोपनिषद्**, **प्रकाशक** : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1929
- धर्मशास्त्र का इतिहास ( 5 भाग )**, लेखक : महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे, **हिंदी अनुवादक** : अर्जुन चौबे कश्यप, **प्रकाशक** : हिंदी समिति, सूचना विभाग, उ०प्र० लखनऊ, 1965
- धर्मशास्त्रों का समाजदर्शन**, लेखक : जी०आर० अग्रवाल, **प्रकाशक** : आदर्श विद्या निकेतन, वी-1196, अस्सी, वाराणसी-5
- पतञ्जलिकालीन भारत**, लेखक : प्रभुदयाल अग्निहोत्री, **प्रकाशक** : बिहार रातृभाषा परिषद्, पटना, 1963
- पाणिनिकालीन भारतवर्ष**, लेखक : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, **प्रकाशक** : चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1969
- पुण्यसलिला सरस्वती नदी**, लेखक : देवेन्द्र सिंह चौहान, **प्रकाशक** : बाबा साहेब आपटे स्मारक समिति, बंगलौर, 2004
- पुराण-विमर्श**, लेखक : आचार्य बलदेव उपाध्याय, **प्रकाशक** : चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1965
- प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन**, लेखक : लक्ष्मीदत्त ठाकुर, लखनऊ, उत्तरप्रदेश, 1965
- प्राचीन भारत का इतिहास**, लेखक : द्विजेन्द्र नारायण झा, **प्रकाशक** : कृष्ण मोहन श्रीमाली कार्यान्वय-निदेशालय-दिल्ली वि.वि, द्वितीय संस्करण, 1984

**प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास**, लेखक : हेमचन्द्रराय चौधरी, प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद

**प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास**, लेखक : राधाकृष्ण चौधरी, प्रकाशक : भारती भवन पटना-1, सप्तम संस्करण, 1989

**प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास**, लेखक : विमलचन्द्र पाण्डेय, प्रकाशक : सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1958

**प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास**, लेखक : जयशंकर मिश्र, प्रकाशक : बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974

**प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास**, लेखक : ओमप्रकाश, प्रकाशक : विश्व प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 1997

**प्राचीन भारत की शासन-संस्थाएँ एवं राजनीतिक विचार**, लेखक : डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, प्रकाशक : श्री सरस्वती सदन, नयी दिल्ली, छठा संस्करण, 1994

**प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड**, लेखक : हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्रकाशक : चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1964

**प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड-व्यवस्था**, लेखिका : शुक्ला साधना, प्रकाशक : प्रज्ञा प्रकाशन कानपुर

**प्राचीन भारत में गुप्तचर-सेवा**, लेखक : सत्यदेव त्रिपाठी, प्रकाशक : अनुपम प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1985

**प्राचीन भारत में दण्ड एवं मित्र-प्रकृति का आलोचनात्मक अध्ययन**, लेखक : राजेन्द्र कुमार गुप्ता, जबलपुर, 1984

**प्राचीन भारत में नारी**, लेखिका : उर्मिला मिश्र, प्रकाशक : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, द्वितीय संस्करण, 2002

**प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ**, लेखक : डॉ० रामशरण शर्मा, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1992

**प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका**, लेखक : हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1965

**प्राचीन भारत में वर्णाश्रम-व्यवस्था**, लेखक : मनोरमा जौहरी, किशोरचन्द्र जैन, प्रकाशक : भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1964

**प्राचीन भारत में व्यवहार-विधि**, लेखक : श्याम नारायण सिंह, प्रकाशक : स्वाति पब्लिकेशन दिल्ली, 2004

**प्राचीन भारत में संगठित जीवन**, लेखक : डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार, हिंदी-अनुवाद : कृष्णदत्त सागर वाजपेयी, 1966

**प्राचीन भारत में संस्कृति और सभ्यता**, लेखक : दामोदर धर्मानन्द कौसाम्बी, अनुवादक : गुणाकर मुळे, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1993

**प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन**, लेखक : वासुदेव उपाध्याय, प्रकाशक : प्रज्ञा प्रकाशन, पटना, 1970

**प्राचीन भारतीय प्रायश्चित्त-विधान : एक ऐतिहासिक अध्ययन**, लेखक : विमलचन्द्र शुक्ल, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1997

**प्राचीन भारतीय राजतंत्र**, लेखक : शैलेन्द्रनाथ कपूर, प्रकाशक : विश्व प्रकाशन, दिल्ली, 1995

**प्राचीन भारतीय लोकधर्म**, लेखक : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, अहमदाबाद, 1962

**प्राचीन भारतीय विधि-व्यवस्था : मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में**, लेखक : मुरलीधर चतुर्वेदी, लखनऊ, 1995

**प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति**, लेखक : अनन्त सदाशिव अल्टेकर, प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2009

**प्राचीन भारतीय समाज एवं शासन**, लेखक : ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशक : शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1996

**प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर**, लेखक : वासुदेव उपाध्याय, प्रकाशक : बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, द्वितीय संस्करण, 1989

**प्राचीन हिंदू-विधि**, लेखक : अच्छेलाल यादव, प्रकाशक : इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1981

**बीस स्मृतियाँ** (द्वितीय खण्ड), अनुवादक : पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशक : संस्कृति संस्थान, बरेली, तृतीय संस्करण, 1967

**बुद्धकालीन समाज और धर्म**, लेखक : मदनमोहन सिंह, पटना, 1972

**बृहत्तर भारत का इतिहास (आदि से छठे मन्वन्तर तक)**, लेखक : रवीन्द्र पाथ, प्रकाशक : किताब महल एजेंसीज, इलाहाबाद-211 001, प्रथम संस्करण, 2006

**बृहदारण्यकोपनिषद्**, प्रकाशक : गीताप्रेस, गोरखपुर, 1955

**बृहस्पतिस्मृति**, संपादक : के०वी० आयरंगर, प्रकाशक : गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, 1941

**बोधायनधर्मसूत्र**, प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1934

**बौद्ध एवं जैन आगम में नारी-जीवन**, लेखिका : कोमलचंद्र जैन, प्रकाशक : सोहनलाल जैन प्रचारक समिति, अमृतसर, 1967

**बौद्ध-संघ का प्रारम्भिक इतिहास**, लेखक : सीताराम दुबे, प्रकाशक : पूर्वा संस्थान, गोरखपुर, प्रथम संस्करण, 1988

**बौद्ध-संस्कृति की झलक**, लेखक : परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद, 1958

**भारत का आधुनिक इतिहास-लेखन : एक प्रवञ्चना**, लेखक : रघुनन्दन प्रसाद शर्मा, प्रकाशक : बाबा साहेब आपटे स्मारक समिति, आपटे स्मृति भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली

**भारत का इतिहास**, लेखिका : डॉ० रोमिला थापर, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, बारहवाँ संस्करण, 1989

**भारत का बृहत् इतिहास**, खण्ड 1, लेखक : पुरी चौधरी मजूमदार, प्रकाशक : मैकमिलन इण्डिया लि०, मद्रास, द्वितीय संस्करण, 1989

**भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास**, लेखक : पुरी दास चोपड़ा, प्रकाशक : मैकमिलन इण्डिया लि०, प्रथम संस्करण, 1975

**भारतीय अभिलेख-संग्रह** (2 भाग), लेखक : परमेश्वरीलाल गुप्त, प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

**भारतीय दर्शन (2 खण्ड)**, लेखक : डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरी गेट, दिल्ली, 2008

**भारतीय संस्कृति**, लेखक : गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, प्रकाशक : म०प्र० हिंदी ग्रन्थ अकादमी बाणगंगा भोपाल, 1999

**भारतीय संस्कृति और कला**, लेखक : वाचस्पति गैरोला, प्रकाशक : उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान,

लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 1985  
**भारतीय संस्कृति का विश्व-संचार, लेखक :** डॉ० शरद हेबाळकर, **प्रकाशक :** सुरुचि प्रकाशन  
 झण्डेवाला, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006  
**भारतीय संस्कृति : महाकाव्यों के आलोक में, लेखक :** एन०के० देवराज, लखनऊ, 1961  
**भारतीय समाज एवं संस्कृति, लेखक :** रामगोपाल सिंह, **प्रकाशक :** हिंदी ग्रन्थ अकादमी भोपाल,  
 1987  
**भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, लेखक :** रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, दिल्ली, 1972  
**मनु की विधि-संहिता, लेखक :** रामगोपाल चतुर्वेदी, **प्रकाशक :** यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग प्रा०लि०.  
 करनाल रोड, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009  
**मनु की समाज-व्यवस्था, लेखक :** सत्यमित्र दुबे, **प्रकाशक :** किताब महल, इलाहाबाद, 1964  
**मनुशास्त्र, लेखक :** केवल मोटवानी, **प्रकाशक :** गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1958  
**मनुस्मृति ( मेधातिथिभाष्य सहित ), लेखक :** कलकत्ता, 1932- '39  
**मनुस्मृति, अनुवादक :** रामचन्द्र वर्मा शास्त्री, **प्रकाशक :** विद्या विहार, नयी दिल्ली, 1997  
**मनुस्मृति, अनुवादक :** हरगोविन्द शास्त्री, **प्रकाशक :** चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2063  
**मनुस्मृति का समाजशास्त्रीय अध्ययन, लेखक :** रवीन्द्र कुमार गुप्ता, जबलपुर, 1987  
**महर्षि मनु बनाम डॉ० अम्बेडकर, लेखक :** सुरेन्द्र कुमार, **प्रकाशक :** सत्यधर्म प्रकाशन, सत्य सनातन  
 वेद मंदिर आश्रम, डी-12, सेक्टर 8, नयी दिल्ली-85, प्रथम संस्करण, 2007  
**महाभारत ( 6 भाग ), प्रकाशक :** गीताप्रेस, गोरखपुर  
**महाभारत ( 19 भाग ), प्रकाशक :** भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1933-66  
**महाभारतकालीन राजव्यवस्था, लेखक :** रघुवीर शास्त्री, मेरठ, 1971  
**महाभारत में स्त्रियाँ, लेखक :** वनमाला भुवाळकर, **प्रकाशक :** नारी अभिनव साहित्य प्रकाशन, सागर,  
 1964  
**महाभारत-युद्ध : कालनिर्णय-समस्या, लेखक :** राम साठे, **प्रकाशक :** बाबा साहेब आपटे स्मारक  
 समिति, आपटे स्मृति भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110 055  
**मूल्य-मीमांसा, लेखक :** गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, **प्रकाशक :** राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर -4,  
 प्रथम संस्करण, 1973  
**यजुर्वेद, अनुवादक :** श्रीराम शर्मा आचार्य, **प्रकाशक :** संस्कृति संस्थान, बरेली, उ०प्र०  
**याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रकाशक :** निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1949  
**राजर्षि मनु और उनकी मनुस्मृति, लेखक :** सुरेन्द्र कुमार, विजय कुमार गोविंदराम हासानन्द, 4408,  
 नयी सड़क, दिल्ली, 2009  
**वसि धर्मसूत्र, प्रकाशक :** भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1930  
**विचार नवनीत, लेखक :** माधवराव सदाशिवराव गोळवळकर, **प्रकाशक :** ज्ञानांग्ना प्रकाशन, जयपुर  
**विश्व की कालयात्रा, लेखक :** वासुदेव पोद्दार, **प्रकाशक :** बाबा साहेब आपटे स्मारक समिति, आपटे  
 स्मृति भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली, 2000  
**वेदकालीन राज्य-व्यवस्था, लेखक :** श्यामलाल पाण्डेय, **प्रकाशक :** हिंदी समिति, लखनऊ, 1964  
**वैदिक आर्य-समस्या : एक चिन्तन, लेखक :** डॉ० विष्णु श्रीधर वाकणकर, **प्रकाशक :** जागृति  
 प्रकाशन, नोएडा, 1988  
**वैदिक देवता, उद्भव और विकास, लेखक :** गया चरण त्रिपाठी, **प्रकाशक :** भारतीय विद्या प्रकाशन  
 दिल्ली, 1981

**वैदिक संस्कृति, लेखक :** गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, **प्रकाशक :** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001  
**वैदिक संस्कृति और उसका सातत्य, लेखक :** सीताराम दुबे, **प्रकाशक :** प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली,  
 2006  
**वैदिक सरस्वती शोध-अभियान, लेखक :** डॉ० विष्णु श्रीधर वाकणकर, **प्रकाशक :** बाबा साहेब  
 आपटे स्मारक समिति, आपटे स्मृति भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110055, 2009  
**वैदिक साहित्य और संस्कृति, लेखक :** आचार्य बलदेव उपाध्याय, **प्रकाशक :** शारदा संस्थान,  
 वाराणसी, तृतीय सं०, 1963  
**वैदिक साहित्य का इतिहास, लेखक :** गजानन मुसलगाँवकर, **प्रकाशक :** चौखम्बा एवं पं०  
 केशवशास्त्री संस्कृत संस्थान, वाराणसी  
**वैवस्वत मन्वन्तर में मानव-सृति तथा समाज-संरचना, लेखक :** विद्याचन्द ठाकुर, **प्रकाशक :** बाबा  
 साहेब आपटे स्मारक समिति, नयी दिल्ली  
**शुंगकालीन भारत, लेखक :** सच्चिदानन्द त्रिपाठी, **प्रकाशक :** विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,  
 1996  
**शूद्रों का प्राचीन इतिहास, लेखक :** डॉ० रामशरण शर्मा, **अनुवादक :** विजय ठाकुर, दिल्ली, 1979  
**श्रीमद्भगवद्गीता, प्रकाशक :** चौखम्बा संस्कृत सीरीज, गदोलिया चौक, वाराणसी, 1962  
**श्रीमद्भगवद्गीता, प्रकाशक :** गीताप्रेस, गोरखपुर  
**स्मृतिकालीन भारतीय समाज व संस्कृति, लेखक :** राजदेव दुबे, **प्रकाशक :** प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली,  
 1988  
**स्मृतियों में नारी, लेखिका :** भारती आर्य, **प्रकाशक :** ज्ञानपुर, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1989  
**स्मृति-सन्दर्भ, प्रकाशक :** गुरुमण्डल ग्रन्थमाला प्रकाशन, कलकत्ता, 1952  
**सृति का इतिहास, लेखक :** प्रो. दामोदर झा, **प्रकाशक :** बाबा साहेब आपटे स्मारक समिति, आपटे  
 स्मृति भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली, 2009  
**हड़प्पा-सभ्यता और वैदिक साहित्य, लेखक :** भगवान सिंह, **प्रकाशक :** राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी  
 दिल्ली, 1987  
**हिंदू-धर्म की अवधारणा, लेखक :** रणजीत सिंह, इलाहाबाद, 1977  
**हिंदू-राजतंत्र ( 2 खण्ड ), लेखक :** काशी प्रसाद जायसवाल, **प्रकाशक :** काशी नागरी प्रचारिणी सभा,  
 वाराणसी, 1977  
**हिंदू-संस्कार, लेखक :** राजबली पाण्डेय, वाराणसी, 1966

## वर्तमान विधि-ग्रन्थ :

**प्राचीन भारत में न्याय-व्यवस्था, लेखिका :** नताशा अरोरा, **प्रकाशक :** स्वाति पब्लिकेशन्स दिल्ली,  
 1990  
**हिंदू-विधि एवं स्रोत : आलोचनात्मक अध्ययन, लेखक :** वेदप्रकाश उपाध्याय, **प्रकाशक :**  
 इन्टरनेशनल लॉ एजेंसी, इलाहाबाद, 1986  
**भारतीय साझेदारी अधिनियम, संपादक :** आर०के० खन्ना, **प्रकाशक :** सेंट्रल लॉ एजेंसी , इलाहाबाद  
**पर्यावरण विधि, संपादक :** ए०के० दुबे, **प्रकाशक :** सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1973  
**भूराजस्व संहिता, लेखक :** राधेश्याम द्विवेदी, **प्रकाशक :** सुविधा लॉ हाऊस प्रा.लि., भोपाल ग्यारहवाँ  
 संस्करण, 2005



अपराध-शास्त्र एवं दण्ड-प्रशासन, लेखक : ना०वि० परांजपे, प्रकाशक : सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1993

कम्पनी-विधि, लेखक : ना०वि० परांजपे, प्रकाशक : सेंट्रल लॉ एजेंसी, इलाहाबाद, 1973

भारत का संविधान, संपादक : जयनारायण पाण्डेय, प्रकाशक : सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, 1971

पारिवारिक विधि, लेखक : डॉ० बसंतिलाल बावेल, प्रकाशक : दि लॉयर्स होम, 19 सिख मोहल्ला, पुराने हाईकोर्ट के पास, इन्दौर, 1991

संविदा विधि, संपादक : डॉ० बसंतिलाल बावेल, प्रकाशक : सेंट्रल लॉ एजेंसी, इलाहाबाद, सातवां संस्करण, 2003

दण्ड-प्रक्रिया संहिता, 1973, संपादक : डॉ० बसंतिलाल बावेल, प्रकाशक : सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1977

भारतीय दण्ड संहिता, संपादक : धीरजलाल एवं रतनलाल, प्रकाशक : वाधवा एण्ड कं०, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1896, हिंदी-संस्करण, 1998

भारतीय सामाजिक समस्याएँ, लेखक : चन्द्रकुमार एस० राय, प्रकाशक : अर्जुन पब्लिसिंग हाऊस, दिल्ली, 2004

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1907, लेखक : प्रेमचन्द्र विश्वकर्मा, प्रकाशक : सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण

विधिशास्त्र एवं विधि-सिद्धान्त, लेखक : विजयनारायण मणि त्रिपाठी, प्रकाशक : सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, सप्तम संस्करण, 1996

भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास, लेखक : जी०पी० त्रिपाठी, प्रकाशक : सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1971

### अप्रकाशित लघु शोध-प्रबन्ध :

डॉ० भीमराव अम्बेडकर का सांस्कृतिक चिन्तन, शोधकर्ता : मनीन्द्र रघुवंशी, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, उज्जैन, 1996

धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधों का सामाजार्थिक विश्लेषण : मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के विशेष सन्दर्भ में, शोधकर्त्री : अनिता स्वर्णकार, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, उज्जैन, 2002

मनुस्मृति में वर्णित अपराध व दण्ड-विधान, शोधकर्ता : हर्षवर्धन सिंह तोमर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, उज्जैन, 2007

### समसामायिक समाचार पत्र व पत्रिकाएँ :

आउटलुक

इतिहास दर्पण

इंडिया टुडे

उच्चतम न्यायालय/उच्च न्यायालय के वार्षिक प्रतिवेदन

दैनिक जागरण, नयी दुनिया, राजस्थान पत्रिका, स्वदेश, जनसत्ता

चौमासा (शोध-पत्रिका) आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, भोपाल

### अंग्रेजी आधार-ग्रन्थ :

*Agni Purana*, edited by Rajendra Lal Mitra, Published by Bibliothica Indica, Calcutta, 1873-79

*Aitareya Brahmana*, Edited by R. Anantkrishna Shastri, Published by University of Travancore Sanskrit Series, Trivandram, 1942

*Apastamba Dharmasutra, Commentary of Sudarshanacharya*, Published by Government Sanskrit Library Series, Mysore

*Chanakya's Arthashastra Or Science of Politics*, Translated by Rudrapatnam Shamasastri, Published by Oriental Library, Mysore, 1908

*Dawn and devolution of the Indus civilization*, by Dr. S.R. Rao, Published by Aditya Prakashan, 1991

*Dharma in Hindu Ethics*, by A.B. Kiethe, Calcutta, 1971

*Evolution of the Smriti Law*, by Dr. Shivaji Singh, Published by Bharatiya Vidya Bhawan Prakashan, Varanasi, 1972

*History of the Shung Dynasty*, by Vinod Chandra Sinha, Published by Bharatiya Pub. House, Varanasi, 1977

*India as described by Manu*, by Dr. Vasudev Sharan Agrawal, Varanasi, 1970

*India of Dharmasutras*, by Veda Mitra, Published by Arya Book Depot, Delhi, 1965

*Kalidasa's Kumarasambhavam : cantos I-VII*, Translated by S.R. Seghal, Published by Navyug Publications, Delhi, 1966.

*Kaushitaki Grihyasutra*, Edited by T.R. Chintamani, Madras, 1944

*Manu and Yājñavalkya: a comparison and a contrast : a treatise on the basic Hindu law*, by Dr. Kashi Prasad Jaiswal, Published by Butterworth, Calcutta, 1930

*Manutikasamgrah Being a Series of copious Extracts from six unpublished commentaries of the code of Manu—* edited by Julius Jolly, Published by Asiatic Society, Calcutta, 1986

*Narada Smriti*, Translated by Dr. Jolly, Published by Asiatic Society, Calcutta, 1989

*Shatapatha Brahmana*, Edited by Albrecht Weber, Published by Chaukhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964

*The Aryan Problems*, by Dr. S.R. Rao, Published by Bharatiya Itihas Sankalan Samiti, Pune, 1993

*The classical Account of India*, by Dr. Ramesh Chandra Majumdar, Published by Firma K.L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1960

*The S'rauta sūtra of Ās'valāyana, with the commentary of Gārgya Nārāyana*; edited by Rāmanārāyana Vidyāratna, Published by Baptist mission and Vālmiki presses, Calcutta, 1874)

*The Sacred Books of the East*, 50 Vols., Published by Oxford University Press, 1879-1910

*The Vedic Mythology*, by Arthur Anthony Macdonell, Published by Motilal Banarsidass Publ., 1898

*Vatsyayana's Kama Sutra*, Published by Asia Press, R & K Publishing House, New Delhi, 1967

